सर्वोदय ग्रन्थमाला—संख्या १

सर्वोदय अर्थशास्त्र

[सर्वोदय दृष्टि से अर्थशास्त्र की रूपरेखा]

लेखक
'समाज रचना, सर्वोदय दृष्टि से', 'मानव संस्कृति'
'राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' आदि के रचयिता
भगवानदास केला

भूमिका-लेखक
श्री श्रीकृष्णदास जाजू

भारतीय ग्रन्थमाला
६० हीवेट रोड, इलाहाबाद

दूसरा संस्करण] सन् १९५६ ई० [मूल्य, चार रुपये

प्रकाशक—
व्यवस्थापक,
भारतीय ग्रन्थमाला
६० हीवेट रोड, इलाहाबाद—२

मुद्रक—
मैनेजर,
देश सेवा प्रेस
५४ हीवेट रोड, इलाहाबाद—३

निवेदन

सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी उच्चतम धार्मिक स्तर के विरुद्ध नहीं होता, बिलकुल उसी प्रकार जैसे सच्चा धर्मशास्त्र, सही अर्थों में, साथ ही साथ उत्तम अर्थशास्त्र भी होना चाहिए।

—गांधीजी

यह पुस्तक मेरे साहित्यिक जीवन में एक खास मोड़ को, एक नयी दिशा को सूचित करती है। इसके सम्बन्ध में कुछ पहले-पीछे की बातों का उल्लेख करना आवश्यक है।

चालीस वर्ष पहले की बात—हिन्दी में भारतीय अर्थशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव करके, मैंने सन् १९१७ में इस नाम और विषय की पुस्तक लिखना आरम्भ किया था, वह पुस्तक सन् १९२२ में जाकर पूरी हुई। मैंने अपने विद्यार्थी जीवन में जैसा पूंजीवादी अर्थशास्त्र पढ़ा था, उसी की रूप-रेखा के आधार पर मेरी पुस्तक तैयार हुई। यद्यपि गांधीजी उस समय अपने हृदय-स्पर्शी भाषणों और लेखों से अर्थशास्त्र को नयी दिशा दे रहे थे, मैं अपने पुराने संस्कारों के कारण उस ओर यथेष्ट ध्यान न दे पाया। उसके कुछ वर्ष बाद श्रद्धेय श्री श्रीकृष्णदास जाजू ने—जिनका स्नेह और आत्मीयता मुझे सन् १९१३ से प्राप्त थी—मेरी कुछ पुस्तकों की पहुँच स्वीकार करते हुए मुझे वर्धा आकर गांधी विचारधारा अध्ययन करने को लिखा; पर मैं आपके सुझाव को अमल में न ला सका, यों मैं अपनी पुस्तक के नये संस्करणों में स्थान-स्थान पर नैतिक बातों का समावेश अधिकाधिक करता रहा।

मेरे 'अन्तिम' विचार; सच्चा अर्थशास्त्र—होते-होते सन् १९४४ आगया। मैं सख्त बीमार पड़ा और अपने आपको मृत्यु की गोद में जाने वाला समझने लगा। मुझे अपने उत्तराधिकारीयों से कुछ जरूरी बातें कह देने की बेचैनी हुई और मैंने पूरी शक्ति लगाकर जल्दी ही 'भावी नागरिकों से' अपनी अन्तिम

निवेदन

सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी उच्चतम धार्मिक स्तर के विरुद्ध नहीं होता, बिलकुल उसी प्रकार जैसे सच्चा धर्मशास्त्र, सही अर्थों में, साथ ही साथ उत्तम अर्थशास्त्र भी होना चाहिए।

—गांधीजी

यह पुस्तक मेरे साहित्यिक जीवन में एक खास मोड़ को, एक नयी दिशा को सूचित करती है। इसके सम्बन्ध में कुछ पहले-पीछे की बातों का उल्लेख करना आवश्यक है।

चालीस वर्ष पहले की बात—हिन्दी में भारतीय अर्थशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव करके, मैंने सन् १९१७ में इस नाम और विषय की पुस्तक लिखना आरम्भ किया था, वह पुस्तक सन् १९२२ में जाकर पूरी हुई। मैंने अपने विद्यार्थी जीवन में जैसा पूंजीवादी अर्थशास्त्र पढ़ा था, उसी की रूप-रेखा के आधार पर मेरी पुस्तक तैयार हुई। यद्यपि गांधीजी उस समय अपने हृदय-स्पर्शी भाषणों और लेखों से अर्थशास्त्र को नयी दिशा दे रहे थे, मैं अपने पुराने संस्कारों के कारण उस ओर यथेष्ट ध्यान न दे पाया। उसके कुछ वर्ष बाद श्रद्धेय श्री श्रीकृष्णदास जाजू ने—जिनका स्नेह और आत्मीयता मुझे सन् १९१३ से प्राप्त थी—मेरी कुछ पुस्तकों की पहुँच स्वीकार करते हुए मुझे वर्धा आकर गांधी विचारधारा अध्ययन करने को लिखा; पर मैं आपके सुझाव को अमल में न ला सका, यों मैं अपनी पुस्तक के नये संस्करणों में स्थान-स्थान पर नैतिक बातों का समावेश अधिकाधिक करता रहा।

मेरे 'अन्तिम' विचार; सच्चा अर्थशास्त्र—होते-होते सन् १९४४ आगया। मैं सख्त बीमार पड़ा और अपने आपको मृत्यु की गोद में जाने वाला समझने लगा। मुझे अपने उत्तराधिकारीयों से कुछ जरूरी बातें कह देने की बेचैनी हुई और मैंने पूरी शक्ति लगाकर जल्दी ही 'भावी नागरिकों से' अपनी अन्तिम

पुस्तक लिख डाली। उसमें अर्थशास्त्री बनने वाले से मैंने कहा—'...अर्थशास्त्र के नाम से जो कुछ आज दिन पढ़ा-पढ़ाया जाता है, वह तो स्वार्थ-शास्त्र है। नहीं नहीं, उसे शास्त्र का नाम देना ही भूल है। उससे सच्चे स्वार्थ का ज्ञान नहीं होता। हमारा सच्चा स्वार्थ समाज के स्वार्थ में ही है, उससे पृथक् नहीं। आह ! संसार में सच्चे अर्थशास्त्र की रचना और प्रचार कब होगा ! अर्थशास्त्री जी ! क्या तुम इस पवित्र कार्य में कुछ योग दोगे ?'

दिशा-परिवर्तन—उस समय मुझे अपना जीवन समाप्त होता हुआ प्रतीत हो रहा था। मैं यह कल्पना नहीं कर सकता था कि इस पवित्र कार्य में मुझे भी कुछ योग देने का सौभाग्य प्राप्त होगा। पर ईश्वर की लीला कौन जानता है ! मेरा जीवन चलता रहा, यद्यपि मैं अस्वस्थ रहा। मेरी लेखनी भी चलती रही। एक वर्ष, दो वर्ष, धीरे-धीरे छह वर्ष हो गये। सन् १६५० में श्री जाजू जी ने अपनी 'अ० भा० चरखा-संघ का इतिहास' पुस्तक मेरे पास भेजी। उसे देखते हुए मेरी नजर गांधीजी के एक वाक्य पर गड़ गयी, वह था—'जो अर्थशास्त्र व्यक्ति की या राष्ट्र की नैतिक भलाई पर आघात करता है, वह अनैतिक अतः पापमय है।' इसे पढ़ना था कि मन में हलचल मच गयी; सोचने लगा, अब तक अर्थशास्त्र पर जो कुछ लिखा वह 'अनैतिक अतः पापमय' रहा। अब कम-से-कम; प्रायश्चित रूप ही सही, नयी रचना होनी चाहिए। मैंने एक लेख 'यह कैसा अर्थशास्त्र !' लिखा, जो बहुत से पत्रों में छपा, उस पर सम्पादकों, लेखकों और शिक्षकों का मत मँगाया। मैं चाहता था कि अर्थशास्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन हो, और कोई अन्य लेखक नैतिक और मानवीय विचारधारा के अनुसार नये अर्थशास्त्र की रचना करे। पर बड़ी-बड़ी तनख्वाहें पाने वाले या टेक्स्टबुकों और 'सरस' साहित्य से खूब कमाई करने वाले इस घाटे के काम को कैसे स्वीकार करते ! आखिर मुझे ही इसका बीड़ा उठाना पड़ा।

सर्वोदय अर्थशास्त्र, पहला संस्करण—जनवरी-फरवरी १६५१ में मैं स्वास्थ्य-सुधार के लिए पिलानी रहा, वहाँ इस विषय का साहित्य देखा। बंधुवर श्री नरहरि परीख की 'मानव अर्थशास्त्र' (गुजराती) पुस्तक देखते हुए बारबार मन में यह विचार आया कि यह सन् १६४५ का प्रकाशन है, और हम

हिन्दी वाले अब तक भी ऐसी रचना न कर पाये। मार्च १६५१ में मैं 'लोकवाणी'-सम्पादक श्री जवाहिरलाल जैन की सहायता लेने के लिए जयपुर गया। वहाँ स्वास्थ्य और इलाज के लिए मैं नौ महीने गांधीनगर प्राकृतिक चिकित्सालय में रहा। भाई जैन जी समय-समय पर मुझे उपयोगी परामर्श देते रहे और अवकाश निकाल कर लिखते भी रहे। अप्रेल में सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर मैं आपके साथ हैदराबाद गया। इस यात्रा में सर्वश्री श्रीकृष्णदास जाजू, किशोरलाल मश्रूवाला, हरिभाऊ उपाध्याय, श्री मन्नारायण अग्रवाल, आदि महानुभावों से इस पुस्तक के विषय के सम्बन्ध में विचार हुआ। नवम्बर में लिखने का काम बहुत-कुछ पूरा किया गया।

जाजू जी गाँधी जयन्ती के अवसर पर जयपुर पधारे तो मैंने आपके साथ दो दिन के लिए सीकर जाकर और वहाँ पुस्तक दिखा कर आपके विचारों से लाभ उठाया। पीछे आपने इसकी भूमिका लिखने का अनुग्रह किया। दिसम्बर में मेरे प्रयाग आने पर मित्रवर श्री प्रोफेसर दयाशंकर दुबे ने इस पुस्तक में कई सुझाव देने की कृपा की। मान्यवर पंडित सुन्दरलाल जी की कृपा से यह पुस्तक 'नया हिन्द' प्रेस में श्री सुरेश राम भाई की देख रेख में छपने की व्यवस्था हुई। भाई सुरेश जी सर्वोदय विचार धारा वाले हैं। आपने इसी दृष्टि से सारी पुस्तक देखी, आपके विचार-पूर्ण परामर्श से मैं बहुत कृतार्थ हुआ। आपने मेरे निवेदन पर इस पुस्तक के लिए 'सर्वोदय अर्थशास्त्र की पुकार' लिखने की कृपा की। निदान, मुझे इस पुस्तक में कई मित्रों सेसहायता मिली।

श्री जैन और मेरी विचार-धारा एकसी होते हुए भी भाषा और शैली आदि के अन्तर के कारण, भाई जैन जी की पुस्तक 'सर्वोदय अर्थव्यवस्था' अलग उनके नाम से छपी। इन दो पुस्तकों से सर्वोदय ग्रन्थमाला का श्री गणेश हुआ।

दूसरे संस्करण के सम्बन्ध में—ईश्वर का अनुग्रह है कि मेरे अस्वस्थ रहते हुए भी, सर्वोदय-ग्रन्थमाला में मेरी बारह पुस्तकें हो गयीं। इस पुस्तक के इस संस्करण में आवश्यक सुधार किया गया है। सम्पत्ति सम्बन्धी स्वामित्व विसर्जन की बात स्पष्ट की गयी है, शरीर-श्रम और बौद्धिक कार्य, लगान तथा सूद और मजदूरी में सामाजिक न्याय की दृष्टि रखने, और मुनाफे की जगह

मेहनताना स्वीकार किये जाने, और ग्रामोद्योग और यंत्रोद्योग के विषय में अधिक विचार किया गया है।

अँग्रेजी और हिन्दी के अतिरिक्त, इस देश की प्रान्तीय भाषाओं का भी सर्वोदय साहित्य देखने की मेरी इच्छा रही है। पहले गुजराती का एक विचार-पूर्ण ग्रन्थ अवलोकन करने की बात ऊपर कही गयी है। अब श्री अप्पा पटवर्द्धन की व्याज पट्ट्याचा निषेध (मराठी) का आनन्द लिया।

मुझे इस रचना के लिए प्रेरणा देने वाले श्री श्रीकृष्णदास जाजू अब इस संसार में नहीं रहे। उनकी लिखी भूमिका पूर्ववत दी जा रही है। श्री सुरेश राम-भाई ने अपनी 'सर्वोदय अर्थशास्त्र की पुकार' फिर से लिखने की कृपा की है।

सर्वोदय विचार से विलक्षण आनन्द—साहित्य कार्य ने मुझे सदा ही आनन्द प्रदान किया है। सर्वोदय विचार से मेरे गिरते हुए स्वास्थ्य को संभलने में भी बहुत मदद मिली है। समय-समय पर बड़े मधुर अनुभव हुए हैं। इस पुस्तक के इस संस्करण के समय का भी एक प्रसंग है। ३१ जुलाई के बड़े सबेरे जगने से पहले देखता हूँ, बड़े रमणीक वातावरण में एक विराट सभा हो रही है। गाँधीजी का प्रवचन है। जनता मंत्र-मुग्ध होकर एक-एक शब्द बड़े ध्यान से सुन रही है। प्रवचन का अन्तिम वाक्य था—'जिस राम-राज्य की बात मैंने कही है, वह सतत शिक्षा से प्राप्त होगा।' इसके बाद मेरा नम्बर था। मैंने कहना आरम्भ किया—'इस विषय की गहराई की बातें तो महात्माजी जैसे महानुभाव ही बता सकते हैं, जिन्हें इसका जीवन भर का अनुभव है। मैं तो कुछ मोटी-मोटी बातों की ही ओर आपका ध्यान दिला सकता हूँ, जहाँ तक कि मैं उन्हें समझ पाया हूँ।' आँखें खुल ने पर उस मनोहर दृश्य की बार-बार याद आती रही।

पाठकों से—वास्तव में ज्यों-ज्यों हमारा सर्वोदयी समाज की रचना का अनुभव बढ़ेगा, इस विषय का शास्त्र अधिक अच्छे और सही रूप में उपस्थित किया जा सकेगा। इसकी व्योरेवार बातें तय करने, और इसकी रूप-रेखा सुधारने का दायित्व हमारे उत्तराधिकारियों, हमारे पाठकों पर है। आशा है, वे इस विचारधारा का यथेष्ठ चिन्तन और मनन करेंगे।

१० सितम्बर १९५६ **भगवानदास केला**

भूमिका

शास्त्र का काम आम तौर से यह समझा जाता है कि वस्तुस्थिति का परीक्षण कर उसकी विविध घटनाओं के सर्वसाधारण नियम बताये जाएँ, अर्थात् जो कुछ है, उसको नियम-बद्ध किया जाए। क्या होना चाहिए, इस विषय का शास्त्र अलग माना जाता है। प्रश्न यह है कि क्या अर्थ के जो प्राकृतिक व्यवहार सामान्य मनुष्य के द्वारा चल रहे हैं, उन्हीं का विवेचन करने वाला अर्थशास्त्र हमारे लिए काफी है ? यह बात सही है कि मनुष्य के जिन्दा रहने के लिए कई वस्तुओं की जरूरत है, एवं अर्थ से उसका अनिवार्य सम्बन्ध है। उसकी इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रेरणा भी उनके विषयों की ओर है, उनको प्राप्त करने के लिए अर्थ की आवश्यकता है। तथापि क्या इन इन्द्रियों को बे-लगाम छूट देकर, उनकी मांग के अनुसार चीजें मिलाने के प्रयास में ही व्यस्त रहने में मनुष्य का सच्चा कल्याण है ? इन्द्रियों के साथ मनुष्य में बुद्धि और विवेक भी है, जिनके द्वारा वह भविष्य का विचार कर अपने शाश्वत हित की दृष्टि से उनका संयम कर सकता है। यह विषय, मनुष्य का अर्थ से सम्बन्ध क्या हो—इस क्षेत्र में आता है। मुख्य प्रश्न यह है कि मनुष्य अर्थ के लिए है, या अर्थ मनुष्य के लिए।

सब स्वीकार करेंगे कि अर्थ मनुष्य के लिए है। पर जब हम अर्थ का मनुष्य से क्या सम्बन्ध होना चाहिए, इस प्रश्न को अर्थशास्त्र से अलग कर देते हैं तो फिर अर्थ प्रधान रह जाता है, न कि मनुष्य। कई अर्थशास्त्री, क्या होना चाहिए—यह प्रश्न नीतिशास्त्र का मान कर उसे अर्थशास्त्र से अलग रखते हैं; इस कारण पाश्चात्य अर्थशास्त्र प्रायः अर्थ की महिमा में ही उलझा रहा दीखता है। अगर सामान्य प्रकृत मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को देखकर ही अर्थ का विचार करना हो तो उसकी दिशा बहुत करके वही रहेगी, जो पाश्चात्य अर्थशास्त्र ने हमारे सामने रखी है। पर मानव जाति के हित की दृष्टि से अर्थ की अपेक्षा मानवता को प्रधान स्थान मिलना चाहिए। अर्थ

पर जोर देने के कारण पाश्चात्य अर्थशास्त्र मानवता की दृष्टि से एक प्रकार से अनर्थशास्त्र बन गया।

मनुष्य सुख चाहता है, अर्थ का प्रयोजन भी सुख ही होना चाहिए। पाश्चात्य अर्थशास्त्र की किताबों में मनुष्य का सच्चा सुख किस बात में है, इसका विशेष विवेचन किया हुआ दीखता नहीं। कहीं कुछ थोड़ा सा हो तो उसे, नीतिशास्त्र का या आदर्शशास्त्र का मान कर, अर्थशास्त्र का अंग नहीं बनाया गया। इसके परिणाम-स्वरूप उसमें अर्थ का प्रयोजन भोग-लालसा की तृप्ति ही रहा है। कहीं-कहीं पाश्चात्य सभ्यता की व्याख्या ही यह की गयी है—'मनुष्य की आवश्यकताओं को बढ़ाना और उनकी पूर्ति करना, क्या इस पद्धति से मनुष्य को सच्चा सुख मिल सकता है ? शरीर और मन स्वस्थ रखने के लिए जिन चीजों की आवश्यकता है, उनके बारे में कोई विवाद नहीं। पर इससे आगे बढ़कर जब मन के रंजन के लिए या नाना प्रकार के भोगों के लिए प्रयास करने में ही हित माना जाये तो गहराई में जाकर इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि क्या नाना भाँति के ऐश आराम की चीजें मनुष्य का सच्चा सुख बढ़ाने में समर्थ हैं। इस विषय में प्राकृत मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के भरोसे कैसे रह सकते हैं ? विवेकशील जीवन ही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। जगत के ऋषि-मुनियों ने नाना प्रकार के प्रयोग कर अपने अनुभव के बल पर यह सार निकाला है कि—

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभिवर्तते॥

(वासना विषयों के उपभोग से शान्त नहीं होती, उलटे आहुति डाली हुई अग्नि की तरह बढ़ती जाती है।)

क्या यह अनुभव गलत है ? अगर सही है, जैसे कि हर एक को कबूल करना पड़ेगा, तो मानना होगा कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र गलत नींव पर खड़ा है। मनुष्य के कल्याण की दृष्टि से उसकी रचना उक्त अनुभव के आधार पर होनी चाहिए।

प्रचलित अर्थशास्त्र की किताबों में जो विचार पाये जाते हैं, वे प्रायः पाश्चात्य राष्ट्रों की आर्थिक व्यवस्था को लेकर हैं। यंत्र-युग शुरू होने पर वहाँ

जो केन्द्रित और जो पूंजीगत आर्थिक व्यवस्था निर्माण हुई, उसी पर वे आधारित हैं। समय के साथ कुछ परिवर्तन जरूर हुआ, पर मूल ढांचा जैसा का तैसा बना रहा। इसमें प्रधानता है बड़े-बड़े केन्द्रित उद्योगों की, जिनसे बनी हुई चीजें जगत् के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचती हैं। इतना ही नहीं। वरन् जहाँ आवश्यकता नहीं है, वहां भी नाना युक्ति-प्रयुक्तियों से लाद दी जाती हैं, और उनके लिए कच्चा माल जगत् भर से बटोर कर और कई देशों को अपने अधीन कर प्राप्त करने की आवश्यकता खड़ी होती है। बड़े-बड़े वर्ग-भेद खड़े होकर संघर्ष के कारण बनते हैं; स्पर्द्धा तो उसका प्राण ही है, जिसमें छोटे पीसे जाते हैं, और गरीबों का शोषण होता है। कुछ थोड़े व्यक्तियों के हाथ में विराट स्वरूप के कारोबार आकर, भले ही कानूनन न हो, व्यवहार में एकाधिकार आ जाता है। वे अपनी संगठित शक्ति से जगत् में मनचाही उथल-पुथल कर सकते हैं। सब देशों में प्रजातंत्र की दुहाई दी जाती है; पर जहाँ आर्थिक व्यवस्था जनतांत्रिक न रहते हुए केन्द्रित रहती है और उसे कानून से संरक्षण मिलता है तो प्रजातंत्र वास्तव में एक दिखावा रह जाता है। आज के पेचीदे समाज में राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं का बहुत प्रभाव है। अगर उनका ठीक मेल न हो तो समाज का सच्चा हित कैसे सध सकता है! इस व्यवस्था में अमीरों का ही बोलबाला रहता है। गरीबों को उनकी मर्जी पर अवलम्बित रहना पड़ता है न कि अपने मानवोचित हक के आधार पर। इस पूंजीवाद की आंच कुछ मंद करने के लिए अब राज्य का कारोबार 'वेलफेयर स्टेट' के नाम से चलने लगा है, समाजवाद भी आ खड़ा हुआ है, और विरोध में हिन्सात्मक साम्यवाद तो है ही।

समाज में सुख-शान्ति रहने के लिए अर्थशास्त्र पैसे की जगह मानवता पर आधाररित होना चाहिए। व्यक्ति का अपना निज मानवोचित स्वतंत्र स्थान होना चाहिए; सबल हो या निर्बल, सबको स्वाभिमान-पूर्वक रहने का मौका मिलना चाहिए, सब प्रकार की कृत्रिम विषमताएँ मिट कर व्यवहार में यथा-सम्भव समता आना चाहिए और स्पर्द्धा के बदले सहकार। मनुष्य को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के बारे में स्वावलम्बी रहे बिना सच्ची स्वतंत्रता सम्भव नहीं; इस लिए ऐसी चीजों का उत्पादन विकेन्द्रित होना चाहिए। राजसत्ता भी यथा-

सम्भव विकेन्द्रित हो। अपनी आवश्तकताएँ बढ़ाने की अपेक्षा, मन और शरीर को स्वस्थ रखते हुए, कम से कम चीजों से काम चलाना चाहिए।

अगर अर्थशास्त्र के नियम वास्तविक घटनाओं के आधार पर बताना है तो प्रत्यक्ष में तो ऊपर लिखे मुताबिक सर्वोदय समाज का ऐसा कोई चित्र नहीं है, जिसका परीक्षण कर निश्चित रूप से उसके नियम बनाये जा सकें। तथापि सर्वोदय व्यवस्था जगत के कल्याण-रुप होने के कारण उसकी आर्थिक व्यवस्था क्या होनी चाहिए, इसका विचार करना आवश्यक हो गया है। उसमें सामान्य मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के बदले मनुष्य के श्रेष्ठ अंश अर्थात् मानवता का विचार करना होगा। यहाँ नीति-शास्त्र का सम्बन्ध आ जाता है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि अर्थशास्त्र में नीतिशास्त्र लाने की जरूरत नहीं; क्योंकि वह अर्थ काम का ही नहीं, जिसमें नीति न हो। मनुष्य के हृदय के टुकड़े नहीं हो सकते; अगर वह धनोपार्जन में नीति को महत्व नहीं देता है तो उसका असर उसके सारे जीवन पर पड़े बिना नहीं रह सकता। कहीं-कहीं ऐसी आवाज सुनायी देती है कि अगर सार्वजनिक जीवनमें मनुष्य शुद्ध हो तो उसके व्यक्तिगत जीवन की ओर देखने की हमें क्या जरूरत; और जगह शुद्धता रखनी चाहिए पर राजनीति में यह बात चल नहीं सकती और उसकी जरूरत भी नहीं। ऐसी विचारधारा और अर्थ का नीति से सम्बन्ध टूटना दिनोंदिन अनीति बढ़ने का कारण बन रहा है।

सर्वोदय की दृष्टि से जो विचार खड़े होते हैं, उनमें से अर्थशास्त्र सम्बन्धी कुछ विचार ऊपर लिखे गये हैं। सर्वोदय का सम्पूर्ण अर्थशास्त्र लिख डालना आसान नहीं है। कहीं वैसे समाज का व्यापक पैमाने का नमूना हो और उसका कुछ समय तक परीक्षण हो तब कहीं उस शास्त्र के नियम और वे भी अंशतः ही हाथ आ सकते हैं। सर्वोदय समाज का रूप क्या हो, इस विषय में अब तक कुछ फुटकर विचार अवश्य किया गया है। पर उसका समग्र चित्र नहीं खींचा जा सकता। आज की दशा में इतना ही विवेचन किया जा सकता है कि अर्थ-शास्त्र के प्रचलित विचारों में सर्वोदय की दृष्टि से क्या फर्क होना चाहिए। इस किताब में यह किया गया है। प्रचलित अर्थशास्त्र के प्रधान अंगों को लेकर उनमें क्या फर्क होना चाहिए, इसकी चर्चा की गयी है। जिस सामाजिक

और आर्थिक व्यवस्था को लक्ष्य में रखकर प्रचलित अर्थशास्त्र के नियम लिखे गये हैं, उससे सर्वोदयी रचना बिलकुल भिन्न होने के कारण मामूली किताबों के विषय सारे के सारे, या कुछ अंश में कहां तक उपयुक्त हो सकते हैं, यह वैसे समाज के प्रत्यक्ष अनुभव से ही तय किया जा सकेगा। इस प्रकार शायद इस पुस्तक के विषय-विवेचन में आमूल परिवर्तन करना पड़े, तथापि इस में कोई शंका नहीं कि यह पुस्तक सर्वोदयी अर्थ-रचना जानने की इच्छा रखने वालों के बहुत काम की होगी।

विद्यार्थियों के सामने पुराने विचारों की ही किताबें आती हैं; और उन्हें अपनी परीक्षाओं के लिए उन्हीं का अध्ययन करना पड़ता है। अब उनके कानों में 'सर्वोदय' शब्द पड़ने लगा है। पर उनके सामने ऐसी सामग्री नहीं के समान है, जिससे यह स्पष्ट हो कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसका व्यवस्थित रूप कैसा हो। इस दशा में विद्यार्थियों के लिए यह किताब विशेष उपयोगी साबित होगी। समाज के सुन्दर नव-निर्माण का उत्तरदायित्व बहुत-कुछ अध्यापकों पर है; उन्हें सर्वोदय अर्थशास्त्र की विचारधारा से परिचित होना जरूरी है। आशा है वे भी इस पुस्तक से यथेष्ट लाभ उठावेंगे।

सेवाग्राम
६-२-१९५२

श्रीकृष्णदास जाजू

सर्वोदय अर्थशास्त्र की पुकार

हर एक का अनुभव है कि बाजार में चीज़ों के दाम गिरते-चढ़ते रहते हैं। खासकर जो चीजें बुनियादी जरूरत की हैं जैसे अनाज, कपड़ा वग़ैरह, उनमें यह उतार-चढ़ाव बहुत होता है, जिससे मामूली गिरस्थी आदमी को हैरत होती है कि आखिर माजरा क्या है कि एक वक्त में एक चीज के तो दाम कम हो जाते हैं पर दूसरी के वैसे ही बने रहते हैं। फिर, यह समझ में नहीं आता कि अगर किसी वक्त यह उतार-चढ़ाव आता है, तो क्यों आता है।

दूसरा अनुभव यह है कि खेत में जो किसान चोटी का पसीना एड़ी तक बहाता है, उसे तो खाने को ठीक से नहीं नसीब होता, लेकिन उसकी मेहनत के पैदा किये हुए अनाज का लेन-देन करने वाला शहर वाला जो आढ़तिया है वह गद्दी पर बैठा ठाठ करता है और दुनिया के सारे सुख उसे हासिल हैं। कारखाने में जो मजदूर दिन भर खड़े रह कर मशीनों को चलाता है, उसे गंदी और तंग कोठरी में रहना पड़ता है। लेकिन उसकी मेहनत से तैयार होने वाले माल का लेन-देन करने वाला व्यापारी महलों में रहता है और देश-विदेश में आनन्द विहार करता है। रात-दिन, तीसों दिन, बारामास मैला साफ करके अपना खून पसीना एक कर देने वाला तो भंगी कहलाता है और समाज में सबसे गिरी निगाह से देखा जाता है। लेकिन जिसे सुई में धागा डालने बराबर भी परिश्रम नहीं करना पड़ता, वह प्रोफेसर या मिनिस्टर माननीय कहलाता है और समाज में ज्यादा से ज्यादा तलब पाता है। होना तो यह चाहिए था कि अपने हाड़ मांस गलाने वाले किसान, मजदूर और सफैया आराम की जिंदगी बसर करते, लेकिन इसका उलटा ही दीख रहा है।

ताज्जुब इस बात का है कि विज्ञान के ज़माने में यह सब हो रहा है। दोष चाहे विज्ञान का हो या समाज का, या दोनों का, इससे कोई इन्कार नहीं करेगा कि आज जितनी विषमता और असमानता मिलती है, उतनी पहले कभी नहीं थी। और, जिसे अर्थशास्त्र कहा जाता है, वह इसे रोक पाना तो दूर, इसे

बढ़ाने में ही अपनी ताकत लगा रहा है। इसलिए इसे अर्थशास्त्र की बजाय स्वार्थशास्त्र कहना ठीक होगा। पर स्वार्थ भी चंद लोगों का सधता है, और सधने पर भी उन्हें कोई संतोष हासिल नहीं होता—जितना सधे उतना ही थोड़ा। इसकी वजह यही है कि यह अर्थशास्त्र बहुत प्रतिक्रियाशील और शोषण-प्रधान आधारों पर खड़ा है, जिनमें मुख्य यह हैं।—

(१) सम्पत्ति या उत्पादन के साधनों पर निजी मालकियत।

(२) मानसिक श्रम और शरीर श्रम के पारिश्रमिकों में जमीन आसमान का भेद।

(३) लेन-देन के माध्यम के रूप में पैसे की स्थापना और पैसे का नित्य मूल्य बदलना।

(४) पैसे की ही पूँजी या लक्ष्मी के समान प्रतिष्ठा।

यदि इन मान्यताओं पर शास्त्र चलेगा, समाज इन पर लट्टू होगा, तो उसका नतीजा लाज़मी तौर पर वह होगा जो आज हम देख रहे हैं। इन मान्यताओं को अँग्रेजों ने और भी प्रतिष्ठा दी। यहाँ तक कि धरती जैसे उपज के बुनियादी साधन का भी मोल पैसे में होने लगा। यह वैसा ही हुआ, जैसे कोई कहे कि एक घंटे में पैंतीस फुट होते हैं। कहाँ घंटा और कहाँ फुट। एक है समय का माप, दूसरा है दूरी का। तब दोनों में मेल कैसे हो! इसी तरह कहाँ यह अनाज और फल-फूल पैदा करने वाली धरती और कहाँ नासिक प्रेस में छपने वाला नोट। लेकिन राजसत्ता अँग्रेज़ों के पास थी। उन्होंने जैसा पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 'डिस्क्वरी आफ इंडिया' (भारत की खोज) में कहा है, पैसे की अर्थनीति को हिन्दुस्तान में जारी कर दिया। देश की बरबादी दिनों-दिन बढ़नी शुरू हो गयी।

दुख की बात यह है कि अँग्रेजों के जाने के बाद, हिन्दुस्तान के आजाद होने पर हम उन्हीं के चलाये मूल्यों की उपासना कर रहे हैं। यही नहीं; 'सभ्य' और 'विकसित' कहलाने की आकांक्षा से हमारी सरकार ने पैसा, विशेषज्ञ और सामान बाहर से मँगा-मँगाकर इन्हीं मूल्यों के आधार पर नये भारत की रचना शुरू कर दी। लकिन बेकारी फैली और आर्थिक विषमता बढ़ी। यही वजह है कि अधिकांश जनता, विशेषकर समाज का गरीब और दुखी हिस्सा सरकारी

योजनाओं में सहयोग नहीं दे पाता। जिन्हें कुछ प्राप्ति होती है, जो लूटने में कुशल है, जो अपना सच्चा-झूठा असर कायम कर लेना जानते हैं, वही इसमें आगे आते हैं।

ऐसी हालत में यह जरूरी हो जाता है कि हम बुनियादी तौर से स्थिति पर विचार करें। ठंडे दिमाग से इस पर सोचें। क्या समय नहीं आया कि चालू मूल्यों को अब ज्यादा न चलने दिया जाय; जिस सांचे में हम सब ढलते जा रहे हैं, उसमें फरक किया जाय; जिस आधार पर देश की रचना हो रही है, उसे बदला जाय ? अगर जवाब यह हो कि 'अभी नहीं', तो क्या कल स्थिति आज की अपेक्षा ज्यादा बदतर, पेचीदा और गम्भीर नहीं हो जायेगी ? क्या कल तक हम देश में मनोमालिन्य, विषमता और दरिद्रता को बढ़ने दें ? आज जो चंद लोगों का, अल्प संख्या का भला होता है, उसे ही होने दें ? अल्पोदय की जो धारा बह रही है, उसमें आँख मीचे बढ़ते रहें ?

नहीं, नहीं; देर की गुंजायश नहीं है। देश की गरीबी चुनौती दे रही है। जमाना आवाहन कर रहा है, विज्ञान इशारा कर रहा है कि देर की गुंजायश नहीं है। प्यासे को बहुत देर से प्यास लगी है। अगर अच्छा पानी उसे फौरन नहीं मिलता तो वह नाले का, या कहीं का भी, कैसा भी क्यों न हो, गंदा पानी पी लेगा। वैसी सूरत हमारे यहाँ है। चंद लोगों के भले का जमाना खत्म हुआ, 'अल्पोदय के दिन लद गये। अब तो नीच से नीच समझे जाने वालों का, सब का, हर किसी का उत्थान होना चाहिए। 'अन्त्योदय' होना चाहिए, 'सर्वोदय' होना चाहिए; 'अल्पोदय' नहीं। 'सर्वोदय' के आधार पर हमारा चिन्तन चलना चाहिए। व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन चलना चाहिए, देश का नवनिर्माण चलना चाहिए। जिन्हें राजनीति और अर्थशास्त्र कहा जाता है, उन्हें बदल कर सर्वोदय का स्वरूप लेना चाहिए।

बड़ा महत्वपूर्ण सवाल है कि सर्वोदय की दृष्टि से अर्थशास्त्र की शकल क्या होगी ? इसके अनुसार धन या दौलत किसे कहेंगे, मजदूरी या वेतन किसे, उत्पादन या पैदावार किसे, वगैरह-वगैरह ? इनकी जानकारी अगर कोई हासिल करना चाहे तो कैसे करे ? वैसे तो संसार के धर्म-ग्रन्थ, सन्तों और महात्माओं की वाणियाँ मौजूद हैं, जो धर्म के साथ-साथ अर्थशास्त्र के भी सबसे अच्छे

खजाने हैं, पर तालीम का ऐसा असर है कि जब तक हमारे सामने चीज़ अर्थ-शास्त्र कह कर नहीं आये, हम उसे समझने से इन्कार करते हैं। महात्मा गाँधी ने इस अर्थशास्त्र को अपने जीवन में उतारा पर उसे किताबी जामा न उन्होंने पहनाया, न उनका वह काम था। लेकिन उनके सामने से ही देश के कुछ विद्वानों ने यह काम अपने ऊपर उठा लिया था, उन सब में खास नाम डाक्टर जो० का० कुमारप्पा का है। गाँधीवादी या सर्वोदय अर्थशास्त्र का नाम अब पढ़े-लिखे लोग भी जान गये हैं, इसका श्रेय कुमारप्पाजी को ही है। पर इनका दायरा ज्यादातर अंग्रेजी पाठक तक सीमित रहा है। धीरे-धीरे अपने देश की भाषाओं में भी इस तरह का साहित्य तैयार होने लगा है, जैसे गुजराती में श्री नरहरि भाई परीख की 'मानव अर्थशास्त्र' नाम की किताब। हिन्दी में अब तक यह कमी बनी हुई थी; सो इस तरफ श्री भगवानदास केलाजी ने पहला कदम उठाया। हिन्दी-संसार उन्हें बखूबी जानता है। राजनीति और अर्थशास्त्र सम्बन्धी उनकी किताबें करीब दो पीढ़ी से विद्यार्थी भाई-बहन पढ़ते आ रहे हैं। अब हिन्दी में सच्चे या सर्वोदय अर्थशास्त्र के साहित्य-भवन की बुनियाद की पहली ईंट भी उन्होंने ही रखी।

'सर्वोदय अर्थशास्त्र' का यह दूसरा संस्करण है। चार साल के अन्दर पहला संस्करण खत्म हो गया। इससे पता चलता है कि धीरे-धीरे यह विचार घर बनाता जा रहा है। वैसे भी इन चार बरसों में भूदान यज्ञ ने जो प्रगति की है, उससे देश के अन्दर एक विश्वास पैदा हुआ है कि महात्मा गाँधी जो बातें कहते थे, संत विनोबा जो आज कह रहे हैं, वे खयाली पुलाव नहीं हैं, बल्कि असली और सच्ची बातें हैं। लगभग पाँच लाख दाताओं द्वारा बयालीस लाख एकड़ से ऊपर जमीन का मिलना और फिर करीब बारह सौ गाँवों का ग्रामदान ऐसी जबरदस्त घटनाएँ हैं जिनकी गूंज बहरों के कान तक भी पहुँच रही है। सर्वोदय व्यवहार क्षेत्र में उतर आया है! अगर उसका साक्षात दर्शन करना है तो उड़ीसा के कोरापुर जिले में मिलेगा, जहाँ ग्रामदानी क्षेत्र में नये सिरे से समाज-रचना हो रही है। यह प्रयोग नवयुवकों को आवाहन कर रहा है कि अपने देश को खड़ा करने में कंधा लगावें; बुजुर्गों को, और विशेषकर जो पुराने अर्थशास्त्र में पले-बढ़े हैं उनको, दावत देता है कि इसकी जाँच करे

फिर इसमें हाथ बँटायें। नये समाज के निर्माण का यज्ञ शुरू हुआ है, उसमें हिस्सा लेना हर एक का फर्ज है।

बाबूजी (श्री केलाजी) ने यह किताब लिखी है, काकाजी (स्वर्गीय जाजूजी) ने इसकी भूमिका लिखी है, फिर किसी तीसरे की तरफ से कोई चीज आने की जरूरत नहीं थी। पर बाबूजी का हुक्म हुआ। साथ-साथ में उनका प्रेम। मैं सारी किताब को अच्छी तरह पढ़ गया हूँ और मुझे इसका पढ़ना अपने लिए बहुत उपयोगी और फायदेमन्द साबित हुआ; मुझे यकीन है कि मेरी तरह या उससे ज्यादा फायदा दूसरे पाठक उठायेंगे—प्रोफेसर और विद्यार्थी तो विशेषकर। आखिर में, सिरजनहार से मेरी विनती है कि इस किताब को पढ़कर हमारे अन्दर ऐसी प्रेरणा पैदा हो कि हम संतों और महात्माओं के हिन्दुस्तान की आर्थिक और सामाजिक बेड़ियां काट कर उसे आजाद बनायें और सच्चे या परमार्थी यानी सर्वोदय अर्थशास्त्र का नमूना दुनिया के आगे पेश करें।

इलाहाबाद
१४ - ८ - १९५६

सुरेश रामभाई

विषय-सूची

पहला खंड—विषय प्रवेश

१—सर्वोदय अर्थशास्त्र क्या है ?

अर्थशास्त्र का विषय—वर्तमान अर्थशास्त्र; भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर जोर—'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना—गलत दृष्टिकोण और उसका दुष्परिणाम—गाँधीजी के विचार—वर्तमान अर्थशास्त्र का संकुचित क्षेत्र—दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता—सर्वोदय अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र और नीति—प्रगति की बात—सच्ची प्रगति बनाम आर्थिक प्रगति—सच्ची प्रगति के लिए सर्वोदय अर्थशास्त्र की आवश्यकता—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ३ से १५

२—धन किसे कहें ?

धन के लक्षण; वर्तमान अर्थशास्त्र के अनुसार—सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार धन का विचार—कोई व्यक्ति वास्तव में धनवान कब माना जाना चाहिए ?—किसी देश के धनी होने की सच्ची कसौटी—सच्चा आदमी ही सच्चा धन है—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १६ से २२

३—अर्थशास्त्र के भाग

मनुष्य की आर्थिक क्रियाएँ और अर्थशास्त्र के भाग—उपयोग; आर्थिक क्रियाओं का मूल हेतु—उत्पत्ति का अर्थ, उपयोगिता की वृद्धि—उपयोगिता का सही अर्थ—विनिमय—वितरण—अर्थव्यवस्था और राज्य—अर्थशास्त्र के भागों का सही महत्व। पृष्ठ २३ से २६

दूसरा खंड—उपयोग

४—उपयोग का लक्ष्य

उपयोग का महत्व—उपयोग का लक्ष्य, सुख की प्राप्ति—सुख की पहिचान; हितकारी और स्थायी सुख—सुख का क्षेत्र—उपयोग और आवश्यकताएँ—

मनोनिग्रह या इन्द्रिय-दमन—आवश्यकताएँ मनुष्य के बड़प्पन की मापक नहीं—आवश्यकताओं सम्बन्धी आदर्श—प्राथमिक आवश्यकताएँ, उपयोग में सामाजिक दृष्टि होनी चाहिए—आवश्यकताओं का नियंत्रण—सदुपयोग और दुरुपयोग—दुरुपयोग और आदतें—क्या धनवान अपना धन खर्च करने में स्वतंत्र रहें?—समय के सदुपयोग की आवश्यकता—उपयोक्ताओं का कर्तव्य—सादगी से व्यय की बचत—सादगी और सुख—सादा जीवन और उच्च विचार। पृष्ठ ३३ से ४६

५—हवा, प्रकाश, पानी और मिट्टी

[१] हवा। हवा का महत्व; इसके शुद्ध रहने की आवश्यकता—हवा शुद्ध रखने के उपाय—हवा के उपयोग की विधि। [२] प्रकाश। प्रकाश से लाभ—सूर्य की किरणों का उपयोग—शहरी सभ्यता से बाधा। [३] पानी। पानी स्वच्छ और अच्छा होने की आवश्यकता—पानी शुद्ध करने के उपाय—पानी के उपयोग सम्बन्धी विचार। [४] मिट्टी। मिट्टी के स्वास्थ्य-वर्द्धक गुण—मिट्टी का उपयोग—मिट्टी के बर्तन—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ४७ से ५६

६—भोजन

भोजन का उद्देश्य और महत्व—भोजन का परिमाण—खाद्य पदार्थ, उनके शुद्ध रहने की आवश्यकता—भोजन में स्वावलम्बन—स्थानीय वस्तुओं का उपयोग—उपयोग-विधि; विटामिन—दूध का उपयोग—भोजन पकाने की क्रिया; ईन्धन और धुंए का सवाल—मसाले—उत्तेजक और मादक पदार्थों का सेवन—चाय, कहवा आदि—तमाखू—अफीम—अन्य मादक पदार्थ; शराब आदि—भोजन-सुधार से जीवन-सुधार। पृष्ठ ५७ से ६६

७—वस्त्र

कपड़ा पहनने का उद्देश्य—सभ्यता की वृद्धि के साथ कपड़े के उपयोग में वृद्धि—नये-नये फैशन और पहनावे में विषमता—कपड़ा और स्वास्थ्य—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ६७ से ७०

८—मकान

मकान की आवश्यकता—गाँवों के घर—शहरों के मकान—बहुत से आदमियों के लिए मकानों की कमी—मकानों की समस्या; सर्वोदय भावना की

आवश्यकता—मकान बनाने की सामग्री स्थानीय होनी चाहिए—मकानों का बहुत अधिक उपयोग—मकानों की रचना और स्वास्थ्य। पृष्ठ ७१ से ७६

९—शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा को यथेष्ट महत्व दिया जाना चाहिए—बुनियादी शिक्षा; खेती या स्थानीय धंधे का आधार—उच्च शिक्षा—कुछ मुख्य बातें—श्रम-प्रतिष्ठा—प्रौढ़ शिक्षा—शिक्षा जीवन-व्यापी हो—श्री विनोबा के विचार। पृष्ठ ७७ से ८३

१०—स्वास्थ्य और मनोरंजन

[१] स्वास्थ्य। लोगों का अल्पायु होना समाज के लिए हानिकर—निरोग रहने के उपाय, सादा रहनसहन, व्यायाम और खेल—रोग निवारण; औषधियों का सेवन—प्राकृतिक चिकित्सा की विशेषता—ग्रामीण वातावरण की आवश्यकता—संयम। [२] मनोरंजन। काम में ही मनोरंजन—कुछ हितकर मनोरंजन—हानिकारक मनोरंजन—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ८४ से ९१

११—रहनसहन का दर्जा और जीवन-स्तर

रहनसहन का दर्जा; पदार्थों का उपयोग—पाश्चात्य देशों में लोगों का जीवन—भारत की बात—रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने की अनिष्टकारी सनक—रहनसहन का दर्जा ऊँचा होने के कारण—जीवन-स्तर ऊँचा होना चाहिए—जीवन-स्तर पर प्रभाव डालने वाली बातें—जीने की कला सीखने की जरूरत। पृष्ठ ९२ से ९८

तीसरा खंड—उत्पत्ति

१२—उत्पत्ति का उद्देश्य

उत्पत्ति में बुनियादी आवश्यकताओं को प्रधानता देने की जरूरत—उत्पत्ति का उद्देश्य मुनाफा नहीं होना चाहिए—सेवा-भाव होना चाहिए—उत्पत्ति के उद्देश्य के अनुसार उत्पादन-विधि—उत्पादन-विधि का मनुष्य पर प्रभाव। पृष्ठ १०१ से १०३

१३—उत्पत्ति के साधन

उत्पत्ति के साधन; भूमि और श्रम—पूँजी का विचार—क्या प्रबन्ध और साहस भी उत्पत्ति के साधन हैं? पृष्ठ १०४ से १०६

१४—भूमि

भूमि का क्षेत्र—प्राकृतिक परिस्थिति का आर्थिक जीवन पर प्रभाव—जंगल—नदियाँ—खनिज पदार्थ—पशु-पक्षी—प्राकृतिक शक्ति—भूमि सामाजिक सम्पत्ति है, किसी की निजी मिल्कियत नहीं—भूमि का उपयोग समाज-हित की दृष्टि से होना चाहिए—अन्तर्राष्ट्रीय हित का ध्याव रखने की आवश्यकता—भूमि-वितरण के तरीके; श्री विनोबा का शिक्षाप्रद उदाहरण—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १०७ से ११६

१५—श्रम और बौद्धिक कार्य

श्रम किसे कहते हैं?—व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित की दृष्टि से श्रम के भेद अनुचित हैं—बौद्धिक कार्य के सम्बन्ध में सर्वोदय विचार—शरीर-श्रम और श्रमियों की प्रतिष्ठा—समाज में अनुत्पादकों की भरमार—बौद्धिक कार्य का उपयोग; लोकसेवा के लिए—शरीर-श्रम का आदर्श। पृष्ठ ११७ से १२३

१६—श्रम-विभाग बनाम श्रम-समन्वय

कार्य-विभाग; भारत की वर्ण-व्यवस्था—आधुनिक श्रम-विभाग—श्रम-विभाग से हानियाँ—श्रम-समन्वय की आवश्यकता—श्रम-समन्वय की दृष्टियाँ—स्त्री-पुरुष दृष्टि—पारिवारिक दृष्टि—सामाजिक दृष्टि—प्रादेशिक दृष्टि—भौगोलिक या राष्ट्रीय दृष्टि—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १२४ से १३१

१७—पूँजी

पूंजी क्या है? अतिरिक्त उत्पादन और अपहृत श्रम—समाज में आर्थिक विषमता न होते हुए पूंजी की वृद्धि की आवश्यक है—पशुओं की उन्नति—पूंजी का उपयोग लोकहित की दृष्टि से होना चाहिए—राष्ट्रीय पूंजी—विदेशी पूंजी के उपयोग का सवाल—पूंजीवाद को हटाकर शोषणहीन समाज का निर्माण—पूंजी बनाम श्रम। पृष्ठ १३२ से १३८

१८—खेती

खेती का महत्व—भूमि का उचित विभाजन—भूमि के उपयोग में ध्यान देने की बातें—संतुलित खेती—व्यापारिक फसलों का प्रतिबन्ध—खेती की उन्नति, बैलों का सवाल—सिंचाई; कुँए, तालाब और बाँध—बिजली के पम्पों और नहरों से हानियाँ भी हैं—कृषि-यंत्रीकरण से लाभ हानि—वैज्ञानिक खेती की आवश्यकता—खाद के सम्बन्ध में विचार—रासायनिक या खनिज खाद से सावधान!—बड़े पैमाने की और छोटे पैमाने की खेती—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ १३६ से १४८

१६—ग्रामोद्योग

ग्रामोद्योग किसे कहते हैं?—गांधी जी के विचार—कुटीर उद्योग और गृहोद्योग—ग्रामोद्योगों का महत्व, समाज-संगठन—शोषण का अभाव और स्वावलम्बन—श्रमियों की स्वतंत्रता—मनुष्य का विकास—बेकारी का हल—विकेन्द्रीकरण, लोकराज्य और अहिन्सात्मक समाज—युद्ध-स्थिति की दृष्टि से ग्रामोद्योगों का महत्व—ग्रामोद्योग और यंत्र—यंत्रों के युग में ग्रामोद्योग क्यों? ग्रामोद्योगी चीजें महँगी हैं!—ग्रामोद्योग का अर्थशास्त्र—ग्रामोद्योगों से ग्राम-सुधार—ग्रामोद्योगों का क्षेत्र—ग्रामोद्योगों का संरक्षण, मिल-उद्योग का वहिष्कार—ग्रामोद्योगों की सहायता के कार्य—ग्रामोद्योगों के अपने पावों पर खड़े होने की बात—ग्रामोद्योग और उत्पादन-वृद्धि—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ १४६ से १६३

२०—यंत्रोद्योग

यंत्र-युग की मुख्य बात; उत्पत्ति का केन्द्रीकरण—शहरों की वृद्धि और ग्राम-जीवन का ह्रास—अन्य हानियाँ; आवश्यकताओं की वृद्धि—हानिकारक उत्पादन—बेकारी—आर्थिक विषमता—वर्ग-विद्वेष आदि—रचनात्मक भावना और स्वाभिमान का लोप—चरित्र-ह्रास—उत्पादक और उपयोक्ता में पारस्परिक सम्पर्क का अभाव—सैनिक संगठन और विदेशी आक्रमण का खतरा—साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध—अवकाश की समस्या—केन्द्रीकरण—यंत्रवाद और मनुष्य का विकास—श्री रस्किन के विचार—यंत्रोद्योगों की

मर्यादा—ग्रामोद्योग और यंत्रोद्योगों में प्राथमिकता किसे दी जाय ?—औद्योगीकरण के सम्बन्ध में विचार—औद्योगीकरण नहीं, 'प्रत्येक को काम' चाहिए—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १६८ से १७७

२१—जनसंख्या

कनसंख्या की वृद्धि से चिन्ता—दूसरा पहलू—संतान-वृद्धि की रोक—संयम का उपयोग—जनसंख्या-वृद्धि और गरीबी—जीवन-पद्धति सुधारने की आवश्यकता—विशेष वक्तब्य। पृष्ठ १७८ से १८३

चौथा खण्ड—विनिमय

२२—विनिमय की उपयोगिता की सीमा

विनिमय की आवश्यकता—अदलबदल और क्रय-विक्रय—विनिमय का अनावश्यक विस्तार, भोजन में—कपड़े की बात—विनिमय की वृद्धि से हानि—दलालों की सृष्टि; समाज संगठन को आघात—विशेष वक्तब्य।

पृष्ठ १८६ से १८६

२३—मुद्रा-व्यवस्था के दोष

मुद्रा का बेहद महत्व—मनुष्य मुद्राजीवी हो गया है—श्रम और उत्पादन मुद्रा के लिए—मुद्रा व्यवस्था से समाज के आर्थिक जीवन में अस्थिरता—मूल आवश्यकताओं की उपेत्ता और व्यापारिक वस्तुओं की भरमार—आदमी अपने पैदा किये हुए पदार्थों से वंचित—परिग्रह और स्वार्थ-भावना की वृद्धि—हिंसा, चोरी और लूट—लोकजीवन में सरकार का हस्तक्षेप—मानवता का ह्रास—कागजी मुद्रा—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ १६० से १६६

२४—बैंक

बैंकों से हानि; पूँजी का केन्द्रीकरण—बैंकों की दूषित व्यवस्था—मिश्रित पूंजी के बैंकों का व्यवहार—बैंकों से हमारे रुपये का हमारी भावना के विरुद्ध उपयोग—अमानुषिक व्यवहार—बैंकों का उद्देश्य क्या हो ?—बैंकों की कार्यप्रणाली का सुधार—सहकारी समितियों की नीति—सहकारी समितियों के कार्य—अनाज बैंक—वस्तु विनिमय बैंक—श्रम-बैंक—राष्ट्रीय बैंक—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ १६७ से २०५

२५—सही कीमत

मूल्य के दो भेद—उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य में अन्तर—पैसे को प्रतिष्ठादेना और अन्न की कीमत कम समझना गलत—कीमत सम्बन्धी वर्तमान धारणा से अनिष्ट—आमूल परिवर्तन की आवश्यकता; सर्वोदय दृष्टि—सामाजिक न्याय और कीमतें। पृष्ठ २०६ से २०९

२६—व्यापार और उसके साधन

समाज की अर्थव्यवस्था में व्यापार का स्थान—व्यापार : एक सेवा-कार्य—सेवा का पारिश्रमिक—सेवक श्रीमान् बन गया—व्यापार के मार्ग और साधन—इनके उपयोग में ध्यान देने की बात—सड़कें—मोटर—रेल।

पृष्ठ २१० से २१६

२७—व्यापार नीति

व्यापार की दूषित पद्धति—कृत्रिम माँग पैदा करना और बढ़ाना—महँगे-सस्ते का विचार—व्यक्ति के लिए सस्ता पदार्थ समाज के लिए बहुत महँगा हो सकता है—मानवीय दृष्टिकोण की आवश्यकता—मुनाफाखोरी रोकी जाय—विदेशी व्यापार की वर्तमान नीति—व्यापार-वृद्धि का भ्रम—तैयार माल के निर्यात की प्रतियोगिता और संसार-संकट—आयात-निर्यात नीति में सुधार की आवश्यकता—वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संसार और समाज का विषम विभाजन—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ २१७ से २२४

२८—पैसे की प्रभुता से मुक्ति

विनिमय का माध्यम, सोने चाँदी की जगह श्रम—मूल्य-माप के लिए सूत की गुंडी; इसकी विशेषता—सूत की गुंडी का चलन; इससे लाभ—पैसे की प्रभुता से मुक्ति पाने के कार्य—श्री विनोबा के विचार—पैसे का सीमित उपयोग निर्दोष—विदेशी व्यापार के लिए स्वर्ण-पत्र—राष्ट्रीय कूपन और रेलवारंट—पैसे की प्रभुता से मुक्ति पाने से मानव कल्याण—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ २२५ से २३४

पाँचवाँ खण्ड—वितरण

२६—वितरण की समस्या

वितरण का महत्व—वितरण के दो प्रकार—वितरण की जटिलता—समस्या हल करने की आवश्यकता। पृष्ठ २३७ से २३६

३०—लगान

लगान का विरोध—भूमि वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं, सामाजिक है—निजी मालकियत और लगान का मूल; (१) परिश्रम—(२) जोरजबरदस्ती—(३) शोषक साहूकारी—जमीन खरीदने की बात—भूमि की न्यायानुकूल व्यवस्था—विशेष वक्तव्य; लगान का अन्त। पृष्ठ २४० से २४४

३१—मजदूरी

नकद और असली मजदूरी—अधिकांश मजदूरी अन्न और वस्त्र के रूप में मिले—मजदूरी की विषमता—बौद्धिक कार्य और शरीर-श्रम का पारिश्रमिक—समाज-विरोधी बौद्धिक व्यवसाय—बुद्धि और धनोपार्जन—मिल-मजदूरों का मिलों में साझा—मिल मजदूर और हाथ-मजदूर की वेतन एकसी हो—प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजों के उत्पादकों को अधिक वेतन मिलना चाहिए—स्त्री-पुरुष के वेतन में भेद रखना अनुचित है— न्यूनतम मजदूरी या निर्वाह-वेतन—कृषि-श्रमियों की न्यूनतम मजदूरी—बेकारी के समय का प्रश्न—भारत में न्यूनतम मजदूरी—मजदूरी समान करने का प्रयत्न—प्रत्येक श्रमी को रोजी का अधिकार—मजदूरों को अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता—बुद्धिजीवी क्रान्ति की ओर बढ़ें—मजदूरी सम्बन्धी आदर्श; गाँधीजी के विचार—विशेष वक्तब्य। पृष्ठ २४५ से २५६

३२—सूद

सूद का विचार; पूंजी का विश्लेषण—धन तो श्रम से ही पैदा होता है—सूद का विरोध—सूद का व्यवहार—सूद की आय से हमारा तथा हमारे उत्तराधिकारियों का अनिष्ट—सूद नहीं रहना चाहिए—श्री अप्पापटवर्द्धन के विचार—

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में सूद का स्थान नहीं—क्या बैंकों से भी सूद न लिया जाय ?—किसी को ऋण लेने की नौबत न आये—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ २६० से २६८

३३—मुनाफा

मुनाफे का अर्थ—मुनाफा बौद्धिक कार्य का फल—शोषण पर निर्भर—मुनाफे की मर्यादा—मुनाफे का अधिकार, व्यक्तियों को होने से हानि—मुनाफे का अधिकार समाज को होना चाहिए—स्वेच्छा-पूर्वक त्याग का विकल्प, राष्ट्र-स्वामित्व—सर्वोदय अर्थव्यवस्था में मुनाफे का स्थान नहीं—मुनाफे के बिना काम कैसे होगा ?—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ २६६ से २७३

३४—आर्थिक समानता

आर्थिक समामता का अर्थ; प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार—अर्थिक समानता। न होने के कारण—असमानता से. हानि; भूखमरी और नैतिक पतन—आर्थिक समानता की स्थापना लिए अपरिग्रह की आवश्यकता—स्वामित्व-विसर्जन—उत्पादन के साधनों का बंटवारा—ट्रस्टीशिप—व्यापारिक उत्पादन पर नियंत्रण—लोगों का कर्त्तव्य—विचारणीय बात। पृष्ठ २७४ से २८१

छठा खंड—अर्थव्यवस्था और राज्य

३५—राज्य का स्वरूप

अराजवाद का आदर्श—अहिंसक राज्य—सरकार का कार्य-क्षेत्र सीमित रहने की आवश्यकता—सरकार का संगठन—निर्वाचन-पद्धति कैसी हो ?—शासन-संस्थाएँ—सरकारी नौकर, उनकी योग्यता और वेतन—विशेष वक्तव्य पृष्ठ २८४ से २८६

३६—राज्य और उपयोग

सरकार उपयोक्ता के रूप में—मितव्ययिता की आवश्यकता—सरकारी कर्मचारियो के ध्यान देने की बात—सरकारी उपयोग नीति का प्रभाव—सरकारी नियंत्रण; मादक वस्तु विचार—विशेष वक्तव्य पृष्ठ २९० से २९३

३७—राज्य और उत्पत्ति

ग्राम-पंचायतें और उत्पादन कार्य—उत्पत्ति में सरकारी सहायता—सरकार द्वारा उत्पत्ति बहुत सीमित हो—आर्थिक योजनाओं के सम्बन्ध में विचार—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ २६४ से २६६

३८—राज्य और विनिमय तथा वितरण

राज्य और विनिमय। [१] मुद्रा—बैंक—यातायात और आमदरफ्त के साधन—राज्य का व्यापार सम्बन्धी दृष्टिकोण।

राज्य और वितरण। [२] आर्थिक विषमता-निवारण—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ ३०० से ३०६

३६—राज्य और शान्ति तथा रक्षा

सर्वोदय व्यवस्था में अपराधों की कमी—अपराधियों के सुधार की व्यवस्था—न्याय-कार्य—रक्षा व्यवस्था—मूल मंत्र; अहिन्सा, सत्याग्रह और असहयोग—शान्ति-सेना की तैयारी—विशेष वक्तव्य। पृष्ठ ३०७ से ३१३

४०—राज्य और अर्थनीति

पंचायतों का प्रभुत्व—प्रादेशिक सरकार की आय; मालगुजारी—मालगुजारी जिन्स के रूप में होनी चाहिए—श्रम के स्वरूप में चुकाने की व्यवस्था—केन्द्रीय सरकार का सीमित अधिकार—सरकारी अर्थ नीति का लक्ष्य; आय-व्यय की वृद्धि नहीं, जनता का कल्याण—आय का रूप; नकदी, माल और मजदूरी—सर्वोदय व्यवस्था में खर्च बहुत कम होगा—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ ३१४ से ३१६

सातवां खंड—उपसंहार

४१—सर्वोदय अर्थशास्त्र की विशेषताएं

इस अर्थशास्त्र से सब का हित—भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मनुष्य का महत्व अधिक—उत्पादन को नहीं, उपयोग को प्राथमिकता—उपयोग हो,

उपभोग नहीं—औद्योगिक विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन—पैसा साध्य नहीं, साधन मात्र है—प्रतिष्ठा पैसे की नहीं, श्रम की—बुद्धि का उपयोग लोकसेवा के लिए—विनिमय की मर्यादा—वितरण की समस्या का अन्त—विकेन्द्रित और लोकतंत्री राजसत्ता—विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त।

पृष्ठ ३२२ से ३३०

४२—हमारा कर्तव्य

सरकार के भरोसे न रहें—दूसरे आदमियों की प्रतीक्षा में भी न रहना चाहिए—व्यक्ति आगे बढ़ें; श्रद्धा, धैर्य, दृढ़ता की आवश्यकता—व्यवहारिक बातें—विचार-धारा के प्रचार की आवश्यकता—विशेष वक्तव्य।

पृष्ठ ३३१-३३५

सहायक साहित्य पृष्ठ ३३६

सर्वोदय अर्थशास्त्र की छोटी पुस्तक भी छप गयी। नाम है—

सर्वोदय अर्थशास्त्र की मूल बातें

मूल्य, एक रुपया चार आने

पहला खंड

विषय-प्रवेश

१—सर्वोदय अर्थशास्त्र क्या है ?

२—धन किसे कहें ?

३—अर्थशास्त्र के भाग

अर्थशास्त्र को प्रायः शुष्क तथ्यों और आंकड़ों, तर्क-वितर्क और वादविवाद का नीरस, नीति-रहित और मानवता-विहीन विषय माना जाता है। इसमें मांग और पूर्ति, सस्ता लेने और मँहगा बेचने, अधिक से अधिक मुनाफा कमाने, आर्थिक प्रगति के लिए भौतिक आवश्यकताओं को निरन्तर बढ़ाते रहने की चर्चा होती है; दूसरों के श्रम से लाभ उठा कर धनवान बनने, शहरों द्वारा गाँवों का, और स्वदेश द्वारा विदेशों का, शोषण होने को बुरा नहीं माना जाता; उत्पादन का विवेचन होता है, पर उत्पादकों की चिंता नहीं की जाती। खेती और उद्योग-धन्धों के विकास और उन्नति का विचार होता है, पर किसानों और मजदूरों को प्रायः भुला दिया जाता है। बड़े-बड़े निर्माण-कार्यों की योजनाएँ बनती हैं, रुपये-पैसे का, सोने-चांदी का, कागजी टुकड़ों (नोटों) का ब्योरा उपस्थित किया जाता है, पर असली धन (मनुष्य) की उपेक्षा की जाती है; अथवा, उसे भी क्रय-विक्रय का पदार्थ समझ लिया जाता है। रस्किन, गांधी और विनोबा जैसे व्यक्तियों का अर्थशास्त्री होना स्वीकार नहीं किया जाता, क्योंकि वे नीति, प्रेम, सेवा और त्याग आदि मानवी गुणों की बात कहते हैं।

मैं अर्थशास्त्र के लेखकों, अध्यापकों और शिक्षार्थियों से विनम्रता-पूर्वक परन्तु स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि जिस साहित्य में 'गांधी विचार-धारा' को यथेष्ट स्थान नहीं दिया जाता, अर्थात् जो साहित्य मानवता का या सर्वोदय का दृष्टिकोण नहीं अपनाता, उसे शास्त्र का नाम देना शास्त्र का अपमान करना है। अर्थशास्त्र के नाम पर हो या किसी और नाम पर हो, जो साहित्य हमें कोरा बौद्धिक ज्ञान देता है और हमारे हृदय में मानवीय भावनाओं का विकास नहीं करता, उसे लिखना या पढ़ना-पढ़ाना बेकार है, वह एक कुसेवा है। प्रत्येक भाषा के विद्वानों, हितैषियों और सेवकों को यह ध्यान में रख कर अपना कर्त्तव्य पालन करना चाहिए।

—लेखक

पहला अध्याय

सर्वोदय अर्थशास्त्र क्या है ?

जो अर्थशास्त्र किसी व्यक्ति या किसी राष्ट्र विशेष के विकास अथवा कल्याण में बाधक होता है.........तथा एक देश को दूसरे देश की लूट करने की अनुमति देता है, वह अनीतिमय है, पाप-रूप है। —गांधीजी

सर्वोदय अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार चला जाय तो सभी का उदय हो, न कि मुट्ठी भर लोगों का या बहुमत का। उसका ध्येय है : सर्व जनहिताय, सर्वजन सुखाय। —लेखक

पारिवारिक अर्थशास्त्र, ग्राम्य अर्थशास्त्र, नागरिक अर्थशास्त्र, राष्ट्रीय अर्थशास्त्र आदि शब्द तो सुने गये हैं; अब यह सर्वोदय अर्थशास्त्र क्या ? पहले अर्थ-शास्त्र की बात लें।

अर्थशास्त्र का विषय—साधारण भाषा में यह कहा जा सकता है कि अर्थ-शास्त्र मनुष्य के ऐसे प्रयत्नों और व्यवहारों का विचार करता है, जो अर्थ या धन सम्बन्धी हों। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए अर्थशास्त्र में मनुष्य के उन्हीं व्यवहारों का विचार होता है, जो वह समाज में रहते हुए करता है। आदमी को अपने जीवन-निर्वाह के लिए भोजन, वस्त्र और मकान की आव-श्यकता होती है। उसे अपना दिल बहलाने के लिए मनोरंजन के साधन चाहिए। उसमें विविध वस्तुओं तथा विषयों का ज्ञान प्राप्त करने की भावना होती है। स्वभाव से उसे नयी-नयी बातों की जानकारी हासिल करने का कौतुहल होता है। इस प्रकार उसके शरीर की तरह उसका मन भी विकास चाहता है। इसी प्रकार मनुष्य में अपने दूसरे साथियों के प्रति सेवा, त्याग, प्रेम और सहयोग की प्रवृत्ति होती है; यह उसकी सांस्कृतिक क्षुधा-पूर्ति के विविध रूप हैं। इस तरह मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक तीन प्रकार की इच्छाएँ होती हैं। इनकी पूर्ति के लिए वह जो विविध कार्य करता है, वे कई प्रकार के होते

हैं, कुछ को सामाजिक कहा जाता है, कुछ को राजनैतिक, और कुछ को धार्मिक आदि। मनुष्य के जीवन के अलग अलग टुकड़े नहीं किये जा सकते। जीवन के सब अंगों का परस्पर में बहुत सम्बन्ध होता है, तथापि अध्ययन की सुविधा के लिए अर्थशास्त्र में जीवन के उस हिस्से का विवेचन होता है, जो अर्थ या धन से सम्बन्धित हो।

वर्तमान अर्थशास्त्र, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर जोर—अर्थ या धन मनुष्य के सुख और विकास के साधनों में से एक है, परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्र इसे एकमात्र साधन मान कर चलता है। इस विचारधारा के अनुसार, मनुष्य की अधिकांश शक्ति भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगी रहती है। मानसिक विकास को गौण स्थान दिया जाता है, अथवा यों कहा जा सकता है कि उसका मुख्य उपयोग हम यही समझते हैं कि उसके द्वारा हमें भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति में सुविधा हो। विज्ञान के नये-नये आविष्कार हो रहे हैं, यंत्रों और अन्य साधनों की वृद्धि हो रही है। पर सब का मुख्य उद्देश्य या उपयोग यही माना जाता है कि वे हमारे भौतिक सुख की वृद्धि में सहायक हों। हमें प्रधानतया अपने सुख का ध्यान रहता है, पर अपने गाँव, नगर या देश के आदमियों के अभावों या कष्टों की यथेष्ट चिन्ता नहीं होती। हम अपना सांस्कृतिक विकास करने की ओर समुचित ध्यान नहीं देते, जिससे दूसरों से आत्मीयता का अनुभव करें, और उनके दुखों और कष्टों को अपना दुख और कष्ट मानें तथा उनके जीवन की विविध यातनाओं को दूर करने में दिलोजान से जुट जायें।

'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना—हमने ऊपर कहा है कि वर्तमान अर्थशास्त्र में भौतिक आवश्यकताओं को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। इसकी बुनियाद इंगलैंड में अठारहवीं सदी में पड़ी, जबकि वहाँ पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और औद्योगिक क्रान्ति का जोर था। वहाँ के अर्थशास्त्रियों ने मानव जीवन के अन्य पहलुओं की उपेक्षा करके आर्थिक पहलू को इतना महत्व दिया कि ऐसे 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना कर डाली, जो अपने जीवन में प्रत्येक बात केवल अर्थ की ही दृष्टि से सोचता और करता है। उसकी विचारधारा का केन्द्र-बिन्दु धन

हैं और उसके जीवन का प्रमुख कार्य यही है कि जैसे भी बने, अधिक से अधिक पैसा प्राप्त करे। उसके लिए किसी कार्य की उपयोगिता की कसौटी या मापदंड यही है कि उससे कितना द्रव्य मिलता है। इस 'आर्थिक मनुष्य' के लिए यह सोचा जाना स्वाभाविक ही था कि वह चीजों को सस्ते से सस्ते उपायों से बनाये। मजदूरी कम चुकाने के लिए यंत्रों का खूब उपयोग करे, चाहे इससे जनता में कितनी ही बेकारी बढ़े। इन सस्ती चीजों को खपाने के लिए तरह-तरह के विज्ञापनों आदि से वह लोगों को अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाने की प्रेरणा करे, और उनकी खूब माँग पैदा करके वह उन्हें अपने देश में तथा विदेशों में मंहगे से मंहगे भाव से बेचे। अपने माल की खपत बढ़ाने के लिए वह सरकारी अधिकारियों की सहायता लेने के लिए भले-बुरे सभी उपायों को काम में लाये। वह अपने राज्य का प्रभाव या अधिकार अधिक से अधिक बढ़ाने का इच्छुक हो। इस प्रकार वह अपने स्वार्थ के लिए राज्य का सहायक और समर्थक हो और दोनों की सम्मिलित शक्ति का उपयोग देश में लोकतंत्र का विकास रोकने में और विदेशों में उपनिवेश-स्थापना या प्रभुता-विस्तार करने में हो। यह स्पष्ट है कि 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना के साथ व्यक्तिवाद, पूंजीवाद, यंत्रवाद और साम्राज्यवाद का स्वभावतः गठ-बंधन है।

ऐसे 'आर्थिक मनुष्य' के आधार पर वर्तमान अर्थशास्त्र की (जो वास्तव में पाश्चात्य अर्थशास्त्र है) रचना की गयी थी। पीछे यह अनुभव किया गया कि 'आर्थिक मनुष्य' का अध्ययन असली आदमी का अध्ययन नहीं है। आदमी अपने विविध कार्य केवल आर्थिक भावनाओं से प्रेरित होकर नहीं करता। अर्थशास्त्र मानव जीवन की परिस्थितियों के प्रति न्याय तभी कर सकता है, जब वह मनुष्य की विविध प्रेरक शक्तियों का तथा उनके आपसी सम्बन्धों का यथेष्ट ध्यान रखे। इस तरह आर्थिक मनुष्य' की विवेचना को पीछे आने वाले अर्थशास्त्रियों ने विशेष महत्व नहीं दिया, तथापि वे उसकी छाया से मुक्त नहीं हो पाये। अर्थशास्त्र में अर्थ या धन को ही प्रभुता दी जाती रही। रस्किन, कार्लाइल आदि जिन लेखकों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया और नीति पर आश्रित मानवी मूल्यों को प्रधानता दी, उनके ग्रन्थों को कुछ महत्व नहीं दिया

गया; उन्हें अप्रामाणिक कहा गया। अंग्रेजों के प्रभुत्व के कारण भारत में भी यही होता रहा।

गलत दृष्टिकोण और उसका दुष्परिणाम—जीवन में केवल आर्थिक या स्वार्थमय दृष्टिकोण रखना गलत है। इससे हम दूसरों के हित की उपेक्षा करते हैं; हमारे कार्यों या व्यवहार का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विचार नहीं करते। अनेक बार तो हम जानबूझ कर दूसरों का कष्ट बढ़ाते और उनका शोषण करते हैं। नैतिक तथा सांस्कृतिक आधार से वंचित होने के कारण वर्तमान अर्थशास्त्र ने व्यक्ति के मन में भोग-विलास की कामना बढ़ा दी है। आदमी 'धन' कहे जाने वाले पदार्थों को ही सामाजिक प्रतिष्ठा, सभ्यता और श्रेष्ठता का साधन मान कर उसे प्राप्त करने में लगा रहता है। वह जैसे भी बन आये, अधिक-अधिक धनवान बनना चाहता है, उसकी यह तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। वह इस प्यास को बुझाने में अपने शरीर को खपाता रहता है, और अपने जीवन के अन्तिम अध्याय में यह स्वीकार करता है—

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा,
भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्ता।

अपनी भोगेच्छा की पूर्ति में ही लगा हुआ आदमी अपना भी यथेष्ट विकास नहीं कर पाता। वह शारीरिक सुख की ओर ही ध्यान देता है, मानसिक विकास को भौतिक सुख-सामग्री उत्पन्न करने के साधन के रूप में काम लाता है, और सांस्कृतिक विकास की अवहेलना करता है। इस प्रकार उसका विकास अपूर्ण और एकांगी होता है, उसमें संतुलन नहीं रहता। ऐसे व्यक्तियों से सामाजिक कल्याण की क्या आशा की जाय! वर्तमान आर्थिक विचारधारा देश में सिर्फ मुट्ठी भर आदमियों को करोड़पति या अरबपति बनाती है, और कुछ थोड़े से आदमियों को साधारण मध्यम स्थिति में छोड़ कर शेष को—कुछ दशाओं में अस्सी-पिचासी फीसदी जनता को—दीन, दरिद्र, शोषित और पीड़ित बनाती है।

वर्तमान आर्थिक दृष्टिकोण इस बात के लिए उत्तरदायी है कि संसार आज विस्फोटक पदार्थों का सा बना हुआ है। प्रत्येक समर्थ देश दूसरे देशों का अधिक-से-अधिक शोषण करना चाहता है। वह उन्हें अपने कारखानों के लिए

आवश्यक कच्चे पदार्थों का उत्पादक और तैयार माल का बाजार बनाने का इच्छुक है। इसका नतीजा यह है कि बड़ी-बड़ी शक्तियों की गिद्ध-दृष्टि विविध भू-भागों पर विशेष रूप से लगी हुई है। इससे उन बड़ी-बड़ी शक्तियों में आपस में प्रतियोगिता और संघर्ष है।

इस पीढ़ी के आदमी पिछले महायुद्ध के संकटों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं, कि फिर युद्ध की भाषा सुनने और बोलने लग गये हैं। इस प्रकार इस समय शान्ति इतनी अल्पकालीन और कम प्रभाव वाली रहती है कि युद्ध ही इस युग का सत्य हो रहा है।

गाँधीजी के विचार—इस युग में जिन महानुभावों ने संसार की आर्थिक स्थिति पर मानवता की दृष्टि से गहरा विचार किया है, उनमें गाँधीजी प्रमुख हैं। उनका मत है—

"पश्चिम के अर्थशास्त्र की बुनियाद गलत दृष्टि-विन्दुओं पर डाली गयी है, इस लिए वह अर्थशास्त्र नहीं, बल्कि अनर्थशास्त्र हो गया है। वे गलत दृष्टि-विंदु इस प्रकार हैं :—

(१) उसने भोग-विलास की विविधता और विशेषता को संस्कृति का प्राण माना है।

(२) वह दावा तो करता है ऐसे सिद्धान्तों का, जो सब देशों और सब कालों पर घटित होते हों, परन्तु सच बात यह है कि उनका निर्माण यूरोप के छोटे, ठंडे और खेती के लिए कम अनुकूल देशों में, घनी बस्ती वाले परन्तु मुट्ठी भर लोगों की, अथवा बहुत थोड़ी आबादी वाले उपजाऊ बड़े खंडों की परिस्थिति के अनुभव से हुआ है।

(३) पुस्तकों में भले ही निषेध किया गया हो, फिर भी योजना और व्यवहार में यह मानने और मनवाने की पुरानी रट से मुक्त नहीं हो पाया है कि (क) व्यक्ति, वर्ग या अधिक हुआ तो अपने ही छोटे से देश के अर्थ-लाभ को प्रधानता देनेवाली और उसके हित की पुष्टि करने वाली नीति ही अर्थशास्त्र का अचल शास्त्रीय सिद्धान्त है, और (ख) कीमती धातुओं को हद से अधिक प्रधानता दी जाय।

(४) उसकी विचार-श्रेणी में अर्थ और नीति-धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं

माना गया है। इस लिए उसने अपने समाज में अर्थ की अपेक्षा अधिक महत्व-पूर्ण जीवन के विषयों को गौण समझने की आदत डाल दी है।

इसके फल-स्वरूप—

१—यह अर्थशास्त्र यंत्रों का, शहरों का तथा (खेती की अपेक्षा) उद्योगों का अंध-पूजक बन गया है।

२—इसने समाज के विभिन्न वर्गों और देशों में समन्वय करने के बजाय विरोध उत्पन्न किया है और सर्वोदय के बदले थोड़े लोगों का थोड़े समय के लिए ही लाभ सिद्ध किया है।

३—यह पिछड़े हुए समझे जाने वाले देशों में आर्थिक लूट मचा कर तथा वहाँ के लोगों को दुर्व्यसनों में फंसा कर और उनका नैतिक अधःपतन करके समृद्धि का पथ खोजता है।

४—जिन राष्ट्रों या समाजों ने इस अर्थशास्त्र को अंगीकार किया है, उनका जीवन पशुबल पर ही टिक रहा है।

५—इसने जिन-जिन वहमों (अन्ध विश्वासों) को जन्म दिया या बढ़ाया है, वे धार्मिक या भूत-प्रेतादिक के नाम से प्रचलित वहमों से कम बलवान नहीं हैं।†

वर्तमान अर्थशास्त्र का संकुचित क्षेत्र—ऊपर अर्थशास्त्र सम्बन्धी गलत दृष्टिकोण के कारण होनेवाली हानियों पर प्रकाश डाला गया है। इन सारी बुराइयों का मूल कारण यह है कि हमने अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत संकुचित, सीमित या संकीर्ण रखा है। पारिवारिक अर्थशास्त्र में हम परिवार के हित की बात सोचते हैं। पर इस बात पर जोर नहीं देते कि प्रत्येक परिवार का हित अन्य परिवारों के हित के साथ सम्बन्धित है। हम बहुधा अपने पड़ोसी परिवारों के हित की अवलेहना करते हैं। ग्राम्य अर्थशास्त्र में हम गाँव की, और नागरिक अर्थशास्त्र में नगर की उन्नति का विचार करते हैं, परन्तु किसी गाँव या नगर की कुल सम्पत्ति का योग बढ़ना ही उसकी वास्तविक उन्नति नहीं है, खासकर जब कि वहाँ अपने स्वार्थ के लिए एक वर्ग दूसरे वर्ग का, एक गाँव दूसरे गाँव का, या एक नगर दूसरे नगर का अहित करने में संकोच न करता हो। वर्तमान काल

† श्री किशोर लाल मशरूवाला की 'गांधी विचार दोहन' से।

में नगर ग्रामों का भयंकर शोषण कर रहे हैं, यहाँ तक कि उनके जीवन का आधार ही ग्रामों का अधिक-अधिक ह्रास हो रहा है। राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में हम राष्ट्र का कुल उत्पादन या सुख-सामाग्री और सम्पत्ति बढ़ाने का लक्ष्य रखते हैं, परन्तु एक तो उसके सब वर्गों की, खासकर निम्न वर्गों की, यथेष्ट चिन्ता नहीं करते; दूसरे, यह भूल जाते हैं कि हमारा विचार-क्षेत्र राष्ट्र तक सीमित न रहकर मानवता का होना चाहिए। समस्त मनुष्य जाति का दुःख-सुख एक है; जब तक उसके कुछ भागों का या एक भी भाग का शोषण होगा, विश्व-शान्ति नहीं हो सकती।

दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता—यह स्पष्ट है कि लोकहित के लिए, जनता के कल्याण के लिए, प्रत्येक देश में सर्वसाधारण की दीनता और कंगाली दूर करने के लिए, संसार का समष्टि रूप से उत्थान करने के लिए, नयी समाज-रचना के लिए और वर्तमान अशान्ति, संघर्ष, चिन्ता और वेदना को दूर करने के लिए वर्तमान अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इस अनर्थशास्त्र की जगह वास्तविक या सच्चे अर्थशास्त्र की रचना करनी है।

नया अर्थशास्त्र हमें नित्य अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाने और उनकी पूर्ति में परेशान रहने से बचने का मार्ग दिखायेगा। उसके अध्ययन और चिंतन से हम भोजन-वस्त्रादि का उपयोग उस सीमा तक ही करेंगे, जहाँ तक कि ये वस्तुएँ हमारी जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक हों। हम केवल खाने के लिए जीवित रहना नहीं चाहेंगे, वरन् इसलिए खायेंगे कि हम अच्छी तरह जीवन व्यतीत कर सकें। यही बात वस्त्रों और मकान आदि के उपयोग के लिए लागू होगी। हम भौतिक साधनों की अधिक-से-अधिक वृद्धि में नहीं लगे रहेंगे और धनी व्यक्ति को बड़ा आदमी नहीं मानेंगे। हम धन का ठीक अर्थ ग्रहण करेंगे और उसे मानवता से अधिक महत्व नहीं देंगे। 'धन' हमारे लिए एक साधन मात्र होगा, साध्य नहीं। हम मानवता का यथेष्ट मूल्यांकन करेंगे, हमारी किसी आर्थिक क्रिया से हमारे गाँव या नगर निवासी का अहित न होगा, वरन् हमें अपने प्रत्येक कार्य में अपने देश वालों की शारीरिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक उन्नति का विचार रहेगा। यही नहीं, हम दूसरे देशों के शोषण को अपने देश

की समृद्धि मानने की भूल नहीं करेंगे। हम विश्वबंधुत्व का आदर्श रखते हुए सभी राज्यों के नागरिकों से अपनत्व की भावना रखेंगे और उनके उत्थान में भरसक सहायक होंगे।

सर्वोदय अर्थशास्त्र—उपर्युक्त भावनाओं और आदर्शों की पूर्ति का मार्ग बताने वाला अर्थशास्त्र ही इस युग की मांग है। हमें ऐसे अर्थशास्त्र की रचना करनी चाहिए, जिसका आधार किसी छोटे क्षेत्र के मनुष्यों का स्वार्थ न हो कर सभी का कल्याण हो। वास्तव में किसी एक व्यक्ति, एक समूह या एक देश के हित में किसी का हित नहीं है; सब व्यक्तियों तथा सब देशों के हित में सब का हित है, और सबके साथ ही हमारा भी हित है। दूसरों के हित की उपेक्षा करके हम अपना हित नहीं कर सकते। इस लिए हमारे अर्थशास्त्र का लक्ष्य मानव समाज के किसी अंग विशेष की उन्नति न हो कर सभी की उन्नति होनी चाहिए, और वह उन्नति भी एकांगी अर्थात् केवल भौतिक न होकर सर्वाङ्गीन अर्थात शारीरिक, मानसिक और सांस्कृतिक होनी चाहिए। ऐसे अर्थशास्त्र का आधार नैतिक होना अनिवार्य है। इस अर्थशास्त्र के उपर्युक्त गुणों के कारण इसे 'सर्वोदय अर्थशास्त्र' नाम दिया जा सकता है।

'सर्वोदय' का अर्थ है सबका हित, मनुष्य मात्र का विकास। समाज में कोई व्यक्ति या वर्ग ऐसा न हो जिसके हित या विकास का विचार न हो। जो व्यक्ति सामाजिक कड़ी के अन्तिम छोर पर हो, उसका भी कल्याण हो। जैसे एक परिवार के सदस्यों में शारीरिक या मानसिक योग्यता में भिन्नता होते हुए भी सबके हित का ध्यान रखा जाता है, सब की ही आवश्यकताओं को समान रूप से पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाता है, ऐसे ही सर्वोदय अर्थशास्त्र समाज के किसी अंग विशेष के लिए ही न होगा; चाहे वह अंग बड़ा या बहुमत वाला ही क्यों न हो। यह अर्थशास्त्र बहुसंख्यकों के अधिकतम हित की बात मान्य न कर सबके ही कल्याण का विवेचन करेगा। गांधीजी का निम्नलिखित कथन इसका केन्द्र विन्दु है—

'मैं ज्यादा से ज्यादा संख्या के ज्यादा से ज्यादा भले के सिद्धान्त को नहीं मानता। उसे नंगे रूप में देखें तो उसका अर्थ यह होता है कि ५१ फीसदी के मान लिये गये हितों की खातिर ४९ फीसदी के हितों का

बलिदान कर दिया जाना उचित है; यह सिद्धान्त निर्दय है और इससे मानव समाज की बहुत हानि हुई है। सब का ज्यादा से ज्यादा भला करना ही एक सच्चा, गौरवयुक्त और मानवता-पूर्ण सिद्धान्त है, और यह सिद्धान्त अधिकतम स्वार्थत्याग से ही अमल में लाया जा सकता है।'

अस्तु, सर्वोदय अर्थशास्त्र सम्पूर्ण मानव समाज के हित की दृष्टि से विचार करेगा; उसमें धर्मों, जातियों, वर्णों या वर्गों की विभिन्नता को मान्य नहीं किया जायगा। वह किसानों, मजदूरों, कारीगरों को; गोरे, काले, पीले सब रंगों के आदमियों को ; एशिया, यूरोप, अमरीका, अफ्रीका आदि सभी भू-भागों के निवासियों को समान समझेगा।

अर्थशास्त्र और नीति—सामाजिक विद्या होने के कारण अर्थशास्त्र का दूसरे सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध होना अनिवार्य है। पर वर्तमान अर्थशास्त्री इसे नीतिशास्त्र से सर्वथा पृथक् रखते हैं। यह कहाँ तक ठीक है ? नीति हमारे सामने आदर्श उपस्थित करती है, वह बतलाती है कि कौनसा काम अच्छा है और कौनसा बुरा; मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। अर्थशास्त्र हमारे सामने आर्थिक प्रयत्नों द्वारा होनेवाले समाज और विश्व के कल्याण का आदर्श रखता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीति का घनिष्ट सम्बन्ध स्पष्ट है। अर्थशास्त्र बतलाता है कि वितरण किस प्रकार ऐसा हो कि उसमें आर्थिक विषमता कम-से-कम हो; श्रमजीवियों को वेतन कितना दिया जाना चाहिए, जिससे उन्हें जीवन-निर्वाह और विकास के साधन प्राप्त हों; वस्तुओं का मूल्य किस प्रकार ऐसा निर्धारित किया जाय कि उत्पादकों को जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों की उत्पत्ति के लिए प्रोत्साहन मिले।

आर्थिक परिस्थितियों का मनुष्य के नैतिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जब देश में लोगों को खाने-पहनने की आवश्यक चीजें यथेष्ट परिमाण में नहीं मिलतीं तो उनमें कलह, संघर्ष, चोरी और लूट आदि बढ़ना स्वाभाविक ही है। कहा है, 'भूखा आदमी कौनसा पाप नहीं करता', और 'भूखे भजन न होय गोपाला।' वास्तव में भूख और प्यास से पीड़ित व्यक्तियों से ऊँचे नैतिक आदर्शों की आशा नहीं की जा सकती। इस प्रकार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र को एक दूसरे से जुदा नहीं किया जा सकता।

खेद है कि वर्तमान अर्थशास्त्रियों में से अधिकांश लेखक अर्थशास्त्र के विवेचन में नैतिक दृष्टिकोण की उपेक्षा करते हैं। वे इसके विज्ञान-पक्ष पर जोर देते हुए कहते हैं कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, अर्थात् क्या उचित है और क्या अनुचित—इसका विचार करना अर्थशास्त्र का काम नहीं है। इस प्रकार वर्तमान अर्थशास्त्र प्रायः नीति से जुदा है, इससे व्यक्ति तथा समाज के विकास में भयंकर बाधा उपस्थित है। सर्वोदय अर्थशास्त्र अपने आपको नीति से अलग नहीं मानता, वह ऐसे ही व्यवहार किये जाने का आदेश करता है, जिससे सब का, सम्पूर्ण जनता का, विश्व भर का कल्याण हो।

प्रगति की बात—सर्वोदय दृष्टि अपनाने के लिए हमें प्रगति के सम्बन्ध में अच्छी तरह विचार करना चाहिए। प्रगति का सही अर्थ क्या है—यह अच्छी तरह समझे बिना आजकल हर कोई प्रगति की बात करता है, प्रगति के लिए प्रयत्नशील है। वर्तमान अर्थशास्त्र के विचारक आर्थिक प्रगति को ही प्रगति मानते हैं, और उसका आशय वे भौतिक प्रगति लेते हैं। क्या यह ठीक है? क्या भौतिक प्रगति से ही सच्ची या नैतिक प्रगति हो जाती है? और यदि उससे नैतिक प्रगति नहीं होती, अथवा उससे नैतिक प्रगति में कुछ बाधा होती है, तो क्या नैतिक प्रगति के अभाव में जो आर्थिक प्रगति होती है, उसका स्वागत किया जाय? क्या ऐसा करने से मनुष्य को सुख-शान्ति मिलेगी, जिसे प्राप्त करने की उसे सदैव इच्छा बनी रहती है?

सच्ची प्रगति बनाम आर्थिक प्रगति—इस विषय में गांधीजी के आगे दिये विचार बहुत मनन करने योग्य हैं। उन्होंने कहा है—

"क्या आर्थिक प्रगति और सच्ची प्रगति में विरोध है? आर्थिक प्रगति से, मैं समझता हूँ हमारा मतलब असीम बढ़ती रहने वाली भौतिक समृद्धि से है, और सच्ची प्रगति से हमारा मतलब नैतिक उन्नति से है। यह नैतिक उन्नति ही हमारे अन्दर जो स्थायी तत्व है, उसकी उन्नति है। इसलिए इस विषय को दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है—क्या नैतिक उन्नति उसी अनुपात में बढ़ती है जिस अनुपात में भौतिक प्रगति आगे बढ़ती है?

"कभी किसी ने यह नहीं कहा कि नितान्त गरीबी का परिणाम नैतिक पतन

के सिवा कुछ और हो सकता है। हर एक मनुष्य को जीने का अधिकार है और इसलिए उसे अपना पेट भरने के लिए साधन पाने का और जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए घर पाने का भी अधिकार है। पर इस सरल क्रम के लिए हमको अर्थशास्त्रियों से या उनके नियमों से कोई सरोकार नहीं है।

"मैं तो यह भी सोचने की हिम्मत करता हूँ कि संसार के धर्म-ग्रन्थ आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में अनेक आधुनिक पाठ्यक्रमों वाली पुस्तकों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

"हमने आधुनिक भौतिकवादी सभ्यता को ही अपना आदर्श बना लिया है और तथाकथित उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए हम वास्तव में गड्ढे की ओर जा रहे हैं। इसी कारण से प्राचीन आदर्श यही रहा है कि मनुष्य को व्यक्तिगत सम्पदा को बढ़ाने वाली कार्यवाहियों में सीमा निर्धारित करनी चाहिए। इससे सब भौतिक महत्वाकांक्षाओं का अन्त कदापि नहीं होता। आज भी सदा की तरह हमारे बीच में ऐसे व्यक्तियों का होना आवश्यक है, जो धनोपार्जन ही अपने जीवन का ध्येय बनाये हुए हैं। पर हमने सदा ही इसे स्वीकार किया है कि यह आदर्शों से गिर जाना है। हमको तो कभी-कभी यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि हम लोगों में से कुछ सबसे धनी लोग बहुधा यह स्वीकार करते हैं कि वे स्वेच्छापूर्वक गरीब रहे होते तो उनके लिए कहीं अधिक अच्छा रहता।

"यह बड़े मूल्य का आर्थिक सत्य है कि आप एक साथ ही ईश्वर और कुबेर की पूजा नहीं कर सकते। हमको दोनों में से किसी एक को ही चुनना है। आज पाश्चात्य राष्ट्र भौतिकवाद के राक्षस-देव की एड़ी के नीचे दबे हुए कराह रहे हैं। उनका नैतिक उत्थान रुक गया है। वह अपनी उन्नति पौंड, शिलिंग, पेंस में गिना करते हैं। अमरीका की आर्थिक समृद्धि उनके लिए आदर्श हो गयी और अमरीका की तरफ लोग ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं। हमने बहुत से देशवासियों को यह कहते सुना है कि हम अमरीका जैसी ही सम्पदा प्राप्त करेंगे। मैं यह कहने की हिम्मत करूँगा कि यदि ऐसा प्रयास किया भी गया तो वह निश्चित रूप से असफल होगा। हम एक ही अवसर पर बुद्धिमान, शान्त और

क्रुद्ध नहीं हो सकते। मैं तो चाहूँगा कि हमारे नेतागण हमको यह शिक्षा देते कि हम नैतिक दृष्टि से संसार में सबके ऊपर रहें।"

सच्ची प्रगति के लिए सर्वोदय अर्थशास्त्र की आवश्यकता—इस प्रकार सच्ची सुखदायक प्रगति नैतिक प्रगति ही है और उसके लिए हमें अर्थशास्त्र में सर्वोदय की दृष्टि रखनी चाहिए। हमारा अर्थशास्त्र सर्वोदय अर्थशास्त्र होना चाहिए। यह अर्थशास्त्र महलों और झोपड़ियों वालों के, मालिक और मजदूरों के, धनी और गरीबों के, ऊँचे और नीचे कहे जाने वालों के बीच की भेदभाव-सूचक खाई को पाटने का यत्न करेगा। बिना किसी अपवाद के प्रत्येक व्यक्ति के लिए रोटी, कपड़े, मकान और शिक्षा तथा स्वास्थ्य का साधन प्राप्त करायेगा, पर साथ ही यह ध्यान रखेगा कि मनुष्य केवल रोटी-कपड़े के लिए ही जीवित न रहे। यह धन की वृद्धि करेगा, पर इसकी मान्यता होगी कि चाँदी-सोने के टुकड़े या नोट-रूप कागज धन नहीं हैं; किसी देश का असली धन वहाँ की सच्ची, ईमानदार, सच्चरित्र और लोकसेवी जनता है। यह अर्थशास्त्र कुछ व्यक्तियों का नहीं, मानवता का मान बढ़ायेगा। इस का नीतिशास्त्र से ३६ का सम्बन्ध न होगा, परन्तु इसके प्रत्येक नियम-व्यवहार का आधार ही नीति होगी अर्थात् प्रत्येक आर्थिक क्रिया शोषण और स्वार्थमूलक न होकर नीतियुक्त होगी। इस प्रकार यह अर्थशास्त्र देश के जन-जन में तो प्रेम, सेवा और सहयोग की लहर फैलायेगा ही, इसके अनुसार कार्यक्रम रखने वालों का विदेशियों से भी कोई सङ्घर्ष, हानिकारक प्रतियोगता या द्वेष आदि न होगा; कारण, इसका आदेश होगा कि विश्व एक है, मनुष्य जाति एक है; सब एक विशाल परिवार के सदस्य हैं। अस्तु, सर्वोदय अर्थशास्त्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की शिक्षा देने वाला होने के कारण इसे अपनाये जाने की आवश्यकता स्वयं-सिद्ध है।

विशेष वक्तव्य—ऐसा अर्थशास्त्र बहुत से पाठकों को केवल काल्पनिक और उपहास-प्रद प्रतीत होगा। इस पर तरह-तरह के आक्षेप किये जायेंगे। खासकर यह कहा जायगा कि जब आदमी अपने-अपने (संकुचित) स्वार्थ साधने में जुटे हुए हैं, इस अर्थशास्त्र को कौन मान्य करेगा, यह तो मुनाफे को तिलांजलि देकर घाटे का रोजगार करने का आदेश करता है। ऐसा कहने वालों

की बात में सचाई अवश्य है, पर यह भी तो सच है कि मनुष्य में अनन्त सम्भावनाएँ हैं, वह कुछ से कुछ बन सकता और कहीं से कहीं पहुँच सकता है। वह नर से नारायण हो सकता है। हमें मनुष्य जाति के विकासशील भविष्य में पूर्ण श्रद्धा है। इस समय भी संसार में ऐसे सज्जनों का अभाव नहीं है, जो अपने रोजमर्रा के व्यवहार में त्याग, प्रेम और सेवा-भाव का सुन्दर परिचय दे रहे हैं। यह कोई आश्चर्य नहीं कि यह भावना अधिकाधिक व्यक्तियों में उत्पन्न हो, और राष्ट्र तक की सीमा में न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय बने, विश्वबन्धुत्व का रूप ले। अस्तु, ऐसी ही आशा और विश्वास से हम नम्रतापूर्वक अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार, यह रचना विचारशील पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का साहस करते हैं।

———

दूसरा अध्याय

धन किसे कहें ?

धन साधन मात्र है और उससे सुख तथा दुःख तथा दोनों हो सकते हैं। यदि वह अच्छे मनुष्य के हाथ में पड़ता है तो उसकी बदौलत खेती होती है और अन्न पैदा होता है, किसान निर्दोष मजदूरी करके संतोष पाते हैं और राष्ट्र सुखी होता है। खराब मनुष्य के हाथ में धन पड़ने से उससे (मान लीजिए कि) गोले-बारूद बनते हैं और लोगों का सर्वनाश होता है। गोला-बारूद बनानेवाला राष्ट्र और जिस राष्ट्र पर इनका प्रयोग होता है, वे दोनों हानि उठाते हैं और दुःख पाते हैं। इस तरह हम देख सकते हैं कि सच्चा आदमी ही सच्चा धन है। — गांधीजी

सम्पत्ति की उपयोगिता इसी में है कि वह समाज के काम आकर सामाजिक जीवन को अधिक पूर्ण बनाये।

—पुरुषोत्तमदास टंडन

सर्वोदय अर्थशास्त्र की व्याख्या के सम्बन्ध में विचार कर चुकने पर अब हम यह जानलें कि इस अर्थशास्त्र में अर्थ या धन किसे कहते हैं; कारण, इस विषय में वर्तमान अर्थशास्त्र और सर्वोदय अर्थशास्त्र में तात्विक अन्तर है, और इस अन्तर से दोनों अर्थशास्त्रों की कितनी ही महत्वपूर्ण बातों में जुदा-जुदा दृष्टिकोण हो गया है।

धन के लक्षण; वर्तमान अर्थशास्त्र के अनुसार—पहले हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि वर्तमान अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थ या धन से अभिप्राय: ऐसी प्रत्येक वस्तु से होता है, जिससे मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति होती हो, और साथ ही जिसको देकर बदले में कोई दूसरी उपयोगी वस्तु मिल सकती हो। इस तरह अन्न, कोयला, लोहा, लकड़ी आदि चीजें धन गिनी

जाती हैं। संक्षेप में वर्तमान अर्थशास्त्र में सब उपयोगी और विनिमय-साध्य वस्तुएँ धन मानी जाती हैं। कोई वस्तु विनिमय-साध्य तब कही जाती है, जब आदमियों को उसकी, दूसरी उपयोगी वस्तुओं से अदल-बदल करने में, जरूरत होती हो, और इसलिए उसका अदल-बदल अथवा क्रय-विक्रय होता हो। संसार में ऐसी कितनी ही वस्तुएँ हैं जो मनुष्य के लिए उपयोगी तो हैं, परन्तु विनिमय-साध्य नहीं हैं। ऐसी वस्तुओं को वर्तमान अर्थशास्त्र में धन नहीं कहा जाता। उदाहरण के तौर पर आदमी के जीवित रहने के लिए सब से अधिक आवश्यक वस्तुएँ हवा, पानी और रोशनी (सूर्य का प्रकाश) हैं। पर साधारण दशा में इन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य को कोई श्रम नहीं करना पड़ता; जिसे जितने परिमाण में इनकी आवश्यकता होती है, उसे उतने परिमाण में ये सहज ही मिल जाती हैं। इन पर किसी को अधिकार या स्वामित्व रखने की जरूरत नहीं होती, इनका विनिमय या क्रय-विक्रय नहीं होता। ऐसी प्राकृतिक या सर्वसुलभ वस्तुओं को वर्तमान अर्थशास्त्र में धन नहीं कहा जाता।

यह तो भौतिक सम्पत्ति की बात हुई, अब अभौतिक सम्पत्ति की बात लें। विनिमय-साध्य वस्तुओं के अतिरिक्त, ऐसे कार्यों या सेवाओं को भी वर्तमान अर्थशास्त्र में धन माना जाता है, जो विनिमय-साध्य हों; उदाहरण के लिए अध्यापक, जज, सिपाही, चिकित्सक, उद्योग-संचालक, वैज्ञानिक, आविष्कारक, लेखक, कवि तथा अन्य कलाकार का कार्य; समाज के रीति-रिवाज या राज्य के कायदे-कानूनों से मिलनेवाले स्वामित्व या मिल्कियत आदि के अधिकार, जैसे पुस्तकों का मुद्रणाधिकार (कापी राइट), औषधियों, यंत्रों या व्यापार-चिन्हों का 'पेटन्ट', दुकान या कोठी की ख्याति या प्रसिद्धि ('गुड विल')—ये उपयोगी भी हैं और विनिमय-साध्य भी; अर्थात् इनका क्रय-विक्रय हो सकता है। इस लिए ये भी वर्तमान अर्थशास्त्र में धन मानी जाती हैं।

इस प्रकार वर्तमान अर्थशास्त्र में अर्थ या धन मानी जाने वाली वस्तुओं के दो लक्षण हैं:—(१) उपयोगिता और (२) विनिमय-साध्यता। कोई वस्तु विनिमय-साध्य होने के लिए यह आवश्यक है कि वह परिमित परिमाण में हो, और श्रम से उत्पन्न की जाती हो। साथ ही, वह ऐसी हो कि उस पर व्यक्ति का अधिकार हो सके और वह एक व्यक्ति से दूसरों को हस्तान्तरित की जा सके। यदि कोई

उपयोगी वस्तु हिन्सक पशुओं से घिरे हुए जंगल में अथवा गहरे समुद्र में इस प्रकार रखी हो कि दूसरा आदमी उसे अपने अधिकार में न ले सके तो यह वस्तु विनिमय-साध्य न होगी और इस लिए धन भी नहीं मानी जायगी।

धन के, वर्तमान अर्थशास्त्र के अनुसार माने जाने वाले लक्षणों में से एक उपयोगिता बतलाया गया है। इसके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता है। कुछ लोग शौक या नशे के लिए शराब पीने लगते हैं, और इसे उपयोगी समझ कर इसे खरीदने को तैयार रहते हैं। इसलिए, शराब को वर्तमान अर्थ-शास्त्र में धन माना जाता है। इस अर्थशात्र के रचयिताओं का कथन है कि 'शराब मनुष्य के लिए उपयोगी है, इससे उसकी आवश्यकता की पूर्ति होती है; फिर, इसके धन माने जाने में क्या सन्देह रहा! मनुष्य की शराब पीने की आदत अच्छी है या बुरी; उसका अपनी इस आवश्यकता को पूरा करना उचित है या अनुचित—यह विचार करना अर्थशास्त्र का काम नहीं।'

सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार धन का विचार—पहले बताया जा चुका है कि सर्वोदय अर्थशास्त्र का उद्देश्य व्यक्ति तथा समाज का हित और विकास करना है। इस प्रकार इस अर्थशास्त्र की दृष्टि से ऐसी प्रत्येक वस्तु या सेवा धन है, जो व्यक्ति तथा समाज का हित साधन करती है, और उनके विकास में सहायक होती है। इस दृष्टि से हवा, पानी या रोशनी भी धन है, क्योंकि इनके बिना तो व्यक्ति तथा समाज जीवित ही नहीं रह सकता। ऐसी अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तुओं को धन न मानना सर्वथा अनुचित और भ्रमपूर्ण है। सृष्टि में ये चीजें अपरिमित मात्रा में मिलती हैं, इनको प्राप्त करने के लिए आदमी को श्रम नहीं करना पड़ता और ये चीजें विनिमय-साध्य नहीं हैं, तो इस कारण इनका महत्व कुछ कम नहीं होता, और इनको धन माने जाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

पुनः सर्वोदय अर्थशास्त्र शराब आदि को केवल इसलिए अर्थ या धन नहीं कहेगा कि इन वस्तुओं से किसी व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति होती है और वह इन्हें खरीदता है। इस अर्थशास्त्र के अनुसार तो यह विचार करना है कि इनसे मनुष्य का हित साधन होता है या नहीं। अगर शराब के सेवन से आदमी बेसुध हो जाता है, गाली-गलौज बकता है और पीछे इससे उसके शरीर

की पुष्टि न होकर उसके स्वास्थ्य पर हानिकर प्रभाव पड़ता है तो शराब, वर्तमान अर्थशास्त्र की दृष्टि से उपयोगी और 'विनिमय-साध्य' होते हुए भी, वास्तव में अर्थ नहीं है, अनर्थ है। हाँ, यदि शराब का उपयोग किसी रोग को दूर करने में, औषधि के रूप में, किया जाय तो उस सीमा तक उसे सर्वोदय अर्थशास्त्र में भी अर्थ या धन माना जायगा।

इसी प्रकार हथियारों के विषय में विचार करें। एक आदमी उनका उपयोग लुटेरे या हिंसक पशुओं से अपनी रक्षा करने के लिए करता है, दूसरा आदमी उनसे दूसरे निर्दोष व्यक्तियों की हत्या करता है। इससे स्पष्ट है कि यह एक ही वस्तु अपने उपयोग के अनुसार सुखदायक भी हो सकती है और दुःखदायी भी; अर्थ भी हो सकती है और अनर्थ भी। निदान, किसी वस्तु के अर्थ या धन होने के लिए एक विचारणीय बात यह है कि आदमी उसका उपयोग किस प्रकार, किस रीति से या कहाँ तक करता है। वह वस्तु (सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार) उसी दशा में अर्थ मानी जायगी जबकि उसका उपयोग व्यक्ति तथा समाज के हित में होता हो। इसके विपरीत, यदि उस वस्तु का 'उपयोग' इस प्रकार होता है कि व्यक्ति या समाज के लिए हानिकर और इनके विकास में बाधक होती है तो वह वस्तु अनर्थ ही मानी जायगी। भारतीय विचारकों ने इसे 'आसुरी सम्पत्ति' कहा है।

अब अभौतिक सम्पत्ति की बात लें। जैसा पहले कहा गया है, इसमें मनुष्य की सेवाएँ गिनी जाती हैं। वर्तमान अर्थशास्त्र के अनुसार वे सेवाएँ धन मानी जाती हैं, जो विनिमय-साध्य हों। इस प्रकार अध्यापक, डाक्टर, वकील, लेखक आदि का कार्य भी धन माना जाता है। परन्तु सर्वोदय दृष्टि यह है कि उपर्युक्त पेशा करने वाले बुद्धिजीवी हैं, इन्हें अपना कार्य लोकसेवा के लिए करना चाहिए, और किसी प्रतिफल की आशा न रखनी चाहिए; अपने निर्वाह के लिए इन्हें शरीर-श्रम करना चाहिए। इस विषय पर खुलासा आगे लिखा जायगा; यहाँ यही कहना है कि यदि इनकी योग्यता स्वार्थ-साधन में काम आती है, तो सर्वोदय अर्थशास्त्र में यह धन की गणना में नहीं आतीं। इसी प्रकार पुस्तकों का कापीराइट (मुद्रणाधिकार), औषधियों या यंत्रों आदि का पेटन्ट-अधिकार, किसी दुकान या कोठी आदि की ख्याति ('गुड विल') आदि भी ऐसी

ही चीजें हैं, जिनका उपयोग बुद्धिजीवी अपने स्वार्थ के लिए करते हैं। इन्हें भी सर्वोदय अर्थशास्त्र में धन नहीं माना जाता।

अस्तु, सर्वोदय अर्थशास्त्र के विचार से अर्थ या धन ऐसी प्रत्येक वस्तु है जो व्यक्ति या समाज के लिए हितकर तथा इनका विकास करने वाली है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विनिमय-साध्य भी हो, अथवा यों कहा जा सकता है कि सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थ या धन विनिमय-साध्य भी हो सकता है और अविनिमय-साध्य भी। आगे के विषय को समझने के लिए अर्थ या धन के इस लक्षण को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

कोई व्यक्ति वास्तव में धनवान कब माना जाना चाहिए?— इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी आदमी को केवल इसलिए धनवान या सम्पत्तिवान नहीं समझा जाना चाहिए कि उसके पास बहुत सा रुपया-पैसा, नोट या सरकारी सिक्यूरिटी आदि हैं, या हिन्सक अस्त्र या विषैले पदार्थ आदि इतने बड़े परिमाण में हैं कि उनका विनिमय-मूल्य बहुत अधिक मिल सकता है। हमें यह सोचना होगा कि वह व्यक्ति इस द्रव्य का तथा इन वस्तुओं का उपयोग किस रीति से करता है। जब वह इनके संचय और उपयोग में लोकहित की भावना का परिचय देता है, दूसरों से अपने भाई-बहिन की तरह प्रेम का व्यवहार करता है, तब ही वह धनवान कहलाने का अधिकारी है। यदि इसके विपरीत, वह व्यक्ति समाज के कल्याण की उपेक्षा कर उस वस्तु-संग्रह का अपने निजी स्वार्थ-साधन में और दूसरों के शोषण और पीड़न में उपयोग करता है तो ऐसे व्यक्ति के लिए अनर्थवान या विपत्तिमान उपाधि देना ठीक होगा।

किसी देश के धनी होने की सच्ची कसौटी—उपर्युक्त विचारधारा के अनुसार किसी देश में बहुत सी वस्तुओं की बड़े परिमाण में उत्पत्ति होने से ही उस देश को अर्थवान नहीं माना जा सकता। इस समय अनेक देश ऐसा हिसाब उपस्थित कर सकते हैं कि कुछ वर्ष पहले उनकी जितनी सम्पत्ति थी, उसकी अपेक्षा आज कई गुनी बढ़ी हुई है। पर इनमें से कितने ही ऐसे हैं जिनके पास रुपया तथा कृत्रिम आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले पदार्थ खूब होते हुए भी वहाँ भोजन-वस्त्र आदि की कमी है। इन देशों को धनवान नहीं कहा जाना

चाहिए। भोजन-वस्त्र आदि की कुल राशि यथेष्ट होने पर भी कोई देश उस समय तक धनवान कहे जाने का अधिकारी नहीं है, जब तक इस धन का अधिकांश भाग कुछ थोड़े से पूंजीपतियों, लखपतियों या करोड़पतियों, सेठ-साहूकारों या जागीरदारों-जमीदारों आदि के ही पास है, और सर्वसाधारण को अपनी रोजमर्रा की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन यथेष्ट परिमाण में सुलभ नहीं होते। इस प्रकार देश के प्रति व्यक्ति की औसत सम्पत्ति का विशेष महत्व नहीं; यह औसत का हिसाब अनेक बार कितना धोखा देने वाला होता है, यह सहज ही समझा जा सकता है। हम किसी देश को वास्तव में धनवान तभी कहेंगे, जब वहाँ सब आदमियों को अपने जीवन-निर्वाह तथा शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास के साधन उपलब्ध हों, और उनमें आर्थिक विषमता बहुत ही मर्यादित परिमाण से अधिक न हो। यह भी जरूरी है कि वह देश समष्टि रूप से और वहाँ के निवासी व्यक्तिगत रूप से अपनी जरूरतें कम करते हुए नैतिक ऊँचाई की तरफ लगातार बढ़ रहे हों। नैतिक ऊँचाई का मापदंड यही है कि उस देश के आदमी आपस में एक-दूसरे को या अन्य देशों के लोगों को अपने ही जैसा मान कर उनके दुःख और तकलीफों में क्रियात्मक सहानुभूति का परिचय देते हैं।

एक बात और। पहले कहा गया है कि सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार हवा, पानी और रोशनी जैसी प्राकृतिक और सर्व-सुलभ सम्पत्ति भी धन है, भले ही वह विनिमय-साध्य न हो। इस प्रकार दो देशों में अन्य अर्थ की दृष्टि से समानता होते हुए जिस देश में आदमी इन चीजों का इनके प्राकृतिक शुद्ध रूप में यथेष्ट उपयोग करते हैं, अथवा जहाँ ये अधिक गुणकारी हैं, वही देश अधिक धनवान माना जायगा।

सच्चा आदमी ही सच्चा धन है—यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो किसी देश की वास्तविक सम्पत्ति कुछ पदार्थ न होकर वहाँ के नर-नारी हैं। ये जितने अधिक स्वस्थ, गुणवान, नीतिवान, सेवाभावी होंगे, उतना ही वह देश अधिक धनवान माना जाना चाहिए। गांधीजी ने कहा है 'सच्चा आदमी ही सच्चा धन है। जिस राष्ट्र में नीति है।' वह धन-सम्पन्न है, इसी प्रकार रस्किन का कथन है— 'जीवन ही सच्चा धन है; वह जीवन जिसमें प्रेम, आनन्द और सद्भावना की

सम्पूर्ण शक्तियाँ वर्तमान हैं। वही राष्ट्र सब से अधिक धनवान है, जिसकी गोद में अधिकाधिक उदार और सुखी मानवात्माएँ पलती हैं। वही मानव सब से अधिक मालदार है, जो अपने जीवन के सम्पूर्ण कर्तव्यों को पूरा कर, दूसरे प्राणियों के जीवन पर व्यक्तिगत रूप से एवं अपने प्राप्त ऐश्वर्य द्वारा अधिकाधिक प्रभाव डालता है।'

सर्वोदय अर्थशास्त्र वस्तु-मूलक न होकर व्यक्ति-प्रधान है। अगर किसी बात या चीज़ से एक व्यक्ति का सच्चा हित सधता हो—यह निश्चय है कि इस हित से किसी दूसरे का अहित हरगिज़ नहीं हो सकता, और अगर होता है, तो उस हित में ही दोष है—तो वह बात या चीज़ धन समझी जायगी। यह है सर्वोदय अर्थशास्त्र द्वारा स्वीकृत धन सम्बन्धी विचार-धारा! क्या हम इस अर्थ में धन-वान बनने का प्रयत्न करेंगे और अपने देश तथा इस विश्व के ऐसे धन को कुछ बढ़ाने की दिशा में अग्रसर होंगे?

विशेष वक्तव्य—वर्तमान अवस्था में संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु अर्थ (रुपया-पैसा) माना जाता है। आदमी लक्ष्मी के पुजारी हैं। कहा जाता है—सर्वे गुणा कांचनमाश्रयन्ति। प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन अब पैसे में किया जाता है। बुद्धि और योग्यता का भी माप इस बात में है कि उनसे कितना धन प्राप्त किया जा सकता है। यह पूंजीवाद का लक्षण है। इस विचारधारा के अनुसार श्रम का यथेष्ट महत्व नहीं माना जाता। इससे विषमता और संघर्ष बढ़ता है। इसे दूर करना है। यह सर्वोदय की भावना से, श्रम की यथेष्ट प्रतिष्ठा करने से ही संभव है। अस्तु, सर्वोदय में अर्थ या धन को उसके सिंहासन से उतार कर मानवी गुणों को उच्च स्थान प्रदान करना है।

तीसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के भाग

उत्पत्ति का उद्देश्य और ध्येय उपयोग है, इसी प्रकार उपयोग का उद्देश्य और ध्येय जीवन है।

—रस्किन

जो आदमी जमीन में एक बीज डालता है और बहुसंख्यक बीज उपजाता है, वही धन का सच्चा निर्माता है। किसी एक माल को नया रूप देना सच्चा उत्पादन नहीं है।

—जो. का. कुमारप्पा

मनुष्य की आर्थिक क्रियाएँ और अर्थशास्त्र के भाग—मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह तथा विकास के लिए विविध वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वह इनका उपयोग करता है। ये चीजें प्रायः उसे बनानी, पैदा करनी अथवा संग्रह करनी होती हैं। कोई आदमी अपनी जरूरत की सब चीजें स्वयं पैदा नहीं कर सकता, उसे दूसरों की बनायी चीजें लेनी, और बदले में अपनी बनायी चीजें दूसरों को देनी होती हैं। बहुधा आदमी विविध वस्तुओं की उत्पत्ति में दूसरों की सहायता लेता है। इस दशा में उसे उनकी इस सहायता का प्रतिफल देना होता है। इस प्रकार मनुष्यों की आर्थिक क्रियाएँ मुख्यतः ये होती हैं—(१) खाना-पहनना आदि, अर्थात् उपयोग, (२) उपयोग के लिए वस्तुएँ बनाना, पैदा करना या संग्रह करना, अर्थात् उत्पत्ति (३) पदार्थों का अदल-बदल या क्रय-विक्रय, अर्थात् विनिमय, और (४) उत्पत्ति में सहायता देने वालों को उनका प्रतिफल देना, अर्थात् वितरण।

इन आर्थिक क्रियाओं के अनुसार अर्थशास्त्र के मुख्य चार भाग किये

जाते हैं—उपयोग,* उत्पत्ति, विनिमय और वितरण। इनके अतिरिक्त इसमें यह भी विचार होता है कि प्रचलित अर्थ-व्यवस्था के साथ राज्य का क्या अथवा कहाँ तक सम्बन्ध है। अब हम अर्थशास्त्र के सब भागों का अर्थ और विषय कुछ स्पष्ट करते हैं। पहले उपयोग को लीजिए।

उपयोग; आर्थिक क्रियाओं का मूल हेतु—साधारणतया यदि किसी वस्तु का उपयोग न हो, तो उसका उत्पादन भी न हो, फिर उसके विनिमय और वितरण की तो बात ही क्या! मनुष्य को विविध वस्तुओं के उपयोग करने की आवश्यकता होती है, इसीलिए उसका उत्पादन आदि होता है। ‡इस प्रकार उपयोग हमारी आर्थिक क्रियाओं का मूल हेतु कहा जा सकता है। हाँ, यह स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र में वस्तुओं या सेवाओं के सभी प्रकार के खर्च को उपयोग नहीं कहा जाता; यह विचार करना होता है उस खर्च से किसी आदमी या समाज के जीवन-निर्वाह या विकास में सहायता मिली या नहीं। उदाहरण के लिए एक आदमी रोटी खाकर अपनी भूख मिटाता है और दूसरा उसे आग में फेंक कर जला डालता है। दोनों दशाओं में रोटी खर्च हो गयी, उसकी उपयोगिता समाप्त हो गयी। परन्तु पहली दशा में, अर्थात् खाने से, आदमी का जीवन-निर्वाह हुआ; इसे रोटी का उपयोग हुआ, कहा जायगा। इसके विपरीत, दूसरी दशा में, रोटी के जलने से किसी आदमी को कुछ लाभ नहीं हुआ; इसे रोटी का उपयोग नहीं कहा जायगा। हमारे इस उदाहरण को कुछ पाठक कृत्रिम समझेंगे। परन्तु अमरीका में अनाज की पकी फसलों को जला डालने और इंगलैंड में फलों को नदी में बहाने की घटनाएँ असत्य नहीं। अस्तु, उपयोग का अर्थ किसी वस्तु

---

*वर्तमान अर्थशास्त्र में 'उपभोग' शब्द का व्यवहार किया जाता है। पर उसमें भोग-विलास की गंध आती है। वह सर्वोदय अर्थशास्त्र की उस भावना से मेल नहीं खाता, जिसकी बुनियाद ही संयम और त्याग हो; जिसका लक्ष्य ज़रूरतों को बढ़ाना नहीं, बल्कि उन्हें यथा-सम्भव कम करना है। इसलिए हमें उपभोग के स्थान पर उपयोग का व्यवहार करना उचित जँचता है।

‡आजकल बहुधा उत्पादन में उपयोग को प्रधानना न देकर मुनाफे का लक्ष्य रखा जाता है। इसके बारे में खुलासा विचार आगे किया जायगा।

को ऐसे काम में लाने से होता है, जिससे किसी व्यक्ति या समाज का हित या विकास हो। अर्थशास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि मनुष्य जो तरह-तरह के पदार्थों को खर्च करता है, वह कहाँ तक उचित है और किस सीमा पर अनुचित हो जाता है; आदमी का रहनसहन का दर्जा बढ़ाने का वास्तव में क्या अर्थ है, और वह कहाँ तक बढ़ाया जाना चाहिए।

अब उत्पत्ति का विचार करें।

उत्पत्ति का अर्थ, उपयोगिता की वृद्धि—वास्तव में मनुष्य किसी सर्वथा नयी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता। वह उसे केवल पहले से अधिक उपयोगी बनाता है। उपयोगिता-वृद्धि को ही अर्थशास्त्र में 'धनोत्पत्ति' कहा जाता है। उपयोगिता-वृद्धि कई प्रकार से होती है। कुछ दशाओं में वस्तु के रूप या आकार में परिवर्तन होने से उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए किसान द्वारा खेती की जाती है, वह अन्न के रूप में प्रकृति की सहायता से मिट्टी, हवा, पानी और प्रकाश के द्वारा ऐसा परिवर्तन करता है कि अन्न के एक-एक दाने से कई-कई दाने पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार वह बीज की उपयोगिता रूप-परिवर्तन द्वारा बढ़ाता है। जो अन्न पहले दो-चार दिन ही परिवार का निर्वाह करता, उससे अब कई माह तक काम चल सकता है, अथवा यों कहें कि जिससे एक परिवार का पालन होता, उससे अब अनेक परिवारों का हित होता है।

रूप-परिवर्तन द्वारा ऐसी उपयोगिता-वृद्धि भी होती है कि कच्चे माल का तैयार माल बन जाय। उदाहरण के लिए अन्न की रोटी बनायी जाती है, लकड़ी से मेज, कुर्सी आदि सामान बनाया जाता है, रूई से तरह-तरह के कपड़े बनाये जाते हैं। इस प्रकार विविध शिल्प और उद्योग धन्धे, रूपान्तर द्वारा होने वाली उपयोगिता-वृद्धि के उदाहरण हैं।

उपयोगिता का सही अर्थ—यहाँ उपयोगिता का वास्तविक अर्थ विचारणीय है। वर्तमान अर्थशास्त्र और सर्वोदय अर्थशास्त्र में, इस विषय में मौलिक मत-भेद है। वर्तमान अर्थशास्त्र ऐसी प्रत्येक क्रिया को उपयोगिता बढ़ाने वाली कहता है, जो किसी वस्तु या सेवा को पहले से अधिक मूल्यवान या कीमती बना दे। उसकी उपयोगिता की कसौटी विनिमय-मूल्य है, वह उपयोगिता का

माप पैसे से करता है। इसी विचारधारा के कारण आजकल पदार्थों के रूप-परिवर्तन की क्रियाएँ उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं। वस्तुओं को अधिक आकर्षक, सुन्दर, लुभावनी या स्वादिष्ट बनाने की दिशा में नये-नये प्रयत्न किये जाते हैं। इससे अनेक दशाओं में उनकी वास्तविक उपयोगिता नहीं बढ़ती, वे स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो जाती हैं। उदाहरण के लिए धान को मिलों में कूट कर उसका केवल छिलका ही नहीं उतारा जाता, वरन् चावल का ऊपरी हिस्सा भी घटा दिया जाता है, जिससे वह बहुत सफेद और चमकीला हो जाय। इस चावल में पोषक तत्व कम रह जाता है, और यह 'बेरीबेरी' आदि रोग पैदा करता है। दालों को पालिश किया जाता है; हल्दी, सोंठ, इलायची आदि मसालों को रंगा जाता है; यहाँ तक कि मिठाइयों में रंग डाला जाता है। ऐसे रूप-परिवर्तन से असल में उपयोगिता-वृद्धि नहीं होती, वरन् उपयोगिता घटती ही है। आदमी यह कार्य अपने मुनाफे या स्वार्थ के लिए करते हैं। इस लिए असल में यह कार्य उत्पत्ति के अन्तर्गत् नहीं माना जाना चाहिए; चाहे बाजार में ऐसे पदार्थ ऊँचे भाव से बिकते हों। तो फिर उपयोगिता किसे कहना चाहिए?

इसका उत्तर गांधीजी के शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है:—'उपयोगी वह है, जिससे मानव जाति का भरण-पोषण हो; भरण-पोषण वह है जिससे मनुष्य को यथेष्ट भोजन- वस्त्र मिल सके, या जिससे वह नीति के मार्ग पर स्थित होकर आजीवन श्रम करता रहे।'* इस प्रकार किसी वस्तु की उपयोगिता-वृद्धि की कसौटी यह है कि वह मनुष्य के जीवन-निर्वाह या नैतिक विकास में पहले की अपेक्षा कितनी अधिक सहायक हुई है।

विनिमय—आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में उत्पत्ति और उपयोग के बीच में विनिमय और वितरण ने अत्यधिक महत्व प्राप्त कर रखा है। यह ठीक है कि जिन दशाओं में मनुष्य स्वावलम्बी नहीं हो सकता, वह दूसरों की सहायता ले, और उनकी आवश्यकतानुसार उन्हें सहायता दे। पर यह कार्य उसी सीमा तक होना उचित है, जहाँ तक यह दोनों के पक्ष में हितकर अर्थात् दोनों के विकास और प्रगति में सहायक हो। अस्तु, समाज में पदार्थों का अदल-बदल, एक

---

* 'सर्वोदय' पुस्तक से।

सीमित परिमाण में ही आवश्यक और उपयोगी है। आधुनिक संसार में प्रायः पदार्थों का सीधा अदलबदल न हो कर उनका मुद्रा या नोटों द्वारा क्रय-विक्रय होता है। इसे विनिमय कहते हैं।

विनिमय में वस्तुओं के अधिकारियों या स्वामियों का परिवर्तन तो होता ही है; कुछ दशाओं में उसके साथ ही स्थान-परिवर्तन भी हो सकता है। जब वस्तु का क्रय-विक्रय उसी स्थान (गाँव या नगर) के आदमियों के हाथ होता है तो इस विनिमय में खासकर अधिकारी-परिवर्तन होता है। इसके विपरीत, जब वस्तु को दूसरे गाँव या नगर में लेजाकर बेचा जाता है तो इसमें स्थान और अधिकारी दोनों का परिवर्तन होता है। दोनों ही दशाओं में लोकसेवा की भावना भी हो सकती है, और स्वार्थ-साधन या मुनाफे की भी। आजकल अधिकांश व्यापारियों का उद्देश्य लोकहित न होकर नफा कमाना अर्थात् स्वार्थ-साधन करना होता है। वर्तमान अर्थात् पश्चिमी अर्थशास्त्र इसकी कोई निन्दा नहीं करता, परन्तु सर्वोदय अर्थशास्त्र इसे सर्वथा अनुचित या त्याज्य मानता है।

सर्वोदय अर्थशास्त्र में विनिमय के अन्तर्गत यह विचार किया जाता है कि देश के जुदा-जुदा हिस्सों में वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं को लक्ष्य में रख कर किया जाय, जिससे आम तौर पर किसी स्थान के आदमी को अपनी वस्तुएँ बिक्री के लिए दूर-दूर भेजना न पड़े; जो वस्तुएँ स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति होने के उपरान्त बचें, उन्हें ही बाहर भेजा जाय; और वह भी ऐसे स्थानों में जहाँ उनकी उत्पत्ति कम होने से वे बहुत आवश्यक हों। इस प्रकार व्यापार बहुत सीमित हो और उसमें पैसे की प्रभुता न हो तथा उसका उद्देश्य मुनाफा न होकर लोकसेवा हो।

वितरण—आजकल बहुत से पदार्थों का उत्पादन केन्द्रित रूप में और बड़े पैमाने पर होता है। योजक या व्यवस्थापक को अपने साधनों पर निर्भर न रह कर दूसरों के साधनों का आश्रय लेना होता है। वह किसी से भूमि लेता है, किसी का श्रम, और किसी की पूँजी। इससे इन साधनों के मालिकों को इनका प्रतिफल—लगान, मजदूरी और सूद—देकर बाकी सब को व्यवस्थापक अपने मुनाफे के रूप में ले लेता है। इस अर्थव्यवस्था का मूल मुनाफा ही है।

सर्वोदय अर्थशास्त्र बतलाता है कि एक परिवार या परिवार-समूह के आदमी मिलकर अपने श्रम से और अपनी पूँजी से अपनी मुख्य आवश्यकताओं का सामान पैदा करें जिससे यथा-सम्भव लगान, मजदूरी और सूद का प्रश्न ही न हो, मुनाफे की बात न उठे, और वितरण की जटिलता का अन्त हो।

अर्थव्यवस्था और राज्य—ऊपर बताये हुए चार विषयों के अतिरिक्त अर्थशास्त्र में यह भी विचार किया जाता है कि अर्थव्यवस्था का राज्य से क्या सम्बन्ध है। बात यह है कि मनुष्यों को, समाज या समूहों में रहने की दशा में, कुछ काम ऐसे कराने होते हैं, जो सब के हित के होते हैं और सामूहिक रूप से किये जाते हैं। इनके लिए आदमी अपनी ओर से कुछ सत्ता उन लोगों को देते हैं, जो इनके करने के वास्ते नियुक्त होते हैं। इस प्रकार राजसत्ता का निर्माण होकर वह जनता के वास्ते आवश्यक कार्य करती है या उनमें योग देती है। इन कार्यों में जो खर्च होता है, वह निर्धारित नियमों के अनुसार जनता से वसूल किया जाता है।

सर्वोदय अर्थशास्त्र में स्वावलम्बन का लक्ष्य रहता है, अतः यह विचार करना होगा कि जनता किस प्रकार अपने कार्यों के लिए सरकार पर कम-से-कम निर्भर रहे, और इस दृष्टि से शासन-व्यवस्था कैसी हो। इस प्रकार अर्थशास्त्र का एक भाग 'अर्थव्यवस्था और राज्य' होगा।

अर्थशास्त्र के भागों का सही महत्व—अर्थशास्त्र के उपर्युक्त पाँच भागों में से, वर्तमान अवस्था में उत्पत्ति को प्रधानता दी जाती है; और उत्पादन प्रणाली दूषित होने से, अर्थात् उत्पादन के बड़े पैमाने पर एक-एक स्थान में केन्द्रीकरण होने से तथा उत्पन्न पदार्थों का उपयोग बहुत दूर-दूर तक होने के कारण, इस अर्थव्यवस्था में विनिमय और वितरण को बहुत महत्व मिला हुआ है। विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं और साधनों ने विशाल स्वरूप धारण कर रखा है। इनके लिए कितनी व्यवस्था की जाती है, यह आगे बताया जायगा। इसी प्रकार वर्तमान अर्थव्यवस्था में वितरण की एक जटिल समस्या उपस्थित है और इसे हल करने के लिए विविध विचारधाराएँ सामने आती हैं। विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विनिमय और वितरण तो उपयोग के सहायक मात्र हैं।

इनके कारण, सरकार के आर्थिक कार्यों का बढ़ना अनुचित है। सामाजिक जीवन के आरम्भ में सरकार का कार्यक्षेत्र बहुत ही परिमित ही था, यह क्रमशः बढ़ता गया। अब अनेक विचारक राज्य-हीन या शासन-निरपेक्ष समाज की कल्पना ही नहीं, आशा भी करते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र में विनिमय, वितरण और सरकारी कार्यों का महत्व वर्तमान काल की विशेष परिस्थितियों के कारण बहुत बढ़ा हुआ है; साधारण स्वाभाविक अवस्था में इनका स्थान गौण होना चाहिए।

सर्वोदय अर्थशास्त्र में इनका स्थान गौण ही है। यह अर्थशास्त्र उत्पत्ति और उपयोग का सामंजस्य करता अर्थात् मेल बैठाता है। इसके अनुसार रोज-मर्रा की बुनियादी आवश्यकताओं के लिए प्रत्येक ग्राम या ग्राम-समूह स्वावलम्बी होना चाहिए, अर्थात् उसे जिन चीजों की जरूरत हो, वे अधिकांश में वहाँ ही तथा विकेन्द्रित उत्पादन से ही पूरी की जायँ। केवल कुछ खास-खास चीजें ही बाहर से मंगायी जाय, वे भी यथा-सम्भव पड़ोसी क्षेत्र से ही। इस प्रकार विनिमय और वितरण का क्षेत्र सीमित किया जाय; ये बहुत ही कम रहें। विकेन्द्रित और स्वावलम्बी उत्पादन पद्धति से यही होता है। इस प्रकार सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार सरकार के आर्थिक कार्य बहुत ही सीमित रह जाते हैं। अन्त में अर्थशास्त्र के भागों में से केवल उपयोग और उत्पत्ति रह जाते हैं। इनमें से भी, सर्वोदय अर्थशास्त्र उपयोग को प्रधानता देकर, उसी की दृष्टि से उत्पत्ति करने का आदेश करता है; अगले खंड में हम उपयोग का ही विचार करेंगे।

दूसरा खंड

उपयोग

४—उपयोग का लक्ष्य
५—हवा, प्रकाश, पानी और मिट्टी
६—भोजन
७—वस्त्र
८—मकान
९—शिक्षा
१०—स्वास्थ्य और मनोरंजन
११—रहनसहन का दर्जा और जीवन-स्तर

धनी के घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी-मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं; दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता-भर को ही संग्रह करें तो किसी को तंगी न हो और सब को सन्तोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे संतोष नहीं रहता। कंगाल करोड़पति होना चाहता है, उसे पेट भरने-भर को ही पाकर संतोष होता दिखायी नहीं देता। परन्तु कंगाल को पेट-भर पाने का अधिकार है, और समाज का धर्म है कि उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने संतोष के लिए शुरुआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यंत परिग्रह त्याग दे तो दरिद्र के काम-भर को सहज में मिल जाय और दोनों पक्ष संतोष का सबक़ सीखें।

—गांधीजी

चौथा अध्याय

उपयोग का लक्ष्य

तू करोड़ों खुशी से कमा। लेकिन समझले, तेरा धन सिर्फ तेरा नहीं, सारी दुनिया का है। इस लिए जितनी तेरी सच्ची ज़रूरतें हैं, उतनी पूरी करने के बाद जो बचे, उसका उपयोग समाज के लिए कर।

—गाँधी जी

अर्थशास्त्र के कौन-कौन-से भाग होते हैं, इसका विचार पहले किया जा चुका है। अब एक-एक भाग के सम्बन्ध में खुलासा लिखा जायगा। पहले उपयोग को लेते हैं।

उपयोग का महत्व—उपयोग का महत्व उत्पादक तथा उपयोक्ता दोनों की दृष्टि से है। पहले उत्पादक की बात लीजिए। आदमी ऐसी ही चीज़ें बनाता या पैदा करता है, जो या तो स्वयं उसके काम आयें, या जिन्हें दूसरों को देकर उनसे वह अपनी ज़रूरत की चीज़ें ले सके। इस प्रकार यह आवश्यक है कि हम जो वस्तुएं उत्पन्न करें, वे ऐसी हों, जिनका उपयोग होता हो। हम अनुपयोगी वस्तुओं का उत्पादन न करें। साथ ही हमें यह भी विचार रखना चाहिए कि हम अपनी सुविधा या लाभ के लिए ऐसी वस्तुओं का उत्पादन न करें, जो लोक-हित की दृष्टि से हानिकर हों। इस प्रकार उत्पादकों के लिए उपयोग का विषय बहुत विचारणीय तथा महत्वपूर्ण है।

दूसरी ओर उपयोग करने वालों की दृष्टि से भी यह विषय कम महत्व का नहीं। यदि हम आवश्यक वस्तुओं का उपयोग न करें तो हमारी जीवन-शक्ति क्षीण होने से उत्पादन-क्षमता भी कम हो जाती है। ऐसी दशा में हमें अपने खाने-पहनने को भी पूरा नहीं मिल सकता। इसका परिणाम यह हो सकता है कि अन्तः हम जीवित ही न रहें। फिर, प्रायः उपयोक्ताओं की रुचि और इच्छाओं को देख कर ही उत्पादक तरह-तरह की वस्तुएं बनाते हैं। यदि देश में

शौकीनी, भोग विलास और ऐश्वर्य आदि का सामान बहुत बड़े परिमाण में बनाया जाता है तो इसके लिए उत्पादक तो दोषी हैं ही, पर उसका मुख्य दायित्व उन लोगों पर है जो इन चीजों का उपयोग करते हैं। उत्पत्ति की बाग-डोर उनके ही हाथ में है; वे अपनी सुरुचि और संयम का परिचय देकर देश के उत्पादकों का उचित पथ-प्रदर्शन और नेतृत्व कर सकते हैं। इन बातों से उपयोग का महत्व स्पष्ट है।

उपयोग का लक्ष्य, सुख की प्राप्ति—उपयोग सम्बन्धी विविध बातों का विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि उपयोग का क्या लक्ष्य है, अथवा क्या होना चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य में जीवित रहने की स्वाभाविक अभिलाषा है, पर वह सुख-पूर्वक जीना चाहता है, दुख या क्लेश भोगते हुए नहीं। वह विविध कार्य इसीलिए करता रहता है कि उसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, उसका जीवन आनन्दमय हो। प्रत्येक व्यक्ति आनन्द की खोज में है, उसकी सारी दौड़–धूप का उद्देश्य इसी की प्राप्ति है। हम खाना खाते हैं तो सुख के लिए, कपड़ा पहनते हैं तो सुख के लिए, मकान बना कर रहते हैं तो सुख के लिए। अन्य तरह-तरह के पदार्थों के उपयोग करने में भी हमारा हेतु यही रहता है। मनुष्य जाति आरम्भ में इनी–गिनी वस्तुओं का उपयोग करती थी, धीरे-धीरे उपयोग के लिए नयी-नयी वस्तुओं का आविष्कार किया गया। 'सभ्यता' की वृद्धि के साथ उपयोग में आने वाली वस्तुओं की संख्या या परिमाण बढ़ता गया। आजकल के साधारण ग्रामीण के भी रहन-सहन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके द्वारा होने वाला उपयोग कितना बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है। यह प्रगति सुख-प्राप्ति की लालसा से की गयी है। इस प्रकार उपयोग का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है।

सुख की पहचान, हितकारी और स्थायी सुख—प्रायः सुख से हम ऐसे ही सुख का आशय लिया करते हैं, जो खाने पहिनने, सूंघने या सुनने आदि से मिलता है। यह इन्द्रिय-सुख या शरीर-सुख है, और कितने ही आदमियों के लिए यही सब-कुछ नहीं, तो बहुत-कुछ होता है। परन्तु वास्तव में मनुष्य केवल उसका शरीर नहीं है, और उसका सुख केवल शारीरिक सुख में ही नहीं समा

सकता । शरीर-सुख बहुधा क्षणिक या अस्थायी होता है । अनेक बार तो उसके बाद बहुत कष्ट भोगना पड़ता है । हम जीभ के स्वाद से जब खूब भोजन कर लेते हैं तो पहले तो सुख मालूम होता है, पर पीछे बीमार पड़ कर अपने किये पर पछताते हैं । श्री काका कालेलकर ने कहा है—

'सुख की चाह तो सबों को है, लेकिन सब लोग सुख को पहचानते नहीं हैं । इसीलिए भगवान को अपने गीता शास्त्र में सुख का कुल विवेचन करना पड़ा । उन्होंने सुख के तीन प्रकार बताये हैं और उनमें से जो सुख सबसे अधिक हितकारी, स्थायी और उन्नतिकर है, उसे सात्विक सुख कहा है; और उसकी व्याख्या करते हुए कहा कि जो शुरू में ज़हर के जैसा कड़वा और अरुचिकर मालूम होता है, लेकिन अन्त में अमृत के जैसा स्वादिष्ट और कल्याणकारी है, वही सात्विक सुख है । हमारे सामाजिक जीवन में न्यायनिष्ठा, सदाचार और विश्वबन्धुत्व शुरू में कड़वा सा लगता है, स्वार्थ का विनाशक सा मालूम होता है, लेकिन अन्त में वही सुखमय और अमृतमय है । उपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि जिनमें हिम्मत नहीं है, वे अल्प सुख को—प्रेय को—पसन्द करते हैं; और जो सयाने हैं, दीर्घदर्शी हैं, वे स्थायी सुख को सर्वसुख को, श्रेय को पसन्द करते हैं । महात्मा जी ने हमें हमेशा इस श्रेय-सुख का ही रास्ता बताया है ।'*

संसार में कुछ आदमी भावी जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न किया करते हैं और कुछ तो अगले जन्म के सुख के लिए तरह-तरह के दान-धर्म, व्रत, उपवास आदि भी करते हैं, तथापि प्रायः आदमी तात्कालिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, चाहे वह अल्पकालीन ही हो । इस प्रकार वह सोचता है कि आज का दिन, वर्तमान समय अच्छी तरह मौज से बीते । वह कल की, भविष्य की चिन्ता नहीं करता । वह भावी सुख के लिए, चाहे वह दीर्घकालीन ही हो, आज के सुख या आराम का त्याग करना नहीं चाहता । इस प्रकार आदमी भोग विलास और फैशन या शौकीनी का जीवन बिताने का इच्छुक रहता है । इसमें जो सुख प्रतीत होता है, वह अल्पकालीन ही होता है; पीछे इसकी आदत पड़

* 'सर्वोदय', अगस्त १९४९.

जाने पर इसकी अधिकाधिक आवश्यकता होने लगती है, ज़रूरतें बढ़ती जाती हैं, और पूर्ति न होने से शरीर को ही नहीं, मन को भी कष्ट होता है। इसलिए हमें चाहिए कि विविध पदार्थों का उसी सीमा तक उपयोग करें, जितना अत्यन्त आवश्यक हो, अर्थात् भोग-विलास, शौक, नशे आदि के लिए उपयोग न करें। हम उपयोग में दूरदर्शिता से काम लें, जिससे इस समय कुछ असुविधा भी सह कर, अपने तात्कालिक सुख में कुछ कमी करके भी पीछे दीर्घ काल तक सुख पायें। उदाहरण के लिए आदमी अपना द्रव्य क्षणिक सुख देने वाले मादक पदार्थ में खर्च न कर पौष्टिक भोजन में करे, जिससे शरीर को वास्तविक और दीर्घकालीन लाभ हो। इसी प्रकार धन खर्च करने के अन्य उदाहरण लिये जा सकते हैं।

सुख का क्षेत्र—मनुष्य एकाकी नहीं, सामाजिक प्राणी है। उसे समाज के सुख-दुख का ध्यान रखना होता है। समाज के सुख में उसका सुख है, और समाज के दुःख में उसका दुःख है; भले ही वह इस बात को न समझे या न विचारे। माँ अपने बच्चों को सुख देने के लिए स्वयं अनेक प्रकार के कष्ट उठाती है, और इसमें सुख का अनुभव करती है; कारण बच्चों का सुख माँ का अपना सुख है। स्त्री-पुरुष एक दूसरे को सुखी करने के लिए उत्सुक रहते हैं, यह कौन नहीं जानता! इसी तरह हम परिवार के अन्य सदस्यों के सुख में अपना सुख मानते हैं। हमारे विचार का क्षेत्र बढ़ता है तो हम अपने मुहल्ले, ग्राम या नगर के लिए सुख के साधन जुटाने की बात सोचते हैं और आगे बढ़ कर, हम देश-प्रेम या राष्ट्र-भक्ति आदि का विचार करते हैं। हमारे विकास की यही चरम सीमा नहीं है। इसके आगे की मंजिल विश्वबंधुत्व या मनुष्य-मात्र का भाईचारा है, जिसे 'सर्वे सुखिनः भवन्तु' या सर्वोदय में प्रकट किया गया है। आदर्श तो 'सर्व भूत हिते रतः' अर्थात् प्राणी-मात्र के सुख का विचार रखना है। अस्तु, मनुष्य के सुख का क्षेत्र, उसकी ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता जाता है; यहाँ तक कि उसे यह अनुभव होता है कि यथा-सम्भव उसे सबके सुख का ख्याल रखना चाहिए, किसी को भी कष्ट न दिया जाय; यहाँ तक कि वृक्षों और बनस्पति आदि की भी रक्षा और वृद्धि तथा खनिज आदि प्राकृतिक पदार्थों का भी संरक्षण आवश्यक है। अस्तु, इस विषय के विस्तार में न जा कर हमें

यहाँ यही कहना है कि मनुष्य के सुख का क्षेत्र विश्वव्यापी है, उसे छोटे दायरे में सीमित करना उसके अज्ञान का सूचक और उसके वास्तविक तथा दूर के स्वार्थ में बाधक है । आदमी को चाहिए कि अपने सामने उपयोग का लक्ष्य स्थायी, हितकर और सात्विक सुख अर्थात् श्रेय रखे ।

उपयोग और आवश्यकताएँ—हम अनेक बार अपनी आवश्यकताओं का ठीक विचार न करके ऐसा उपयोग करते हैं, जिससे हमें क्षणिक अर्थात् थोड़ी देर का ही सुख मिलता है, और पीछे बहुत कष्ट उठाना पड़ता है, हमारा स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, मन में विकार पैदा होता है, हमारा विकास रुक जाता है और समाज-हित में बाधा होती है। इससे स्पष्ट है कि आवश्यकताओं का विषय बड़ा महत्व-पूर्ण है । आजकल मनुष्य ने अपनी भौतिक आवश्यकताएँ बहुत बढ़ा रखी हैं, और वह उन्हें बढ़ाता ही जाता है। आवश्यकताओं के कम या ज्यादा होने के आधार पर समाज में बहुत भेद-भाव उपस्थित है । जिन आदमियों को अधिक आवश्यकताएँ पूरी करने के साधन प्राप्त हैं, उन्हें ऊँचे वर्ग का माना जाता है, और दूसरों को नीचे वर्ग का । इस प्रकार का भेद बहुत अनिष्टकारी है । गांधीजी ने कहा है—

'किसी भी उच्च वर्ग और आम जनता के, राजा और रंक के बीच के बड़े भारी भेद को यह कहकर उचित नहीं मान लेना चाहिए कि पहले की आवश्यकताएँ दूसरे से बढ़ी हुई हैं । आज के अमीर और गरीब के भेद से दिल को चोट पहुँचती है ।'

प्राथमिक आवश्यकताएँ; उपयोग में सामाजिक दृष्टि होनी चाहिए—मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएँ प्रकाश, हवा, जल, भोजन-वस्त्र और मकान हैं । प्रकाश और हवा को प्रकृति ने सर्वत्र सुलभ किया है, और इन्हें असीमित मात्रा में दिया है, ये सबके ही उपयोग के लिए हैं । अतः इन पर किसी व्यक्ति या संस्था का अधिकार नहीं माना जाना चाहिए । उदाहरण के लिए किसी को यह अधिकार न होना चाहिए कि अणुबम या कीटाणु-बम द्वारा इन्हें दूषित कर सके । यही बात जल के सम्बन्ध में है । जमीन के नीचे से जल खींच कर लाने में परिश्रम की आवश्यकता होती है, इसलिए उस पर व्यक्ति या परिवार का

अधिकार मान लिया जाता है, तथापि कुएँ या बावड़ी आदि के जल का उपयोग दूसरे आदमी भी अपनी-अपनी आवश्यकता के लिए करते हैं; इस प्रकार व्यवहार में इस जल पर भी व्यक्तिगत उपयोग के लिए समाज का अधिकार मान्य होता है। फिर प्राकृतिक तालाब नाले नदी आदि तो समाज के हैं ही; और होने भी चाहिए।* इसलिए इनके उपयोग में सामाजिक दृष्टि रहनी चाहिए। गम्भीर विचार करने से इसका अर्थ यह है कि इनके उपयोग में यह ध्यान में रखा जाय कि ये वर्तमान पीढ़ी के लिए ही नहीं, आनेवाली पीढ़ियों के लिए भी हैं; इसलिए इनका अंधाधुंध उपयोग न कर मितव्ययिता या किफायत करनी चाहिए।

भोजन, वस्त्र, मकान आदि के लिए आदमी को श्रम करना होता है, इसलिए इन पर एक सीमा तक व्यक्ति या परिवार का अधिकार मान्य है। पर किसी व्यक्ति और परिवार को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह समाज का अंग है, इसलिए उस पर यह दायित्व है कि वह अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक इनका ऐसा उपयोग न करे जो समाज के व्यापक हित में बाधक हो।

आवश्यकताओं का नियंत्रण—साधारणतया आदमी आवश्यकताओं की पूर्ति में सुख का अनुभव करता है; परन्तु जब आवश्यकताएँ अनन्त हों, और नित्य नयी बढ़ती जाती हों तो अनेक आवश्यकताएँ हर दम अतृप्त रहने वाली ठहरीं। ऐसी दशा में आदमी को सुख कैसे मिल सकता है! तो क्या सभी आवश्यकताओं का नियंत्रण किया जाना चाहिए? क्या ऐसा करना सम्भव या व्यावहारिक है? यदि सब आवश्यकताओं का नहीं, तो कौन-कौनसी या किस प्रकार की आवश्यकताओं का नियंत्रण किया जाना अभीष्ट है?

प्राप्त सुख दीर्घकालीन अथवा अल्पकालीन होने की दृष्टि से आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं—(१) जिनकी पूर्ति से व्यक्तिगत तथा सामाजिक लाभ होता है, जैसे अपनी या अपने परिवार की जीवन-रक्षक या निपुणता-वर्द्धक भोजन-वस्त्र तथा शिक्षा आदि की आवश्यकता; दूसरों की भलाई की आवश्यकता, देशोन्नति की आवश्यकता। (२) जिनकी पूर्ति से क्षणिक सुख तो अवश्य

* भूमि के सम्बन्ध में अगले खंड में विचार किया जायगा।

मिलता है, पर अन्त में दुख ही होता है और दीर्घकालीन दृष्टि से समाज और देश को हानि पहुँचती है, जैसे मादक या उत्तेजक पदार्थों तथा विलासिता आदि की वस्तुओं का सेवन, अपने स्वार्थ के लिए हानिकर वस्तुओं का प्रचार या दूसरों का शोषण। इन दो प्रकार की आवश्यकताओं में प्रथम प्रकार की तो उचित हैं, और उनकी पूर्ति की जानी चाहिए; दूसरे प्रकार की आवश्यकताएँ अनिष्टकारी हैं, इनका नियंत्रण होना आवश्यक है।

मनोनिग्रह या इन्द्रिय-दमन—जो व्यक्ति अधिक तथा स्थायी संतोष और सुख पाना चाहता है, उसे अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखना बहुत जरूरी है। हमें अपनी कृत्रिम या ऐसी आवश्यकताओं को नियंत्रित करना चाहिए जो हमारी वास्तविक—शारीरिक, मानसिक और आत्मिक—उन्नति में बाधक हों, जिनसे लोकहित में रुकावट होती हो। अवश्य ही अपनी आवश्यकताओं के नियंत्रण में आदमी को आरम्भ में कुछ कष्ट प्रतीत होना स्वाभाविक है, परन्तु धीरे-धीरे उसे इसका अभ्यास हो जाता है और उसे वह शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिसे मनोनिग्रह या इन्द्रिय-दमन कहा जाता है। इस शक्ति से वह ऐसी आवश्यकताओं का नियंत्रण करे, जिनके कारण वह शौकीनी या भोग विलास के पदार्थों का उपयोग करने को प्रेरित होता है। हमारा आदर्श यह नहीं है कि सभी आवश्यकताओं को रोको, खाना-पीना भी बन्द कर दो और शरीर को सुखा डालो। हमारा लक्ष्य यही होना चाहिए कि जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपयोग करो; पर इसमें विवेक से काम लो, मर्यादा का ध्यान रखो दूसरों के हित का भी विचार करो। जीओ और जीने दो—यही नहीं, दूसरों को जीवित रखने के लिए, समाज के सुख और कल्याण के लिए अपना जीवन बिताओ। वास्तव में यही जीवन है; इसी में सच्चा और असली सुख है।

आवश्यकताएँ मनुष्य के बड़प्पन की मापक नहीं—आवश्यकताओं के नियंत्रण की बात कुछ पाठकों को बहुत खटकेगी। आजकल प्रायः आदमी के बड़प्पन का माप उसकी भौतिक आवश्यकताओं से किया जाता है। जिस व्यक्ति की आवश्यकताएँ जितनी अधिक होती हैं, उतना ही उसे ऊँचे दर्जे का तथा अधिक सभ्य माना जाता है, और समाज में अधिक प्रतिष्ठा दी

जाती है। असल में होना यह चाहिए कि जो व्यक्ति समाज की जितनी अधिक सेवा करे और उसकी उन्नति में जितना अधिक सहायक हो तथा अपनी निजी आवश्यकताएँ जितनी कम रखे, उसे उतना ही अधिक सभ्य माना जाय और अधिक आदर-मान मिले।

आवश्यकताओं सम्बन्धी आदर्श—आजकल तो 'सभ्य' आदमी अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाता ही रहता है; साथ ही जितने पदार्थों की उसे तत्काल जरूरत होती है, उससे भी अधिक अपने पास रखना चाहता है। वह समाज के दूसरे लोगों की जरूरत का ध्यान नहीं रखता। इससे बड़ा अनर्थ हो रहा है। आवश्यकताओं के सम्बन्ध में हमारा आदर्श क्या होना चाहिए—इस विषय में गांधीजी की आगे दी हुई पंक्तियाँ पथ-प्रदर्शक हैं—

'यदि मैं कोई ऐसी वस्तु रखता या लेता हूँ जो मेरी तात्कालिक आवश्यकता की नहीं है तो मैं किसी दूसरे की चोरी करता हूँ। मैं यहाँ तक कहने का साहस करता हूँ कि यह प्रकृति का अपवाद-रहित नियम है कि वह हमारी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में प्रदान करती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक न ले तो संसार में दरिद्रता का लोप हो जाय; संसार का एक भी व्यक्ति भूखों न मरे।

गांधीजी का मत है कि हमें अपनी आवश्यकताओं में सामंजस्य लाना चाहिए और जनहित के लिए स्वेच्छा-पूर्वक भूखे भी रहना चाहिए ताकि उनका भोजन-वस्त्र द्वारा भरण-पोषण होता रहे। उपयोग में ऐसा संयम और त्याग-भाव रहने से ही यथेष्ट लोकहित हो सकता है।

सदुपयोग और दुरुपयोग—आवश्यकताओं के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि उपयोग के बारे में हर एक आदमी को बहुत विचार करने की जरूरत है। यद्यपि, जैसा कि पहले कहा गया है, उपयोग वास्तव में वही है, जिससे व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित हो, साधारण तौर पर उसके दो भेद किये जाते हैं—सदुपयोग और दुरुपयोग। सदुपयोग उसे कहते हैं, जिससे उपयोक्ता के साथ समाज या देश को भी लाभ हो। उदाहरण के लिए जो व्यक्ति पदार्थों का उपयोग

इस प्रकार करता है कि उससे उसके जीवन का रक्षण और पोषण होता है, अथवा उसकी सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तो उसके द्वारा किया जाने वाला उपयोग सदुपयोग कहा जायगा। इसी प्रकार समाजोपयोगी संस्थाओं स्कूल, वाचनालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, कृषि, ग्रामोद्योग आदि में सहायता करना सदुपयोग है।

अब दुरुपयोग की बात लें। दुर्भाग्य से प्रत्येक देश में दुरुपयोग काफी होता है; भारत में भी इसकी कमी नहीं। कुछ दुरुपयोग तो ऐसा होता है, जिसमें उपयोक्ता की नीयत या उद्देश्य बुरा नहीं होता। वह अपने अज्ञान, आलस्य अथवा लाचारी से अपनी तथा समाज की, दोनों की हानि करता है। इसके कुछ उदाहरण मादक पदार्थों का सेवन, अविवेकता-मूलक दान धर्म, कुरीतियों में होने वाला अपव्यय, झूठी मुकदमेबाजी, सम्पत्ति को गाड़ कर रखना, जेवर बनवाना आदि हैं।

दूसरे प्रकार का दुरुपयोग वह है, जिसे उपयोक्ता अपने निजी लाभ, सुविधा या शौकीनी आदि के लिए करता है पर जिससे समाज को हानि पहुँचती है, जैसे बहुत से शौकीन आदमी विलासिता की वस्तुओं का सेवन करते हैं। कितने ही आदमी सड़क के बीच में कूड़ा या मैली वस्तुएं फेंक देते हैं, नालियों में टट्टी फिरते हैं, नल से पानी लेकर उसे खुला ही छोड़ देते हैं, नदी या तालाब में स्नान करते हुए पानी का कुल्ला करते हैं, रेल के डिब्बे में यात्रा करते हुए वहाँ ही थूकते रहते हैं। ये लोग अपनी जरा सी सुविधा के लिए सड़क, नाली, नदी, तालाब या रेल के डिब्बे आदि का दुरुपयोग करते हैं, जिससे समाज की बहुत हानि पहुँचाती है।

दुरुपयोग और आदतें—ऊपर दुरुपयोग के थोड़े से विषयों का उल्लेख किया गया है, दूसरी बातों का विचार पाठक स्वयं करलें। बहुत से दुरुपयोग का कारण, मनुष्यों की आदतें होती हैं। जब आदमी दूसरे की देखा-देखी, या गलती से एक बार दुरुपयोग करने लग जाता है तो कुछ समय बाद उसे उसकी आदत ही पड़ जाती है; फिर, ज्यों-ज्यों समय बीतता है, वह आदत पक्की हो जाती है और और उसका छूटना कठिन हो जाता है। हरेक आदमी को चाहिए कि बुरी

आदतों का शिकार होने से बचे, आरम्भ से ही अच्छी संगत में रहे, और सात्विक साहित्य का अवलोकन करे।

क्या धनवान अपना धन खर्च करने में स्वतंत्र रहें ?—धनवान लोग प्रायः कह देते हैं कि हम अपना धन अपनी इच्छानुसार खर्च करें, इसमें किसी को आपत्ति क्यों होती है ! उनका यह कथन भ्रममूलक है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उनके पास जो धन है, वह उन्होंने अकेले-अकेले नहीं पैदा किया। उसकी उत्पत्ति समाज द्वारा दी हुई सुविधाओं और परिस्थितियों से हुई है। समाज के अन्य लोगों का सहयोग न होता तो उनके पास यह सम्पत्ति कदापि न आती। इस प्रकार इस सम्पत्ति की उत्पत्ति का बहुत-कुछ श्रेय समाज को है, और इसलिए इसके उपयोग में समाज-हित का ध्यान रखा जाना आवश्यक है। अगर धनवान मनुष्य मनमाने तौर पर आराम और विलासिता के पदार्थों को खरीदें तो इसका नतीजा यह होगा कि जीवन-रक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों की पैदायश घट जायगी। इनकी कीमत बढ़ जाने से गरीब और मध्य श्रेणी के लोग इन वस्तुओं को उपयुक्त परिमाण में सेवन न कर सकेंगे। इससे उनका स्वास्थ्य, बल और कार्यक्षमता का ह्रास होगा; उत्पत्ति कम और घटिया होती जायगी और सारे समाज को हानि पहुँचेगी। इससे स्पष्ट है कि धनवानों को अपना धन विलासिता के पदार्थों में खर्च करने की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए।

कुछ धनी लोग कह दिया करते हैं कि 'हमारी बदौलत मजदूरों को काम मिलता है, बेकारी दूर होने में सहायता मिलती है, परन्तु जब देश में जीवन-रक्षक तथा निपुणता-वर्द्धक पदार्थ ही सब लोगों को सुलभ न हों तो आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को इनके उत्पादन में लगाया जाय। ऐसा न करके उन्हें विलासिता के पदार्थ तैयार करने में लगाना सरासर गलत है, घोर सामाजिक अपराध है। वास्तव में धनवानों के उक्त कथन में कोई सार नहीं, उनका लक्ष्य परोपकार या समाज-हित न होकर अपनी भोगेच्छाओं को पूरा करना होता है, और वे बेकारी-निवारण आदि की झूठी आड़ लेते हैं।

समय के सदुपयोग की आवश्यकता—हमने ऊपर कुछ प्रकार के दुरुपयोगों से बचने और सदुपयोग करने की बात कही है। ये तो उदाहरण मात्र हैं।

इसी तरह अन्य वस्तुओं के विषय में विचार किया जा सकता है; कुछ आदमी करते भी हैं। पर एक बात जिसकी ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से जाने की आवश्यकता है, यह है कि समय का सदुपयोग किया जाय। जो लोग दूसरे विषयों में बहुत मितव्ययी और दूरदर्शी होते हैं, वे भी कभी-कभी अपना बहुत सा समय नष्ट करने के दोषी होते हैं। कितने ही आदमी गपशप में घन्टों गुजार देते हैं। कितने ही युवकों को अनेक बार, करने को कुछ काम ही नहीं मिलता, वे 'समय काटने' के लिए कुछ फालतू काम की खोज करते हैं और ताश, शतरंज, सिनेमा आदि मनोरंजनों में भाग लेते हैं। शिक्षा-संस्थाओं में, खासकर कालिजों और विश्वविद्यालयों में, साल भर में कुल मिला कर छह-छह माह तक की छुट्टियाँ होती हैं, पर कितने विद्यार्थी अपने उस समय का ठीक उपयोग करते हैं! और, विद्यार्थियों को ही क्या कहा जाय जब कि उनके शिक्षक, प्रोफेसर आदि भी इस विषय में प्रायः अच्छा उदाहरण उपस्थित करने वाले नहीं होते। अनेक किसानों को जब खेती का काम नहीं रहता तो वे कताई आदि उद्योग धन्धा करने का विचार नहीं करते। मजदूरों को जब छुट्टी मिलती है तो वे बीड़ी पीकर अपना समय बिताते हैं। इस तरह जिस राष्ट्र में समय रूपी धन का ऐसा दुरुपयोग होता हो, वह किस प्रकार सुख समृद्धि की आशा कर सकता है! आवश्यकता है, प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के एक-एक घन्टे का ठीक उपयोग करे। इसके लिए प्रति दिन डायरी में समय का हिसाब लिखते रहने से बहुत सहायता मिल सकती है। निदान, हम अपने जीवन में प्रत्येक वस्तु का, एवं समय की प्रत्येक इकाई का यथेष्ट सदुपयोग करें, तभी हमारा मानव जीवन सार्थक होगा।

उपयोक्ताओं का कर्त्तव्य—प्रत्येक उपयोक्ता को चाहिए कि वह उपयोग के लक्ष्य का ध्यान रखते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करे। वास्तव में उस पर बहुत जिम्मेवारी है। जिस तरह की वस्तुओं का वह उपयोग करता है, उसी तरह की चीजों की उत्पत्ति देश में अधिक होती है। यदि वह भोग-विलास की सामग्री अधिक काम में लाता है तो देश की भूमि, श्रम और पूँजी इस सामग्री के उत्पादन में लग जाती है, और क्योंकि इनका परिमाण सीमित ही है, इसलिए इनका जितना अधिक भाग भोग-विलास की सामग्री में लगता है, उतना ही जीवन की

मूल आवश्यकताओं के लिए कम भाग रह जाता है, और इससे अनेक आदमियों को अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं से भी वंचित होने की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसलिए उपयोक्ता को इस विषय में सतर्क रहना चाहिए कि वह किस-किस प्रकार की वस्तु का उपयोग करता है।

यही नहीं, उसे यह भी सोचना चाहिए कि जिन वस्तुओं का वह उपयोग करता है, उनकी उत्पादन-विधि कैसी है, वह चुराई हुई तो नहीं है, उसके उत्पादन में भूमि और पूँजी का दुरुपयोग तो नहीं हुआ है, अथवा उसमें श्रमियों का शोषण तो नहीं किया गया है, उस उपयोग से समाज में बेकारी आदि तो नहीं बढ़ती है। इस प्रसंग में गाँधीजी का यह कथन बराबर याद रखने योग्य है—

'जो वस्तुएँ अत्यधिक शोषित मजदूरों ने उत्पन्न की हैं, उनको खरीदना और उपयोग करना पाप है। यह भी पाप है कि मैं अमरीका का गेहूँ खाऊँ और मेरा पड़ोसी अनाज का व्यापारी इसलिए भूखा मरे कि उसको कोई ग्राहक नहीं मिलता। इसी तरह मेरे लिए यह भी पाप है कि मैं 'रीजेन्ट स्ट्रीट' (विदेश) में तैयार बढ़िया से बढ़िया कपड़ा पहनूँ जब कि मुझे यह मालूम है कि मैं अपने पड़ोसी कातने वालों और बुनने वालों का तैयार किया हुआ कपड़ा पहनता तो उससे न केवल मेरा तन ढकता, बल्कि उनको भी भोजन-वस्त्र मिलता।'

हम अपने नजदीक के ही माल की उत्पादन-विधि आसानी से जान सकते हैं। इसलिए हमें दूर-दूर के स्थानों के माल का उपयोग करना ठीक नहीं (इससे यातायात का अनावश्यक विस्तार भी होता है)। जो व्यक्ति उत्पादन-विधि की बात पर यथेष्ट ध्यान देगा, और इस बात का निश्चय करना चाहेगा कि जिस माल का वह उपयोग करना चाहता है, वह नैतिक दृष्टि से शुद्ध है, उसके लिए आवश्यक है कि उन्हीं वस्तुओं से काम चलाये जो उसकी जानकारी के क्षेत्र में बनी हैं। अगर हमारे लिए यह जानना सम्भव नहीं है कि दूर से आयी वस्तु किस प्रकार के वातावरण में बनी है तो हमें अपना उपयोग खासकर अपने पड़ोसी या स्थानीय व्यक्तियों की बनायी वस्तुओं तक ही सीमित रखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, जब कि प्रत्येक उपयोक्ता कुछ वस्तुओं का उपयोग करके समाज में उनकी कमी करता है तो उसे उनकी पूर्ति का भी भरसक प्रयत्न करना

चाहिए। किसी राज्य में विरासत सम्बन्धी कानून चाहे जो हों, किसी उपयोक्ता का यह सोचना ठीक नहीं कि मैं तो अपने बाप-दादा की कमाई खाता हूँ, मुझ पर उत्पादन सम्बन्धी कोई जिम्मेवारी नहीं है। उपयोक्ताओं को उत्पत्ति में अपनी शक्ति-भर भाग लेना ही चाहिए।

सादगी से व्यय की बचत—उपयोग सम्बन्धी जो नीति वर्ती जाने के लिए ऊपर कहा गया है, उसका व्यवहार होने के लिए हमारे जीवन में सादगी होना आवश्यक है। सादगी होने से उत्पादन और विनिमय सम्बन्धी व्यर्थ का व्यय बहुत हद तक घटाया जा सकता है।

'आधुनिक ढङ्ग के जीवन की कितनी ही चीजें ऐसी हैं, जो सरलता से बनायी जा सकती हैं। परन्तु आज वैसा नहीं होता। उदाहरण के लिए दंत-मंजन हर गाँव में तैयार हो सकता है; मामूली कागज और स्याही हर तालुके के कस्बे में तैयार हो सकती है; चर्खे और कर्घे के खास तरह के यान्त्रिक भाग, उसी प्रकार का दूसरा घरेलू सरंजाम, असबाब आदि जिले के शहर में उतने क्षेत्र के लिए बन सकते हैं; साधारण परिस्थिति में किसी गाँव को अपनी खुराक, कपड़े, घर बाँधने के साधारण सामान आदि के बारे में दूसरे पर अवलंबित रहने की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए। लेकिन आज की जीवन-रचना में स्वदेशी का व्रत पालने वाले बम्बई के लोग भी कलकत्ते का दन्त-मंजन, केरल का साबुन, आन्ध्र की स्याही, राजस्थान का हाथ-कागज या टीटाघर का मिल-कागज, मद्रास या बंगाल का चमड़े का सामान, पंजाब की ताँत आदि खरीदते हैं, और उन्हीं वस्तुओं को उस प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्त से लेते हैं, यानी बम्बई का दन्त-मंजन कलकत्ते में और बंगाल का साबुन केरल में बिकता है। इस तरह माल का निष्कारण यातायात और खराबी होती है।'*

इस विषय पर विशेष अगले खंडों में लिखा जायगा। यह स्पष्ट है कि उपयोक्ता इधर ध्यान देकर, अपनी जीवन-व्यवस्था सरल करके, इस अनावश्यक व्यय और विनाश को बचा सकते हैं, और उन्हें बचाना चाहिए।

---

*श्री किशोरलाल मश्रूवाला की 'गांधी और साम्यवाद' पुस्तक से।

सादगी और सुख—हमने ऊपर आवश्यकताओं के नियंत्रण की बात कही है। यह ठीक है कि जब आदमी को भोग-विलास की आदत पड़ जाती है तो आवश्यकताओं का नियंत्रण करने से पहले-पहल कुछ कष्ट प्रतीत होता है। पर पीछे जब वह इनके नियंत्रण द्वारा बचाये हुए अपने धन और शक्ति को लोक-सेवा या परोपकार में लगाता है तो उसे ऐसे उच्च कोटि के तथा स्थायी आनन्द की प्राप्ति होती है, जो अन्य प्रकार से सम्भव ही नहीं। इसलिए हमें हमेशा दूसरों के हित का ध्यान रखते हुए त्याग-भाव से ही वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए।

सादा जीवन उच्च विचार—आदमी सादा जीवन बिता कर लोक-सेवा सम्बन्धी उच्च विचार रखता हुआ स्थायी सुख प्राप्त कर सकता है। सादे जीवन का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य आधे-पेट भोजन करे, या अर्द्ध-नग्न रहे, अथवा जंगलों पहाड़ों में ही समय व्यतीत करे, मकान आदि ही न बनावे। उपर कहा जा चुका है कि मनुष्य को जीवन-रक्षक तथा निपुणता-वर्द्धक पदार्थों की अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते रहना चाहिए। हाँ, शौकीनी या विलासिता के पदार्थों के सेवन पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। स्मरण रहे कि यह कार्य अपनी इच्छा से जान बूझ कर होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति साधन-हीनता, दरिद्रता या लाचारी के कारण विलास-सामग्री का सेवन नहीं कर सकता तो उसे सादा जीवन व्यतीत करने वाला नहीं समझना चाहिए। जो आदमी अपने मन से इन वस्तुओं के उपयोग की इच्छा को निकाल देगा, साधन होने पर भी इनका सेवन नहीं करेगा, वही असल में सादे जीवन वाला है।

जो आदमी ऐसा जीवन नहीं बिताता, अपनी जरूरतें बढ़ाता और उन्हें दिन-रात पूरा करने में लगा रहता है, उसे लोकसेवा के लिए सुविधा या समय नहीं मिल सकता, उसका मन भी इस ओर विशेष नहीं जा सकता। लोकसेवा के विचार रखने और उन्हें अमल में लाने के लिए सादा जीवन बिताना, और आवश्यकताएं कम रखना अनिवार्य है। अस्तु, सादा जीवन और उच्च विचार—यही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है, और उपयोग में इसका यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए।

पाँचवाँ अध्याय

हवा, प्रकाश, पानी और मिट्टी

जिन तत्वों से यह मनुष्य-रूपी पुतला बना है, वही नैसर्गिक उपचारों के साधन हैं। पृथ्वी (मिट्टी), पानी, आकाश (अवकाश), तेज (सूर्य) और वायु से यह शरीर बना है।

—गांधी जी

जिस घर में सूर्य का प्रकाश नहीं आता, उसमें डाक्टर को आना ही पड़ेगा।

—अंग्रेजी कहावत

प्रकृति हमारी माता है। उसी में से हमारा शरीर आता है और अपनी अवधि के बाद फिर उसी में घुल-मिल कर समाप्त हो जाता है। अपनी माता का सान्निध्य जीवन के पूर्व और पश्चात् ही नहीं, जीवन-काल में भी हमें सदा ही आनन्ददायक होगा।

—जवाहरलाल जैन

वर्तमान अर्थशास्त्री हवा, प्रकाश, पानी और मिट्टी के बने पदार्थों के तो उपयोग का विचार करते हैं, परन्तु स्वयं इनके उपयोग का विचार नहीं करते। उनकी धन की परिभाषा के अनुसार ये पदार्थ धन की श्रेणी में नहीं आते, क्योंकि ये विनिमय-साध्य नहीं हैं; ये प्रकृति ने अनन्त परिमाण में दिये हैं। पर जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, सर्वोदय अर्थशास्त्र की विचारधारा इससे जुदा है। उसके अनुसार इनके विवेचन को प्राथमिकता दी जानी चाहिए; कारण, ये मनुष्य के जीवन के लिए अन्य सब पदार्थों से अधिक आवश्यक हैं।

हवा

हवा का महत्व; इसके शुद्ध रहने की आवश्यकता—मनुष्य को जीवित रहने के लिए साँस लेते रहना ज़रूरी है और सांस हवा के बिना नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार मानव जीवन के लिए हवा की अनिवार्यता स्पष्ट है। परन्तु हवा शुद्ध होनी चाहिए। यदि वह अशुद्ध होगी तो वह शरीर में अनेक विकार पैदा करेगी। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि यथा-सम्भव शुद्ध हवा का सेवन करें, अधिक से अधिक समय खुली हवा में रहें, जहाँ तक हो सके रात को खुले स्थान में ही सोयें, जिससे उन्हें शुद्ध स्वास्थ्य-प्रद हवा मिलती रहे।

हवा शुद्ध रखने के उपाय—खेद है कि आजकल लोगों को शुद्ध वायु बहुत कम मिलती है। अधिकांश आदमियों का बहुत सा समय गन्दी हवा में सांस लेते बीतता है। हवा गन्दी होने के विविध कारण हैं; उन्हें दूर करने का भरसक प्रयत्न किया जाना चाहिए। निजी क्षेत्र में व्यक्तियों तथा परिवारों को और सार्वजनिक क्षेत्र में स्थानीय संस्थाओं द्वारा हवा को शुद्ध रखने के विविध उपाय काम में लाये जाने चाहिएँ। इसके वास्ते नागरिकों में वायु सम्बन्धी यथेष्ट ज्ञान का प्रचार किया जाना चाहिए, जनता की दरिद्रता दूर की जानी चाहिए, शहरी सभ्यता का बढ़ता हुआ प्रवाह और कल-कारखानों द्वारा होनेवाली बड़े पैमाने की केन्द्रीकृत उत्पत्ति को रोका जाना चाहिए। इस विषय की ब्योरेवार बातों में न जाकर हम यहाँ कुछ अन्य बातों का उल्लेख करते हैं—जब घर के भीतर सोना पड़े तो ऐसी जगह सोना चाहिए, जहाँ बहुत सामान भरा हुआ न हो और जिसमें हवा बराबर या लगातार आती-जाती हो। जिन लोगों का सोने का स्थान ऐसा हो कि बाहर से हवा मुश्किल से आती हो, उन्हें चाहिए कि हवा साफ करने के लिए सप्ताह में कम से कम एक दिन आधा घंटे के लिए बिना धुंए के काफी आग जलायें।

हवा शुद्ध करने के कुदरती साधन आँधी, प्रकाश और वृक्ष हैं। प्रकाश की बात दूसरी जगह कही गयी है। ज्यों-ज्यों बस्तियाँ बढ़ती जा रही हैं, जंगल बहुत काटे जा रहे हैं। वृक्ष हमारे सांस से निकले हुए ज़हरीले कार्बोनिक एसिड

गैस को ग्रहण करते हैं (इससे उनका पोषण और वृद्धि होती है) और हमें आक्सीजन देते हैं, जो हमारे जीवन के लिए अनिवार्य है। वृक्षों के कट जाने से इस प्राकृतिक व्यवस्था में विकार पैदा होता है। इसलिए जरूरत है कि बनों की रक्षा की जाय, और नये-नये पेड़, न केवल बस्तियों के पास, बल्कि जगह-जगह बस्तियों के भीतर भी लगाये जाते रहें, जिससे हवा शुद्ध होने में यथेष्ट सहायता मिले।

हवा के उपयोग की विधि—हवा को शुद्ध रखने के साथ उसका उपयोग भी ठीक रीति से होना चाहिए, यथा—

१—आदमी को झुककर बैठना या चलना न चाहिए; हमेशा छाती आगे को निकली रहे, जिससे फेफड़ों में हवा काफी जाय।

२—सांस हमेशा नाक से ली जाय, मुँह से नहीं।

३—यथा-शक्ति शरीर-श्रम या व्यायाम आदि किया जाय, जिससे फेफड़े ठीक रहें।

४—प्राणायाम या लम्बा सांस लेने का अभ्यास किया जाय।

५—यथा-सम्भव प्रतिदिन कुछ समय सारे शरीर को शुद्ध ताजी हवा लगायी जाय, अर्थात् वायु-स्नान किया जाय।

६—कपड़ा उतना ही पहना और ओढ़ा जाय, जितना सर्दी से बचने के लिए आवश्यक हो, फैशन या दिखावे के लिए उसकी भरमार न हो।

प्रकाश

सृष्टि की सब बनस्पति पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों तथा मनुष्य के जीवन का मूल आधार सूर्य है। उससे हमें तेज (गरमी) तथा प्रकाश मिलता है। हम इन चीजों का यथेष्ट उपयोग नहीं करते और प्रायः हम इनके उपयोग से होने वाले लाभों को जानते भी नहीं।

प्रकाश से लाभ—अंधकार में शाक-सब्जी बहुत कम पैदा होती है; और जो होती भी है, वह प्रकाश में पैदा होने वाली की अपेक्षा बहुत कम गुण वाली होती है। पेड़-पौधों की हरी पत्तियाँ सूर्य की किरणों से जो शक्ति ग्रहण करती हैं वही

अन्न आदि में संचित होती है। मनुष्य आदि सभी जीव अन्न और फल आदि से ही शक्ति ग्रहण करते हैं, यहाँ तक कि मांस-भक्षी प्राणी भी शाकाहारी प्राणियों के मांस से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि 'खाद्य पदार्थ शीतल आधार में सुरक्षित सूर्य-रश्मियाँ ही हैं।' धूप और मैदान में घास चरने वाली गायों के दूध में विटामिन डी काफी मात्रा में होता है; इतना विटामिन उन गायों के दूध में नहीं मिलता, जो सारे दिन घर में ही रहती हैं। इस प्रकार सूर्य की किरणों के समान बलकारक और आरोग्यप्रद वस्तुएँ संसार में बहुत कम हैं।

सूर्य की किरणों का उपयोग—इसलिए स्वास्थ्य-लाभ के वास्ते सूर्य-किरणों का यथेष्ट उपयोग किया जाना चाहिए। इनमें सबसे महत्व की किरणें उत्तर-बैंगनी (अल्ट्रा-वायलेट) रंग की होती हैं। ये सब से अधिक प्रातः काल के समय रहती हैं। सूर्योदय के समय खुले बदन इनके सेवन करने से शरीर बलवान होता है, उसकी रोग भगाने की शक्ति बढ़ती है और नवजीवन का आविर्भाव होता है। इसलिए इन्हें यथा-सम्भव नियमानुसार प्रतिदिन ग्रहण किया जाना चाहिए। दोपहर के सूर्य की किरणें उतनी लाभकारी नहीं होतीं; खासकर गरमी में या गरम प्रदेशों में इनसे बचने का प्रयत्न होना चाहिए। घर भी इस प्रकार बनाना चाहिए कि प्रातः काल के सूर्य की किरणें उसमें अच्छी तरह आ सकने में बाधा न हो, अर्थात् पूर्व की ओर कोई पेड़ आदि न हो; हाँ पश्चिम की ओर पेड़ लगाकर दोपहर के बाद की किरणों के आने में बाधा पैदा करना ठीक ही है।

भारत में कुछ आदमी सूर्य-नमस्कार करते हैं, उन्हें धूप-स्नान का लाभ सहज ही मिल जाता है। गायत्री मंत्र की महिमा प्रसिद्ध है—वह सूर्य की ही पूजा है। निर्धारित पद्धति से हर रोज धूप-स्नान या सूर्य-स्नान करना बहुत उपयोगी है। इससे विविध रोग दूर हो जाते हैं। इस विषय की व्योरेवार बातें जानने के लिए स्वास्थ्य सम्बन्धी स्वतंत्र साहित्य अवलोकन किया जाना चाहिए।

शहरी सभ्यता से बाधा—खेद है कि शहरी सभ्यता में हम हवा की तरह प्रकाश जैसी अमूल्य वस्तु से भी यथेष्ट लाभ नहीं उठा पाते। खुले बदन रहना आजकल असभ्यता की बात समझी जाती है, हम हर समय बदन को

कपड़ों से ढक कर रखते हैं और उससे किरणों को स्पर्श नहीं होने देते। धूप-स्नान आदि की बात लोगों को उपहासास्पद प्रतीत होती है। फिर, आजकल बड़े-बड़े शहरों के मकानों के अधिकांश भाग ऐसे होते हैं जिनमें धूप के कभी दर्शन नहीं होते, और प्रकाश भी इतना कम होता है कि दिन में भी बिजली आदि की कृत्रिम रोशनी से काम चलाया जाता है।

शहरी सभ्यता की वृद्धि का एक मुख्य कारण यंत्रोद्योग और केन्द्रित उत्पादन है। इन पर रोक लगाने और ग्रामोद्योगों की रक्षा और उन्नति से वे परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकती हैं, जिनमें प्रकाश से अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

पानी

मनुष्य के शरीर का सत्तर प्रतिशत भाग पानी है; यह पानी वाला हिस्सा नियमित रूप से मल, मूत्र और पसीने के साथ बाहर निकलता रहता है। शरीर में इस रस की समता को ठीक बनाये रखने के लिए पानी विशेष रूप से आवश्यक है। यदि हम पानी यथेष्ट परिमाण में न लें तो प्रकृति खून, माँस-पेशियों और शरीर के तंतुओं से पानी का हिस्सा खींचने के लिए बाध्य होगी। इससे शरीर दुबला-पतला होने और फिर सूखने लगता है। जल की कमी के कारण शरीर में पहले कब्जी (बदहज़्मी) होती है। इसके बाद खून की कमी और फिर क्रमशः कई प्रकार के रोगों के लक्षण दिखायी देने लगते हैं।

हमारा शरीर प्रतिदिन कुछ क्षय होता रहता है। जो जीव-कोष नष्ट हो जाते हैं, खून उनको धोकर बाहर कर देता है। किन्तु यदि खून में पानी का अंश कम हो तो इन नष्ट हुए जीव-कोषों में से कुछ अंश शरीर में रह जाते हैं। इससे शरीर में विजातीय पदार्थ जमा होने और बढ़ने लगते हैं और विविध रोग पैदा हो जाते हैं। इन हानिकारक पदार्थों को शरीर से बाहर करने के लिए भी यथेष्ट पानी पीना आवश्यक है। फिर, पसीने से शरीर पर जमने वाले मैल को हटाने के वास्ते स्नान करने के लिए भी पानी बहुत जरूरी है। पानी के विधि-पूर्वक सेवन से किस प्रकार कौनसा रोग दूर होता है, इसका विवेचन करने का यहाँ स्थान नहीं है। इस विषय की ब्योरेवार बातें चिकित्सा सम्बन्धी साहित्य में देखी जा सकती हैं।

पानी स्वच्छ और अच्छा होने की आवश्यकता—यह तो स्पष्ट ही है कि पानी, जो नहाने-धोने के काम आये, या जिससे शरीर की बाहरी या भीतरी सफाई करना अभीष्ट हो, बहुत साफ और अच्छा होना चाहिए। मैला पानी हमारे कपड़ों या शरीर को साफ नहीं कर सकता। फिर, पीने के लिए पानी का उपयोग करने में तो और भी अधिक सावधान रहना चाहिए; कारण, केवल देख कर या चख कर ही निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह पानी पीने के लायक है। अनेक बार जो पानी इस कसौटी से अच्छा मालूम होता है, वह वास्तव में शरीर के लिए हानिकारक हो सकता है। पानी का सेवन करने पर ही आदमी को यह अनुभव होगा कि यहाँ का पानी कैसा है, उससे खाना ठीक तरह हज्म हो जाता है या नहीं, हज्म होने में बहुत देर तो नहीं लगती, इत्यादि।

पानी शुद्ध करने के उपाय—ऊपर पानी के गन्दे होने के जो कारण बताये गये हैं, उन्हें दूर करके पानी शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए; कुछ कारण तो आदमी निजी तौर पर दूर कर सकते हैं, दूसरे कारणों को दूर करने के लिए सामूहिक या पंचायती उद्योग होना चाहिए। कुछ दशाओं में आदमी गन्दा पानी इसलिए काम में लाने को मजबूर है, कि वहाँ अच्छे पानी की व्यवस्था नहीं है, और व्यवस्था करना बहुत श्रम तथा व्यय-साध्य है। कुछ स्थानों में पानी इतनी अधिक गहरायी पर मिलता है कि वहाँ एक कुआँ बनवाना कोई मामूली काम नहीं है। ऐसे स्थानों में सरकार और जनता को मिलकर पानी की व्यवस्था करनी आवश्यक है। जहाँ पानी की शुद्धता के विषय में शंका हो, वहाँ पानी उबाल कर या 'फिल्टर' करके (विशेष विधि से छान कर या निथार कर) पीया जाना चाहिए। इस प्रसंग में गांधीजी ने कहा है—

'अजनबी घर या अजनबी कुएँ का पानी न पीने की प्रथा का पालन करना अच्छा है। बंगाल में तालाब होते हैं, उनका पानी अकसर पीने के लायक नहीं होता। बड़ी नदियों का पानी भी पीने के लायक नहीं होता, खासकर के जहाँ नदी बस्ती के पास से गुजरती है, और जहाँ उसमें स्टीमर और दूसरे वाहन आया-जाया करते हैं। ऐसा होते हुए भी यह सच्ची बात

है कि करोड़ों मनुष्य इसी प्रकार का पानी पीकर गुजारा करते हैं। मगर यह अनुकरण करने जैसी चीज नहीं है...जहाँ पानी की शुद्धता के विषय में शंका हो, वहाँ पानी को उबाल कर पीना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को अपने पीने का पानी साथ लेकर घूमना चाहिए। असंख्य लोग धर्म के नाम से मुसाफिरी में पानी नहीं पीते। अज्ञानी लोग जो धर्म के नाम से करते हैं, आरोग्य के नियमों को मानने वाले वही चीज आरोग्य के खातिर क्यों न करें !'*

पानी के उपयोग सम्बन्धी विचार—पीने का पानी स्वच्छ होना चाहिए। यह ऊपर बताया जा चुका है। पर इसके साथ यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि पानी उचित रीति से और आवश्यक परिमाण में पीना चाहिए। अधिकांश आदमी इस विषय में गलती करते हैं। हमें उनका ध्यान एक खास बात की ओर दिलाना है। अनेक स्थानों में शौकीन या धनी लोग तथा उनकी देखा-देखी अन्य व्यक्ति भी प्यास लगने पर या भोजन के साथ तथा उसके बाद शराब, लेमनेड, सोडावाटर, शर्बत आदि पेय या ठंडाई आदि ही पीया करते हैं, केवल जल नहीं पीते। अनेक आदमी कुदरती जल न पीकर बर्फ़ आदि का पानी लेते हैं, ये सब बातें प्रायः अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी हैं। सब से अधिक उपयोगी पेय तो अच्छा पानी ही है। इसी का यथेष्ट सेवन किया जाना चाहिए।

जिन प्रदेशों में, जिन दिनों में बहुत अधिक सर्दी न हो, वहाँ प्रति-दिन प्रातः काल ठंडे पानी से स्नान करना बहुत उपयोगी है। स्वस्थ व्यक्ति का तालाब या नदी में डुबकी लगा कर स्नान करना सबसे उत्तम है; यों अधिकतर आदमियों को कुएँ पर या नल पर स्नान करने की सुविधा होती है। बहुत से तो घर में ही बाल्टी आदि में पानी लेकर लोटे से स्नान करते हैं। रोगियों के लिए विविध प्रकार के स्नान प्रचलित हैं, यथा पूर्ण स्नान, स्पंज स्नान, चद्दर स्नान, कटि स्नान, घर्षण-स्नान, गरम और ठंडा स्नान आदि; इनके सम्बन्ध में यहाँ विस्तार से लिखने का स्थान नहीं। ये स्नान किसी अनुभवी व्यक्ति की देख-रेख में सावधानी से किये जाने चाहिएँ।

---

* 'आरोग्य की कुंजी'

मिट्टी

मनुष्य मिट्टी का पुतला है। कबीर ने कहा है, 'माटी ओढ़न, माटी पहरन, माटी का सरहाना; आखिर माटी में मिल जाना।' आधुनिक सभ्यता में इस उक्ति के पहले भाग की बात अधिकाधिक दूर होती जा रही है। आदमी प्रकृति से इतना दूर होता जा रहा है कि मिट्टी का स्पर्श अब असभ्यता या ग्रामीण जीवन का लक्षण माना जाता है। शहरी या धनवान माता पिता अपने शरीर या वस्त्रों को जरा भी मिट्टी लगने देना नहीं चाहते; वे अपने बालकों को 'धूल-धूसरित' देखना पसन्द नहीं करते। बहुत छोटी उम्र से ही वे उनके लिए यथेष्ट वस्त्रों का प्रबन्ध कर देते हैं, फिर आधुनिक मकानों में फर्श भी सीमेंट, चूने या पत्थर का होता है, जिससे मिट्टी का कण भी देखने को न मिले। हम भूल गये हैं और भूलते जा रहे हैं कि मनुष्य के शरीर के लिए मिट्टी कितनी गुणकारी है।

मिट्टी के स्वास्थ्य-वर्द्धक गुण—मिट्टी स्वास्थ्य बढ़ाने वाली तथा रोग मिटाने वाली अमूल्य वस्तु है। बीमारी की हालत में शरीर में जो विशेष ताप हो जाता है, उसे खींच लेने तथा रोग के विष को सोखने की जितनी क्षमता मिट्टी में है, उतनी अन्य किसी वस्तु में नहीं। जिन लोगों को रात को अच्छी गहरी नींद नहीं आती, या सपनों से भरी तन्द्रा-मात्र आती है, उन्हें नियम से नंगे पाँव मिट्टी पर टहलने से बहुत लाभ होता है। बच्चे साफ सुथरी और सूखी मिट्टी पर (खुली हवा में) खेलें तो उन्हें बहुत-सी बीमारियों से छुट्टी मिल जाय और उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहे। उनका रोना-धोना कम हो जाय और वे शान्त प्रकृति के बन जायें। युवकों तथा प्रौढ़ों को भी नंगे पाँव मिट्टी पर खेलने या टहलने से बहुत लाभ होता है। मिट्टी शरीर को साबुन की तरह साफ कर देती है; विशेषता यह कि मिट्टी मल कर स्नान करने के बाद तेल लगाने की जरूरत नहीं पड़ती। मिट्टी से गन्दगी दूर हो जाती है, यह तो इसी से स्पष्ट है कि भारत में आदमी शौच जाने के बाद मिट्टी मल कर हाथ धोते हैं।

मिट्टी का उपयोग—शरीर को मिट्टी के संसर्ग में लाने का सब से सुगम उपाय नंगे पाँव टहलना या खेलना है। भारत में पहले आदमी जूता बहुत कम

पहनते थे; अधिकतर नंगे पाँव डोलते थे, या खड़ाऊँ आदि का उपयोग करते थे, जिससे मिट्टी का यथेष्ट स्पर्श होता था। अब तो अनेक बालक छोटी उम्र से ही तरह-तरह के जूते पहनते हैं; यही नहीं, उनके साथ जराब और मोजे भी पहनते हैं, जिससे उनके शरीर को मिट्टी (और हवा तथा धूप) यथा-सम्भव बिल्कुल न लगने पाये। पहले यहाँ गेंद-बल्ला, गुल्ली-डंडा, कुश्ती या कबड्डी आदि खेलों का चलन था, जिनमें नंगे पांव रहा जाता था, और शरीर को मिट्टी के उपयोग का लाभ मिलता था। अब ये खेल गाँवों में भी कम होते जा रहे हैं; शहरों से तो ये प्रायः उठ ही चले हैं। अंग्रेजों की देखा-देखी यहाँ क्रिकेट, फुटबाल और हाकी, टेनिस, वाली-बाल आदि खेलों का चलन बढ़ गया है, जिनमें पावों में जूते और मोजे होने के कारण मिट्टी का स्पर्श बिलकुल नहीं हो पाता।

सिर धोने या स्नान करने के लिए अब तरह-तरह के साबुन काम में लाये जाते हैं, दांत साफ करने के लिए कीमती मंजन या 'टूथ-पेस्ट' आदि का व्यवहार होता है, यहाँ तक कि शौच जाने के बाद हाथ धोने के लिए तथा कपड़े धोने के लिए साबुन का उपयोग बढ़ रहा है। इन सब कामों में मिट्टी का व्यवहार अधिक लाभदायक तथा कम खर्चीला है।

बहुत सी बीमारियों में मिट्टी की पुल्टिस से बहुत जल्द और मुफ्त में आराम हो सकता है, पर आधुनिक काल में अनेक आदमी तरह-तरह की कीमती दवाइयों का इस्तेमाल करते हैं, जिनसे बहुधा रोग का निवारण न होकर उसका रूपान्तर मात्र हो जाता है, या वह केवल कुछ अस्थायी रूप से दब जाता है। अगर आदमी जरा विचार करें तो वे मिट्टी के जादू से खूब लाभ उठा सकते हैं। स्मरण रहे कि मिट्टी अच्छी होनी चाहिए और भिन्न-भिन्न प्रकार के मिट्टियों के गुणों का विचार कर के उनका उपयोग किया जाना चाहिए।

मिट्टी के बर्तन—आज कल अपने आप को सभ्य कहने वाला और समाज में अपनी हैसियत कुछ ऊंची दिखाने वाला आदमी मिट्टी के बर्तनों का बहुत ही कम उपयोग करता है; शहरों और कस्बों में तो मानो इनका रिवाज उठ ही गया है, गाँवों में भी भोजन पकाने या खाने में कुछ गरीब आदमी ही इनका

उपयोग करते हैं। धातुओं के बर्तनों का चलन बढ़ता जा रहा है, और उनमें खाने की चीजें न बिगड़ें, इसलिए उन पर कलई करादी जाती है, परन्तु प्रायः वह अच्छी नहीं की जाती और अधिक समय के बाद की जाती है। इसलिए कलई किये हुए बर्तन भी ठीक नहीं रहते। निदान, धातु के बर्तन इस्तेमाल करना हानिकारक है, उनसे शरीर में जहर पहुँचता है। आवश्यकता है कि जहाँ तक बन आये मिट्टी के बर्तनों का उपयोग किया जाय, इसमें खर्च तो कम होता ही है, यह स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर है।

'धातु के बर्तन में आँच सीधी अन्न को लगकर वह जल्दी पक जाता है इसलिए वह अन्न जरूरत से अधिक पककर उसमें का पौष्टिक भाग कुछ हद तक नष्ट हो जाने का हमेशा अंदेशा रहता है। पर मिट्टी के बर्तन में में अन्न धीरे-धीरे पकता है और इसलिए उसका बहुत-सा पौष्टिक भाग नष्ट नहीं हो पाता, क्योंकि अन्न को उष्णता बहुत आहिस्ता आहिस्ता लगती है और वह भी बर्तन के छेदों में रहने वाली भाप से मिलती रहती है। मिट्टी के बर्तन एक 'कुकर' का भी काम करते हैं, क्योंकि उनके छिद्रों में पानी भरा रहता है और उसकी उष्णता से अन्न पकता है।'*

विशेष वक्तव्य—इधर कुछ समय से स्वास्थ्य और चिकित्सा के सम्बन्ध में नये-नये अनुसंधान और आविष्कार हो रहे हैं। तरह-तरह के पौष्टिक पदार्थ और औषधियाँ बनायी जाती हैं, पर ये अधिकतर स्वास्थ्य-नाशक ही हैं। प्रकृति की अमूल्य देन हवा, प्रकाश, जल और मिट्टी के सम्बन्ध में यथेष्ट अध्ययन और मनन नहीं हुआ है। लोकसेवी सज्जनों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। सर्वसाधारण जनता के लिए ये ही सुलभ हैं; कृत्रिम खाद्य पदार्थ और कीमती औषधियाँ उन तक नहीं पहुँच सकती और जो उनका सेवन करते हैं, वे अधिकतर दशाओं में पीछे जा कर प्रत्यक्ष या परोक्ष हानि ही उठाते हैं। इसलिए उनका प्रचार रोक कर उपर्युक्त प्राकृतिक पदार्थों के उपयोग को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

* 'ग्रामोद्योग पत्रिका' से।

छठा अध्याय

भोजन

जीवित रहने के लिए भोजन करो, न कि भोजन करने के लिए जीवित रहो।

—नीति वाक्य

चाय, कहवा और कोको के त्याग से मैंने कुछ भी खोया नहीं है, उलटा पाया ही है। जो स्वाद मैं चाय इत्यादि से लेता था, उससे कहीं अधिक अब मैं सामान्य भाजियों को उबाल कर उनके पानी से लेता हूँ।

—गाँधीजी

हम जो खाते हैं, उसका एक-तिहाई हमें जिन्दा रखता है, और दो तिहाई डाक्टरों को।

—डाक्टर लिंडलहर

भोजन का उद्देश्य और महत्व—भोजन करने के मुख्य उद्देश्य ये हैं:—(१) शारीरिक परिश्रम से टूटे हुए शरीर-तंतुओं की मरम्मत करना तथा शरीर को पोषक तत्व प्रदान करना, (२) शरीर की खर्च होनेवाली शक्ति की पूर्ति करना, और (३) शरीर को आवश्यकतानुसार गर्म बनाये रखना। यह ध्यान में रखते हुए आदमी को ऐसा भोजन करना चाहिए कि शरीर स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रहे। हमारा स्वास्थ्य प्रकाश हवा और पानी के अतिरिक्त बहुत-कुछ हमारे भोजन पर निर्भर है। जर्मनी के प्राकृतिक-चिकित्सा-विशेषज्ञ डाक्टर अडोल्फ जूस्ट का यह कथन खास तौर पर ध्यान में रखने योग्य है कि:—

'बीमारी मनुष्य के शरीर में अप्राकृतिक भोजन के प्रवेश से पैदा होती है—जो भोजन प्रकृति ने मनुष्य के लिए नहीं बनाया है, और जिसके लिए शरीर के पचाने वाले अवयव अनुकूल नहीं हैं। ऐसा भोजन या तो

बिलकुल हज्म नहीं होता या आधा-पर्धा हज्म होता है। भोजन के जिस अंश का पाचन नहीं होता, वह विजातीय द्रव्य बनकर शरीर में पड़ा रहता है, अंग प्रत्यंग में घुस जाता है, सड़ने लगता है और मनुष्य के लिए विविध प्रकार के रोग, दु:ख तथा कष्टों का कारण बनता है।*

भोजन का हमारे शरीर के अतिरिक्त, हमारे विचारों पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उचित भोजन हमारे मानसिक स्वास्थ्य को बनाये रखने का प्रबल साधन है। इसलिए उसके उद्देश्य का निरंतर ध्यान रखा जाना चाहिए, तभी वह व्यक्ति तथा समाज का वास्तविक हित साधन कर सकता है।

भोजन का परिमाण—बहुत से आदमी स्वाद के कारण आवश्यकता से अधिक खा जाते हैं, यह हानिकारक है। अन्नाहार हो, फलाहार हो या मांसाहार हो, उसका उपयोग भोग, स्वाद या वासना की दृष्टि से न होना चाहिए, और उसके परिमाण का यथेष्ट ध्यान रखा जाना चाहिए। श्री विनोबा ने कहा है—

'वासना-पूर्वक फल खानेवाले की बनिस्बत केवल क्षुधा-हरण के लिए मछली खानेवाला ज्यादा भक्त है......क्या खाना चाहिए, इसके बजाय कितना खाना चाहिए—यह वस्तु आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक महत्व की है। एक आदमी मामूली दाल-रोटी खाता है—जो कि शायद राजस अन्न समझा जायगा—लेकिन ठीक मात्रा में खाता है, जीभ पर काबू रखता है, स्वाद की वृत्ति नहीं रखता तो आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी योग्यता अधिक है, बनिस्बत उसके जो कि सात्विक आहार करता है, लेकिन परिमाण में अधिक खा लेता है, और स्वाद चखने की वृत्ति रखता है।'

खाद्य पदार्थ; उनके शुद्ध रहने की आवश्यकता—शरीर के लिए कौन-कौन से तत्व आवश्यक हैं, और उनकी प्राप्ति किस-किस खाद्य पदार्थ से होती है, अर्थात् हमें कौन-कौन से पदार्थ किस परिमाण में खाने चाहिएँ, यह आहार-विज्ञान सम्बन्धी अच्छी पुस्तकों से तथा अपने अनुभव से ज्ञात हो सकता है। इसका एक मोटा अनुमान आगे 'खेती' के अध्याय में दिया गया है। हमें

* 'प्राकृतिक जीवन की ओर' पुस्तक से

चाहिए कि भोजन के पदार्थों का चुनाव तथा उनके परिमाण का निश्चय करने में इस बात का ध्यान रखें कि वास्तव में वे हमारे लिए कहाँ तक आवश्यक और उपयोगी हैं।

आजकल आदमी बहुधा ऐसी चीज़ें खाते हैं जो ताजी या शुद्ध नहीं होतीं। बाजार से लायी जाने वाली मिठाइयाँ आदि अनेक बार कई-कई दिन की होती हैं; उनकी शोभा के लिए उनमें रंग पड़ा होता है; यह निश्चय नहीं रहता कि उनमें जो घी लगा है, वह कहाँ तक शुद्ध या ताजा है। अब तो अनेक स्थानों में बनस्पति तेल का उपयोग या उसकी मिलावट होती है। एक अन्न के आटे में दूसरे घटिया अन्न का आटा मिला होता है, कई बार तो उसके साथ दूसरे पदार्थ, यहाँ तक कि अखाद्य पदार्थ भी, पिसे हुए होते हैं। इन बातों का परिणाम यह होता है कि भोजन के पदार्थों से मनुष्य को जितना लाभ या सुख मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता; यही नहीं, अनेक बार उनके उपयोग से आदमी भयंकर रोगों का शिकार बनता है। इसलिए यह बहुत ही आवश्यक है कि खाने के पदार्थ ताजे, और शुद्ध या बे मिलावट के होने चाहिएँ।

भोजन में स्वावलम्बन—इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि आदमी यथा-सम्भव अपने घर पर बनी हुई चीजों का उपयोग करें। वर्तमान अवस्था में हम बाजार की तथा दूसरे नगरों ही नहीं, विदेशों से आयी हुई खाद्य सामग्री का बहुत अधिक उपयोग करते हैं। ज्यों-ज्यों हमारा रहनसहन शहरी ढंग का होता जाता है, हमारी यह प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। इसका कड़ा नियंत्रण होना जरूरी है। आवश्यकतानुसार हम कच्चा माल दूसरों से लेलें, पर उससे भोजन स्वयं अपने घर पर ही बनायें। आरामतलब आदमी को ऐसी बात सुहाती नहीं, पर जिन्हें अपने तथा अपने बाल-बच्चों के जीवन और स्वास्थ्य की चिन्ता हो, उन्हें यह, कुछ कठिन प्रतीत होने पर भी, करना चाहिए।

स्थानीय वस्तुओं का उपयोग—हमने आवश्यकता होने पर भोजन सम्बन्धी कच्चे पदार्थ दूसरों से लेने की बात कही है। इसमें भी ध्यान रहना चाहिए कि हम स्थानीय पदार्थों का ही उपयोग करें। जहाँ जो अन्न, शाक या फ़लादि पैदा होते हैं, वहाँ के आदमियों को उनका ही सेवन करना चाहिए।

बहुत से आदमी अपने यहाँ के ज्वार, बाजरा आदि का उपयोग न कर बाहर से गेहूँ और चावल मंगाते हैं। शाक-भाजी भी हम कई-कई मील दूर के स्थानों से आये हुए काम में लाते हैं। फल और मेवा तो दूसरे प्रान्तों या देशों तक के मंगाये जाते हैं। भारत में सभी स्थानों के आदमी काबुली या कंधारी अनार, कश्मीरी सेव, नागपुरी संतरे, बम्बइया केले आदि का उपयोग करने के इच्छुक रहते हैं। इस प्रकार पदार्थों का आयात-निर्यात तो अनावश्यक रूप से बढ़ता ही है, ये चीजें मनुष्य को परावलम्बी बनाती हैं, और बहुधा उसकी प्रकृति के अनुकूल भी नहीं होतीं। साधारण सिद्धान्त यह है कि जो व्यक्ति जहाँ का निवासी होता है, उसे वहाँ के ही पदार्थ अनुकूल होते हैं। अतः हमें यथा-सम्भव स्थानीय पदार्थों का ही उपयोग करना चाहिए।

उपयोग-विधि; 'विटामिन'—वैज्ञानिकों का मत है कि विविध खाद्य पदार्थों में खास-खास 'विटामिन' (पोषक-तत्व या जीवन-तत्व) होते हैं। ये शरीर के लिए ऐसे उपयोगी हैं, जैसे इंजिन के लिए तेल। इनके कई भेद हैं ए, बी, सी, डी, ई, एफ, आदि। ये विभिन्न प्रकार से शरीर की पुष्टि तथा रोग-निवारण के लिए जरूरी हैं। भोजन में खास-खास विटामिन की कमी से कुछ खास-खास रोग हो जाते हैं, इसलिए ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि प्रत्येक प्रकार का विटामिन काफी मात्रा में रहे। किन्तु हम प्रायः भोजन इस तरह बनाते हैं कि उसका बहुत-सा विटामिन नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए पकाने से तथा उस पर विविध प्रक्रिया होने से उसमें इनकी कमी हो जाती है। पदार्थों को उतना ही पकाना चाहिए जितना बहुत ही जरूरी हो अर्थात् जितना पकाये बिना वे न खाये जा सकें। मिल (मशीन की चक्की) में पीसे हुए मैदे या बेसन के जीवन-तत्व कम हो जाते हैं, यह पचाने में भारी होता है। अतः आटा हाथ की चक्की का पिसा हुआ ही इस्तेमाल करना चाहिए तथा उसमें से छानस या चोकर नहीं निकालना चाहिए, जिससे वह जल्दी हज्म हो सके तथा शरीर को उसके सब पोषक तत्वों का लाभ मिल सके।

चावल भी 'पूरा' खाया जाना चाहिए, जो धान का केवल छिलका हटा देने के बाद शेष रहता है। आजकल मिलों में चावल का ऊपर का हिस्सा हटा कर इसे सफेद और चमकीला किया जाता है। इस 'घटाए हुए' चावल

का बहुत सा पोषक तत्व निकल जाता है और यह स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं होता। चावल को पकाने से पहले कई बार मल कर धोना भी उसके पोषक तत्व को कम कर देता है। फिर, भात बना कर मांड फेंक देना भी बहुत खराब है; इससे न केवल बहुत सा विटामिन अलग हो जाता है, वरन् मांड के साथ बहुत उपयोगी खनिज लवण भी निकल जाता है। ऐसे चावल खानेवाला बहुत घाटे में रहता है, उसे चावल से यथेष्ट पोषण प्राप्त नहीं होता, और जो तत्व मिलते हैं, उनमें उचित अनुपात न रहने से वह रोग पैदा करने वाले हो जाते हैं।

स्वास्थ्य की दृष्टि से दाल धोयी हुई नहीं खायी जानी चाहिए; छिलके वाली 'काली' दाल उससे कहीं अधिक गुणकारी और पौष्टिक है।

पकवान, मिठाइयों, तथा कारखानों में बने बिस्कुट आदि में पोषक तत्व बहुत कम रहता है, अतः इनका उपयोग न कर घरों में तैयार किये जाने वाले साधारण (बिना तले या बिना छौंके हुए) भोजन का ही उपयोग किया जाना चाहिए।

दूध का उपयोग—दूध बहुत उपयोगी है, पर हम बहुत से दूध से तरह-तरह की मिठाइयाँ बनाकर उसकी उपयोगिता कम कर देते हैं। रबड़ी, मलाई और खुर्चन बनाना भी दूध का दुरुपयोग ही है। खोवा इतना बनने लग गया है कि घी की उत्पत्ति बहुत घट गयी है। उसकी पूर्ति वेजिटेबल (बनस्पति) तेलों से की जा रही है, जिन्हें घी का झूठा नाम दे दिया जाता है। दूध की अपेक्षा खोवा बहुत ही कम उपयोगी है। फिर, खोवे की बनी मिठाइयाँ और भी कम गुणकारी हैं; वरन् कहना चाहिए कि बहुत हानिकारक हैं। खोवा बनने से आदमी छाछ से भी वंचित हो जाते हैं, जो एक बहुत ही गुणकारी पदार्थ है। इसलिए खोवा बनाना बन्द करने या बहुत कम करने का प्रयत्न होना चाहिए।

भोजन पकाने की क्रिया, ईंधन और धुएँ का सवाल—पहले कहा जा चुका है कि खाने की चीजों को पकाने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी वे आज कल पकायी जा रही हैं। बहुत पकाने से उनका पोषक तत्व नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त ईंधन का भी बेहद खर्च होता है। ईंधन के उपयोग में

बहुत किफायत की जरूरत है। बहुधा चूल्हे या भट्टी आदि ऐसी बनी होती हैं कि उनमें आग का यथेष्ट उपयोग नहीं होता, और धुंआँ बहुत अधिक होता है। आवश्यकता है कि चूल्हे या भट्टी ऐसी बनायी जायं कि ईंधन का खर्च कम हो; उनकी आग का अधिक से अधिक उपयोग हो। मगनवाड़ी (वर्धा) आदि कई स्थानों में चूल्हे इसी उद्देश्य से नये ढंग के बनाये गये हैं; उनका प्रचार होना चाहिए। ईंधन भी ऐसा काम में लाया जाना चाहिए, जिससे धुंआँ न हो या बहुत ही कम हो। इस दृष्टि से 'कुकर' का उपयोग अच्छा है; हाँ, इसमें भी बहुत सुधार की आवश्यकता है। जहाँ-जहाँ स्वावलम्बी व्यवस्था हो सके, बिजली के चूल्हों से काम लिया जाना चाहिए।

मसाले—सम्भव है कि आरम्भ में मनुष्य ने एक-एक मसाले (मिर्च, हल्दी, सोंठ, हींग, जीरा, धनिया आदि) को किसी विशेष अवसर पर खाया हो, और उससे उसे किसी रोग के निवारण में सहायता मिलने का अनुभव हुआ हो। इस प्रकार औषधि के रूप में काम में लाया हुआ मसाला पीछे स्वाद लगने के कारण रोजमर्रा के उपयोग का पदार्थ बन गया और विविध मसाले भोजन के आवश्यक अंग माने जाने लगे।

मसालों के बारे में यह बात तो है ही कि ये बिना जरूरत खाये जाते हैं। इसके अलावा, इनके मिश्रण से तरह-तरह की चटनियाँ और अचार आदि बनाये जाते हैं, जिनकी सहायता से आदमी बहुधा भोजन आवश्यकता से अधिक परिमाण में करता है। इस तरह मसालों के रूप में तथा इनके द्वारा होने वाला अपव्यय स्पष्ट ही है। इस से अधिक चिन्तनीय बात यह है कि आदमी अपना स्वास्थ्य बिगाड़ता है। गांधी जी ने अपनी 'आरोग्य की कुंजी' में यहाँ तक लिखा है कि 'एक आदमी जिसे मिर्च खाने का बहुत शौक था, उसकी तो भरी जवानी में ये मिर्चें मृत्यु का कारण बनीं।' निदान, मसाले खाकर अपने स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाला व्यक्ति राष्ट्र और समाज के सामने अपराधी है। लोगों को इनके सेवन से बचना चाहिए। खासकर माता पिता इस ओर ध्यान दें, बहुधा उन्हें मसाले खाते देखकर या उनकी प्रेरणा से ही बालक भी मसाले खाने लग जाते हैं, पीछे तो उनकी आदत ही पड़ जाती है।

उत्तेजक और मादक पदार्थों का सेवन—मसालों के अतिरिक्त आदमी और भी कई ऐसे पदार्थों का सेवन करता है, जो उसे शरीर की रक्षा या पोषण के लिए आवश्यक नहीं होते, अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों में और परिमित मात्रा में ही उपयोगी होते हैं। आदमी क्षणिक स्वाद, शौक या उत्तेजना आदि के लिए उनका बहुत अधिक उपयोग करता है; यहाँ तक कि उनका आदी हो जाता है। चाय, तमाखू, शराब तथा अन्य मादक पदार्थ इसी श्रेणी के हैं। ये अधिकांश में अनावश्यक तथा हानिकर हैं।

चाय, कहवा आदि—पहले चाय की बात लें। इसका चलन सब से पहले चीन में हुआ। वहाँ जल का विकार दूर करने के लिए इसका उपयोग होता था। इसे उबलते पानी में डालकर पानी शुद्ध किया जाता था। पीछे धीरे-धीरे आदमी इसकी सुगन्ध और रंग से आकर्षित होकर आदतन इसका सेवन करने लगे। क्रमशः अन्य देशों में इसका प्रचार हो चला। भारत में तो हमारे देखते-देखते ही इसका प्रचार बेहद बढ़ा है। आदमी इसका सेवन शौकिया करते हैं। इससे शरीर को कोई लाभ नहीं; इसके विपरीत, इससे आदमी की भूख मारी जाती है और बदहज्मी होती है। इससे स्वभावतः शरीर की पुष्टि में बाधा होती है, और वह क्षीण होकर विविध रोगों का शिकार बन जाता है।

कुछ वर्ष पहले चाय का शौक ऊंचे दर्जे की रहनसहन वाले ही करते थे। धीरे-धीरे युवकों और विद्यार्थियों ने इसे अपना लिया। अब तो साधारण मजदूरों तक में इस अनावश्यक और हानिकर वस्तु का प्रचार खूब जोर से हो गया है। अनेक आदमियों को इसकी आदत पड़ गयी है। उन्हें यह समय पर न मिले तो उन्हें चैन नहीं पड़ती। इतने अधिक प्रचार का मुख्य कारण चाय-कम्पनियों की विज्ञापनबाजी है। कई डाक्टरों की सम्मति है कि चाय एक हल्का उत्तेजक पदार्थ है, इसके द्वारा मनुष्य की कार्य-क्षमता को बढ़ाना ऐसा ही है, जैसा चाबुक या हन्टर से दुर्बल घोड़े को तेज चलाना। लोगों को चाहिए कि मिथ्या या अत्युक्ति-पुर्ण विज्ञापनों के धोखे में न आयें। यदि उन्हें अपनी शक्ति वास्तव में बढ़ानी है तो वे दूध, घी, फल, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन करें, न कि चाय जैसे उत्तेजक पदार्थों का।

जो बातें चाय के बारे में कही गयी हैं, वे ही कहवे और कोको के बारे में भी सत्य हैं। इस विषय में गांधी जी का अनुभव बहुत शिक्षाप्रद है, उसका उल्लेख इस अध्याय के आरम्भ में किया गया है।

तमाखू—तमाखू ने अपना जाल संसार भर में फैला रखा है। प्रत्येक देश में इसका विविध रूपों में प्रचार है। बहुत से आदमियों के लिए यह भोजन की तरह आवश्यक है। भारत में पहले आदमी हुक्का पिया करते थे। अब शौकीनों को हुक्का अच्छा ही नहीं लगता; वे सिगरेट या बीड़ी पीते हैं, यद्यपि उसका धुआँ हुक्के के धुएँ से अधिक हानिकारक है। बहुतेरे आदमी तमाखू पीते नहीं, तो सूंघते या खाते ही हैं। निदान, बहुत कम आदमी ऐसे मिलेंगे, जो इसका बिलकुल ही व्यवहार नहीं करते। सम्भव है, कुछ आदमी तमाखू का सेवन किन्हीं विशेष अवस्थाओं में, कोई खास बीमारी दूर करने के लिए, औषधि-रूप में करते हों, परन्तु इनकी संख्या मुश्किल से एक फी-सदी होगी। अधिकांश आदमी देखा-देखी, शौक के लिए, इसका खुद इस्तेमाल, और यार-दोस्तों में प्रचार करते हैं। बड़े-बड़े वैद्यों और डाक्टरों का मत है कि तमाखू खाने, पीने या सूंघने से इन विकारों के होने का भय रहता है—मंद-दृष्टि, मूर्छा, कलेजे में जलन, छाती में कफ बढ़ना, दाँतों की कमजोरी, पित्त की वृद्धि और शरीर की कमजोरी आदि।

तमाखू के सेवन की आदत बहुत ही गन्दी है। इसे (जर्दे के रूप में) खाने वाले बहुधा घर के कोनों तथा दीवारों पर थूकते रहते हैं। पीने वाले आदमियों का घर बदबूदार धुंएं से भरा रहता है, और सूंघने वाले बारबार नाक पोंछ कर अपने कपड़े खराब किया करते हैं। पैसा और स्वास्थ्य नष्ट करने वाला तथा गंदगी फैलाने वाला तमाखू का यह उपयोग बहुत ही निन्दनीय है। लोक-सेवी सज्जनों को चाहिए कि इसके विरुद्ध यथेष्ट लोकमत तैय्यार करें।

अफीम—अफीम सेवन करने वाला आदमी आलस्य और तंद्रा का अनुभव करता है। बहुधा माताएँ अपने बच्चों की सार-संभार से निश्चिन्त होने के लिए उन्हें अफीम खिला देती हैं। अधिक मात्रा में तो यह घातक होती ही है, साधारण मात्रा में, अथवा औषधि के रूप में भी यह कहाँ तक उपयोगी है, यह संदिग्ध ही है। जो हो, इसके सेवन की आदत डालना बहुत हानिकारक और स्वास्थ्य-नाशक है।

अन्य मादक पदार्थ; शराब आदि—चाय, तमाखू और अफीम के अतिरिक्त और भी कई पदार्थ उत्तेजक या मादक हैं। भारत में साधु कहे जाने वाले तथा अन्य बहुत से आदमी भांग, गांजा और चरस आदि का सेवन करते हैं। इधर कुछ समय से यहाँ शराब का प्रचार बढ़ता ही जा रहा है। ऊँची श्रेणी के वे मनुष्य, जो विलायती ढंग से रहने लगे हैं, मद्य-पान से परहेज नहीं करते। मजदूर, विशेषतया कल-कारखानों में काम करने वाले, एक-दूसरे की देखा-देखी अपनी बहुत-सी गाढ़ी कमाई इसमें खर्च कर डालते हैं।

यहाँ ताड़ी का भी कुछ उल्लेख आवश्यक है। यह खजूर के रस से बनती है; ताजे रस में नशा नहीं होता, उसे नीरा कहते हैं। पर यह जल्दी ही नशीली हो जाती है। जहाँ नीरा को ताजा ही न पिया जा सके, वहाँ इसका गुड़ बनाया जा सकता है, जो बहुत गुणकारी होता है। पर अनेक आदमी इसे मादक पदार्थ बनाकर ही काम में लाते हैं।

सभी मादक पदार्थ आदमी को कम-ज्यादा बेहोश करते हैं। शराब पीने वाले तो बेहोशी में अपशब्दों का व्यवहार करते हैं, और बहुधा गंदे मजाक करते हैं। वे अकसर नालियों में लोटते हैं, उन्हें अपने शरीर या लज्जा-निवारण आदि का कुछ ध्यान नहीं रहता। कुछ लोगों का मत है कि बहुत ठंडे प्रदेशों में रहने वालों, या सर्दी में काम करने वालों के लिए इसका परिमित परिमाण में उपयोग किया जाना लाभकारी है तथा कुछ बीमारियों में भी यह गुणकारी है। इसकी आलोचना में न जाकर यहाँ यही कहना है कि संसार के सभी देशों में शराब आदि का अधिकतर उपयोग अनावश्यक और हानिकारक है। इससे लोगों के द्रव्य, स्वास्थ्य और चरित्र सभी को क्षति पहुँचती है। अतः इसके सेवन को, कुछ विशेष दशाओं को छोड़ कर, बन्द किया जाना चाहिए।

भोजन-सुधार से जीवन-सुधार—यदि हम अपने खान-पान में भोजन करने के उद्देश्य को ध्यान में रखें तो हमें मितव्ययिता और स्वास्थ्य का लाभ तो मिले ही; इसके अतिरिक्त हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में भी बहुत सुधार हो जाय! वर्तमान दशा में भोजन सम्बन्धी विविध क्रियाओं में हमारा कितना समय और शक्ति अनावश्यक रूप से खर्च हो रही है! हमें उनसे कुछ

लाभ नहीं होता, उलटा हम बहुत हानि उठा रहे हैं। हमें इस विषय का बहुत सोच-विचार करना पड़ता है कि किस प्रकार खाने के नये-नये जायकेदार पदाथ तैयार किये जायं, और उन्हें अधिक से अधिक परिमाण में खाया जाय। हम दिन में चार-चार पाँच-पाँच समय कुछ न कुछ खाते-पीते रहते हैं। सबेरे का नाश्ता, दोपहर का भोजन, तीसरे पहर का फलाहार, शाम का खाना, फिर सोते समय दूध आदि; इसके अतिरिक्त समय-समय पर सोडा, लेमनेड, शर्बत, ठंडाई लस्सी, चाय, कहवा, कोको आदि अन्य पेय भी चलते रहते हैं। हमारे घर कोई मेहमान आता है तो एक खास काम यह हो जाता है कि उसे किस समय क्या-क्या पदार्थ खाने-पीने को दिये जायं। भारत में घरों में औरतों का मुख्य काम तरह-तरह के बढ़िया कहे जाने वाले भोजनों की व्यवस्था करने का ही रहता है। बाजार में हलवाई की दुकान, होटल या विश्रान्ति-गृह आदि का काम करते हुए अनेक आदमियों का जीवन बहुत सवेरे से लेकर, बड़ी रात गये तक तरह-तरह के मिष्ठान्न या नमकीन पदार्थ तथा पेय बनाने या सजा कर रखने का ही रहता है।

विवाह शादी या तीज त्योहार के समय हम अपने अतिथियों का सत्कार खूब 'बढ़िया' भोजन से करते हैं और साथ में चूर्ण चटनी या पाचक पेय की भी व्यवस्था करते हैं। हमारी खातिरदारी ऐसी सीमा तक होती है कि अतिथियों को अपने घर लौटने पर कई-कई दिन तक बदहज्मी आदिकी शिकायत रहती है, और उन्हें याद रहता है कि अमुक व्यक्ति के यहाँ हमारा ऐसा स्वागत हुआ था (जिसके फल-स्वरूप वे इतने बीमार पड़े।)

यदि आदमी भोजन में सादगी का व्यवहार करे तो उपर्युक्त बातों में कितना परिवर्तन हो जाय—अतिथियों को बीमार पड़ने का अवसर न आये, घर वालों की बहुत सी परेशानी बच जाय, स्त्रियों को भोजन बनाने का ही काम मुख्य न रहे, और वे अपने समय का अधिक सदुपयोग कर सकें, हलवाइयों को तथा होटल वालों को बहुत विश्राम मिल सके और उनका समय-विभाग बहुत संतुलित हो सके। इस प्रकार सर्वसाधारण के लिए भोजन-सुधार का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है, इससे जनता के स्वास्थ्य और रोजमर्रा के जीवन में यथेष्ट सुधार होगा।

सातवाँ अध्याय

वस्त्र

आपके देश (अमरीका) में शायद सज्जनता को वस्त्राभूषण की कसौटी पर कसा जाता है, पर जिस देश से मैं आ रहा हूँ, वहाँ सज्जनता की पहचान चरित्र से होती है, ऊपरी वेशभूषा से नहीं।

—विवेकानन्द

कपड़ा शरीर के लिए है, न कि शरीर कपड़ों के लिए।

—कहावत

कपड़ा पहनने के उद्देश्य—आजकल प्रायः सभी आदमी थोड़ा या बहुत किसी न किसी तरह का कपड़ा पहनते हैं। मनुष्य के नग्न अवस्था को छोड़ कर, कपड़ा पहनना शुरू करने के प्रायः तीन कारण बताये जाते हैं—: १—शरीर की सर्दी-गर्मी से रक्षा, २—लज्जा-निवारण, ३—शरीर की सजावट।

आम तौर से इनमें पहली दो बातें मुख्य मानी जाती हैं, परन्तु इतिहास से पता चलता है कि लज्जा का भाव शुरू में था ही नहीं; और यह भाव कपड़ा पहनने का कारण नहीं, बल्कि उसका परिणाम है, अर्थात् धीरे-धीरे जब आदमी कपड़ा पहनने लग गया तो न पहनने की दशा में उसे लज्जा या शर्म का अनुभव होने लगा। इसी तरह सर्दी-गर्मी से शरीर की रक्षा की बात है। जब आदमी जंगली हालत में रहता था, तो उसे सर्दी-गर्मी विशेष नहीं लगती थी। उसमें पशुओं की तरह सहन करने की शक्ति काफी थी, जो पीछे धीरे-धीरे कम हो गयी। इस प्रकार शुरू में आदमी को कपड़े पहनने की जरूरत सर्दी-गर्मी से बचने के लिए भी नहीं थी।

खोज से पता लगा है कि आदमी को पहले-पहल कपड़ा पहनने की जरूरत अपने शरीर को सजाने की इच्छा से हुई। पीछे तो उसे इसकी आदत ही पड़

गयी। धीरे-धीरे वह यह अनुभव करने लगा कि ठंड के समय बिना कपड़ा पहने उसे सर्दी लगती है और तेज धूप के समय शरीर पर कुछ कपड़ा होने से गर्मी कम सताती है। इसलिए सर्दी-गर्मी से बचने के लिए कपड़ा पहनना उपयोगी है। क्रमशः आदमी में यह भावना पैदा हो गयी कि कपड़ा पहनना इसलिए जरूरी है कि इससे लज्जा निवारण होती है। कपड़ा हमारी सभ्यता और शिष्टाचार का सूचक हो गया।

सभ्यता की वृद्धि के साथ कपड़े के उपयोग में वृद्धि—ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी, आदमी ग्रामीण जीवन छोड़ कर शहरी जीवन बिताने लगे, कपड़े का उपयोग अधिक होने लगा। अब बहुत से आदमी बहुत ही अधिक कपडा पहनते हैं, या पहनना चाहते हैं, लज्जा-निवारण के लिए पुरुष या स्त्री को बहुत थोड़े कपड़े की जरूरत होती है। इसी प्रकार सर्दी-गर्मी से बचने के लिए भी आदमी को कपड़ा मामूली ही चाहिए; सर्दी-गर्मी का अनुभव बहुत कुछ आदमी की आदत पर निर्भर है। कुछ लोग बहुत अधिक सर्दी के समय भी थोड़े से कपड़े से काम चला लेते हैं; इसके विपरीत, दूसरे आदमी जो बहुत अधिक कपड़े पहनने के आदी हो जाते हैं, उन्हें उन कपड़ों में जरा कमी करने से ही बहुत ठंड लगने लगती है। भारत का साधारण किसान या मजदूर एक धोती और चद्दर में संतोष कर लेता है, जबकि यूरोप-अमरीका के 'सभ्य' पुरुष तथा उनका अनुसरण करने वाले भारतीयों की पोशाक में देखिए कितने कपड़े चाहिएँ—बनयान, कमीज, वास्कट, कोट, कालर, नेकटाई टोप, जांघिया (अंडरवेयर), पतलून और उसके साथ पेटी या गेलिस, मोजे, गेटिस और जूते। [ये लोग दिन में कई बार कपड़ा बदलते हैं और अलग-अलग अवसर के लिए जुदा-जुदा पोशाक रखते हैं।] इससे शरीर को यथेष्ट धूप और हवा नहीं मिलती, रोग बढ़ रहे हैं, क्षय आदि बीमारियाँ फैलती जा रही हैं, और लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ता ही जाता है।

नये-नये फैशन, और पहनावे में विषमता—आजकल पोशाक के नित्य नये फैशन निकलते रहते हैं। धनवान या शौकीन लोग अपनी पोशाक के पुराने ढंग को बदल कर नये ढंग की पोशाक ग्रहण करते रहते हैं अथवा बहुत

बढ़िया कपड़ा काम में लाते हैं। कुछ आदमी सूती या ऊनी कपड़े से संतोष न कर रेशमी वस्त्र पहनते हैं, जिनके लिए असंख्य कीड़े मारे जाते हैं। कुछ लोग ऐसे कपड़े का उपयोग करते हैं, जो सोने-चांदी के तारों के कारण बहुत कीमती होता है। खासकर यूरोप-अमरीका की शौकीन स्त्रियाँ अपनी पोशाक में ऐसे पक्षियों के पर लगवाती हैं जो बहुत दुर्लभ होते हैं। उनके इस फैशन या शौक के वास्ते बे-जबान पक्षियों को अपनी जान खोनी पड़ती है। यही नहीं, कुछ रमणियों के गले के वस्त्र या कोट आदि के लिए 'टो' नामक चमड़ा काम आता है, जो भेड़ के गर्भस्थ बच्चे की नर्म रोयेंदार खाल से बनता है। इसके लिए भेड़ तथा उसके बच्चे की एक-साथ हत्या की जाती है। सभ्यता के इस युग में जब रूई, सन, पटसन, ऊन आदि के तरह-तरह के कपड़े बनने लग गये हैं, सिर्फ शौक पूरा करने के लिए जीवों की यह हिंसा खेदजनक है।

वर्तमान संसार में कितनी विषमता है! कुछ आदमी तो कपड़े का उपयोग जरूरत से ज्यादा करते हैं, और नित्य नये फैशन के तथा कीमती कपड़े पहनते हैं तथा पर्दे, चाँदनी, खोली या गिलाफ आदि में खर्च करते हैं। इसके विपरीत, हमारे अनेक भाइयों को अपनी शरीर-रक्षा के लिए भी यथेष्ट वस्त्र नहीं मिलता, इससे उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है, और वे समाज में नीची श्रेणी के माने जाते हैं।

कपड़ा और स्वास्थ्य—जरूरत से कम कपड़ा पहनना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है, यह तो सब जानते ही हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि आदमी के लिए अधिक कपड़ा पहनना भी ठीक नहीं। वह जितना अधिक कपड़ा पहनता है, उतना ही वह हवा, प्रकाश और मिट्टी के उपयोग से वंचित होता जाता है और फल-स्वरूप अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। पर आदत और सभ्यता का विचार आदमी को कपड़े का इस्तेमाल घटाने से रोकता रहता है। तथापि कहीं-कहीं कुछ प्रतिक्रिया नजर आ रही है। भारत में तो साधु सन्तों ने सदा ही बहुत कम कपड़ा पहना है, यहाँ तक कि वे प्रायः लंगोटी लगाये या अर्द्धनग्न अवस्था में रहते आये हैं। अब यूरोप अमरीका में कितने ही नगर-निवासी धूप का लाभ उठाने के लिए पहाड़ों पर, समुद्र के किनारे या दूसरी सुरक्षित जगहों में जाते हैं और काफी समय नंगे बैठे

रहते अथवा घूमते हैं। इससे उनका स्वास्थ्य बहुत सुधर जाता है। यह विचार ठीक नहीं है कि कम कपड़ा पहनने या नंगा रहने से आदमी की विषय-वासना बढ़ती है। अकसर जो पुरुष और स्त्रियाँ बहुत अधिक कपड़ा पहनती हैं, और जो स्त्रियाँ पर्दे में रहती हैं, उनमें विषय-वासना अपेक्षाकृत अधिक होती है। इस प्रकार कपड़े का अधिक उपयोग हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए ही नहीं, मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक है।

'सभ्य' मनुष्य को अपनी नंगा रहने की हालत छोड़े इतना समय बीत गया है और कपड़ा पहनने का वह इतना आदी हो गया है कि अब फिर शुरू की हालत में जाने की सहसा आशा नहीं की जा सकती। तो भी यह विषय विचार करने का है। जहाँ ऋतु अनुकूल हो, आदमी को दिन में थोड़ा समय उघाड़े बदन अवश्य रहना चाहिए, जिससे उसका आकाश, धूप और हवा का संसर्ग हो। जहाँ विशेष बाधा न हो, आदमी को कुछ समय नंगे पाँव चलना चाहिए, जिससे शरीर से मिट्टी का स्पर्श हो, और उसका लाभ मिले। इसके अलावा हमें अपने बदन को बहुत अधिक या तंग कपड़ों से ढके रखना नहीं चाहिए। इस प्रकार खासकर गर्मी में आधी बाहों की कमीज या बंडी और हाफ-पेन्ट या मामूली धोती का पहनाव अच्छा है। कपड़ों का रंग भी बहुत चमकीला या भड़कीला न होना चाहिए, जो आँखों के लिए हानिकारक होता है।

विशेष वक्तव्य—आवश्यकता है कि आदमी जो कपड़ा पहने वह जलवायु के विचार से अनुकूल हो, स्वास्थ्य के लिए हितकारी हो। हम याद रखें कि कपड़ा शरीर के लिए है (अर्थात् उसका उद्देश्य शरीर की रक्षा करना है) न, कि शरीर कपड़े के लिए। प्रायः हम शरीर से कपड़ों की एक छोटी-सी प्रदर्शनी का काम लेते हैं; हम कपड़ा खासकर इसलिए पहनते हैं कि दूसरे आदमी हमारी अमीरी या वैभव का परिचय प्राप्त करें, इस भावना के होते हुए हम नित्य नये और बहुमूल्य कपड़ों का उपयोग करके भी संतोष या सुख नहीं पा सकते। इसके अतिरिक्त हम अपने गरीब भाइयों से दूर होते जाते हैं। हमारा लक्ष्य मानव समाज में एकता और समानता बढ़ाना है। हम जरा सोचें और कृत्रिम वेश-भूषा से बचें; इसी में सबका कल्याण है।

आठवां अध्याय

मकान

यदि घर बार के बिना या कपड़ों के बिना हम इस अनन्त (आकाश) के साथ सम्बन्ध जोड़ सकें तो हमारा शरीर, बुद्धि और आत्मा पूरी तरह आरोग्य का अनुभव करें। इस आदर्श को भले हम न पहुँच सकें या करोड़ों में से एक ही पहुँचता हो तो भी इस आदर्श को जानना समझना और उसके प्रति आदर-भाव रखना आवश्यक है; और यदि वह आदर्श है तो जिस हद तक हम उसे पहुँच सकेंगे, उस हद तक हम सुख, शान्ति और सन्तोष का अनुभव करेंगे।

—गाँधीजी

देहात के अंधेरे और उजाड़ घर उनमें रहने वाले लोगों के जीवन की एक तसवीर है। उनमें न हवा है, न प्रकाश है, न किसी तरह की सुन्दरता का ख्याल है।

—शान्ता वेरूलकर

मकान की आवश्यकता—आदमी को घूमने फिरने का चाहे जितना काम हो, उसे विश्राम करने या भोजन बनाने और सोने आदि के लिए एक ऐसे स्थान की आवश्यकता होती है, जहाँ धूप, सर्दी, वर्षा और ओलों आदि से उसकी रक्षा हो सके। गुफाओं और पेड़ों के खोखर आदि का उपयोग करने के बाद मनुष्य ने क्रमशः झोपड़ियाँ आदि बनायीं, फिर तरह-तरह के घरों का निर्माण किया। घरों ने गाँवों और शहरों की सृष्टि की, जिनके समूह को देश तथा राज्य कहते हैं। अस्तु, भोजन और वस्त्र की तरह घर या निवास भी मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं में से है।

गांवों के घर—गाँवों में अधिकांश मकान कच्चे होते हैं। कुछ तो निरी झोपड़ियाँ ही होती हैं—घास-फूस और लकड़ियों की बनी हुई। इनमें धूप, वर्षा आदि से यथेष्ट रक्षा नहीं होती, आंधी-तूफान में इनके जल्दी उखड़ जाने की आशंका रहती है, तथा भोजन बनाते समय बहुत सावधान रहना पड़ता है कि कहीं आग न लग जाय। वैसे झोपड़ियाँ सादे रहन-सहन की प्रतीक होती हैं, हवा और रोशनी इनमें कुदरती तौर पर आते रहने से इनमें प्राकृतिक जीवन की छटा रहती है। इनमें रहने वाले आदमी को इनकी समय-समय पर मरम्मत तथा देखभाल करनी होती है, इस प्रकार वह परिश्रमी और कष्ट सहने वाला होता है, इससे उसका स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अच्छा रहता है।

गाँवों में झोपड़ियों से कुछ ऊँचे दर्जे के निवास-स्थान कच्चे घर होते हैं। इनकी दीवारें बांस और बल्ली आदि की अथवा मिट्टी या गारे की होती हैं, अथवा कच्ची ईंटों या पत्थर आदि की होती हैं। इन पर फूस का छप्पर डाला जाता है अथवा लकड़ी की कड़ियों पर तख्ते डाल कर उन पर मिट्टी की छत बनाली जाती है। इनकी समय-समय पर और खासकर बरसात के पहले मरम्मत करने की जरूरत होती है, अन्यथा ये टपकते हैं, और दो-तीन साल में गिरने ही लगते हैं। यद्यपि इधर कुछ समय से इन घरों की बनावट में रोशनी और हवा का विचार किया जाने लगा है, प्रायः इनमें खिड़कियाँ या रोशनदान आदि नहीं होते, रसोई के लिए अलग कोठरी नहीं होती; गाय-भैंस आदि पशु भी आदमियों के साथ उसी कोठरी में रहते हैं। इससे होने वाली स्वास्थ्य-हानि स्पष्ट ही है।

शहरों के मकान—सभ्यता के विकास में गाँवों की जगह शहर बने। शहरों के अधिकांश मकान पक्की ईंटों या पत्थरों की दीवार वाले होते हैं। इनके फर्श ईंट, पत्थर, चूने या सीमेंट के होते हैं और छतें भी इन्हीं चीजों की बनायी जाती है; हाँ, उसमें लकड़ी या लोहे आदि की सहायता ली जाती है। इस प्रकार ये मकान पक्के और मजबूत होते हैं। परन्तु इनमें भी बहुत से दोष होते हैं। शहरों की बढ़ी हुई आबादी की दृष्टि से मकानों की संख्या बहुत कम होती है, और अधिकांश आदमी गरीब होने के कारण एक बहुत ही छोटा मकान रख

सकते हैं या बड़े मकान का बहुत ही छोटा हिस्सा किराये पर ले सकते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि बहुत से आदमी तंग तथा अंधकार वाले मकानों में रहते हैं। एक-एक कमरे में कई आदमियों को तथा कुछ दशाओं में कई-कई परिवारों को जैसे-तैसे निर्वाह करना पड़ता है। इन मकानों में शुद्ध हवा मिलना बहुत कठिन होता है। फिर, शहरों में मिलों और कारखानों ने मजदूरों के लिए मकानों की अलग ही समस्या उपस्थित कर रखी है। इसका असर वहाँ की अन्य जनता को भी भोगना पड़ता है। इससे लोगों का स्वास्थ्य बिगड़ता रहता है।

बहुत से आदमियों के लिए मकानों की कमी—प्रत्येक देश के एक-एक नगर या गाँव में प्रति मकान कितने व्यक्ति रहते हैं, इसके अंकों में विभिन्नता होगी। भारत में औसतन प्रति पाँच मनुष्यों पीछे एक घर है। कस्बों में तथा देहातों में यह औसत लगभग समान है। विशेष विचार करने की बात यह है कि संसार के किसी भी देश के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ के प्रत्येक नगर और ग्राम में सब आदमियों के पास अपने मकान हैं; अथवा जो मकान हैं, वे काफी हैं। आस्ट्रेलिया आदि जिन देशों में जनसंख्या के अनुपात से भूमि काफी है, या अधिक भी कही जा सकती है, वहाँ गौरांग लोगों ने अपने मकान आदि के लिए बहुत अधिक भूमि घेर रखी है, और अन्य लोगों के लिए, खासकर वहाँ के मूल निवासियों के लिए मकान आदि की तंगी है। अन्य देशों में प्रथम तो मकानों के काम में आने वाली भूमि ही कम है; दूसरे, पूंजीपतियों और सत्ताधारियों ने अपने लिए बड़े विशाल भवन बना रखे हैं तथा अपने टह-लने आदि के लिए निजी पार्क आदि बना कर सर्वसाधारण के लिए मकानों के वास्ते जगह कम कर दी है। यह बात केवल नगरों तक ही सीमित नहीं है, प्रायः गाँवों में भी ऐसे दृश्य साधारण हैं कि कुछ थोड़े से आद-मियों के पास बहुत लम्बे चौड़े मकान हैं, और बहुत से आदमियों को मकान का अभाव है। निदान, शहरों में तथा गाँवों में अनेक आदमी ऐसे हैं, जिनका अपना या किराये पर लिया हुआ भी कोई घर वा झोपड़ी नहीं; ये लोग दिन में जहाँ तहाँ घूमते रहते हैं, और रात को बाज़ार या सड़क के किनारे लेट कर अपना समय काटते हैं।

मकानों की समस्या, सर्वोदय भावना की आवश्यकता—किसी आदमी के पास राज्य में अपने रहने और गुजर करने लायक ठौर न होना बहुत करुणाजनक है। ऊपर कहा गया है, कुछ लोगों के पास उनकी वास्तविक आवश्यकता से कहीं अधिक भूमि या मकान है। इन्हें चाहिए कि सर्वोदय की भावना का परिचय दें, अपरिग्रह का विचार करें, अपनी जमीन और मकान के अधिक से अधिक भाग का उपयोग अपने दूसरे जरूरतमन्द भाइयों को करने दें। वे यह कार्य स्वेच्छा से करें, और उस समय की प्रतीक्षा न करें, जब क्रान्ति की प्रबल लहर उन्हें यह कार्य करने के लिए बाध्य करेगी। खेती के लिए भू-दान-यज्ञ की बात 'भूमि'-शीर्षक अध्याय में कही गयी है; मकान के लिए भूमि की व्यवस्था होना तो उसकी अपेक्षा बहुत छोटा काम है। अस्तु, प्रत्येक देश के गाँव-गाँव और नगर-नगर में यह कार्य योजनापूर्वक होना चाहिए। जनता और सरकार के सम्मिलित प्रयत्न से इसमें शीघ्र ही सफलता मिल सकती है।

मकान बनाने की सामग्री स्थानीय होनी चाहिए—मकान बनाने की योजना ऐसी होनी चाहिए, जो सर्वसाधारण के लिए सुलभ और व्यावहारिक हो। इसलिए उनके बनाने में जो सामान काम में लाया जाय, वह यथा-सम्भव स्थानीय ही होना चाहिए। जहाँ जिस प्रकार की लकड़ी, बाँस, बल्ली, फूस और मिट्टी आसानी से मिलती हो, वहाँ उसी को काम में लाया जाय। कोई चीज दूर-दूर से न मंगायी जाय। आज कल सीमेंट और चूने का उपयोग बहुत बढ़ता जा रहा है, और ये चीज़ें दूर-दूर से मंगायी जाती हैं, यही नहीं, कितने ही आदमी तो मकानों के लिए तरह-तरह के पत्थर, चीनी-मिट्टी के चौके या 'टाइल', भाँति-भाँति की लकड़ी और अन्य सामान भी बाहर से मंगाते हैं। यह अनुचित है। बेघर वालों के लिए मकानों की समस्या हल करने के लिए तो बाहरी सामान मंगाने का विचार ही न रखना चाहिए। देश में श्रमियों की कमी नहीं है; लोगों को मिल जुल कर मकान बनाने का काम हाथ में लेना चाहिए और कच्चा माल स्थानीय तौर पर प्राप्त करके मकानों की कमी दूर की जानी चाहिए।

मकानों का बहुत अधिक उपयोग—मनुष्य ने मकान अपनी खास-खास जरूरतों को पूरा करने के लिए बनाया, पर अब बहुत से आदमी

इस बात को व्यवहार में भूल गये हैं। वे विना जरूरत भी मकानों में ही रहते हैं। उदाहरण के लिए जब बहुत सर्दी या बरसात नहीं होती तब भी वे घर में ही सोते हैं। कितने ही आदमी दिन-चढ़े तक चारपाई या बिस्तर पर पड़े रहते हैं। मनोरंजन या खेल आदि के साधन ऐसे बना लिये गये हैं, जो घर में भी काम में आ सकते हैं। इस प्रकार आदमियों को प्रकृति के सेवन का या हवा, प्रकाश, मिट्टी आदि के उपयोग का अवसर बहुत कम मिलता है, जो उनके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है; और मकान बनाने का जो मुख्य उद्देश्य शरीर को सुख सुविधा पहुँचाना है, वह वर्तमान अवस्था में यथेष्ट रूप से पूरा नहीं हो रहा है।

मकानों की रचना और स्वास्थ्य—आधुनिक सभ्यता में मकानों की रचना में भी मनुष्य के स्वास्थ्य का पूरा ध्यान नहीं रखा जाता। यह ठीक है कि आज कल नये ढंग के मकानों में रोशनी और हवा की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जाता है, पर खासकर शहरी जीवन और केन्द्रित उत्पादन की दशा में यथेष्ट व्यवस्था हो नहीं पा रही है। इसके अतिरिक्त अब मकान ऐसे बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, जो मजबूत, पक्के और आलीशान हों। फर्श, दीवारों तथा छत में पत्थर, चूना, पक्की ईंटे और सीमेंट का व्यवहार अधिक होता है, जिससे बार-बार उसकी मरम्मत करने का प्रसंग न आवे, तथा सफाई आसानी से हो सके, उसके लिए विशेष परिश्रम न करना पड़े। प्राचीन काल में, खासकर भारत में अधिकतर मकान कच्ची ईंटों के होते थे, और फर्श मिट्टी का होता था, जो प्रायः प्रति सप्ताह तथा अन्य विविध अवसरों पर गोबर से लीपा जाता था। ऐसे मकान की सार-संभार में मनुष्य को श्रम अवश्य ही अधिक करना होता था, पर इससे उसे लाभ भी बहुत होता था। मिट्टी का स्पर्श मनुष्य के लिए कितना गुणकारी है, यह पहले बताया जा चुका है, और गोबर में दीमक तथा विविध रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करने की अद्‌भुत् शक्ति है, यह अब भली भाँति सिद्ध हो चुका है। 'सभ्य' मनुष्य को गोबर और मिट्टी वाले मकान पसन्द नहीं, इनका उपयोग करना वह अपनी शान के खिलाफ समझता है। रोग के कीटाणुओं से अपनी रक्षा करने के लिए आदमी तरह-तरह की औषधियों का सेवन करता है, या उन्हें मकान में छिड़कता है। ये औषधियाँ

जहाँ एक शिकायत को दूर करती हैं, प्रकारान्तर से दूसरी व्याधि खड़ी करती हैं, जिसे दूर करने के लिए दूसरी औषधियों की जरूरत पड़ती है। वह दुश्चक्र चलता रहता है। हमारी जरूरतें बढ़ती रहती हैं, और वे पूरी नहीं होतीं तो हमें असन्तोष और वेदना होती है। यह जानते हुए भी हम उसका सरल उपाय नहीं करते—सादगी और परिश्रम का जीवन नहीं बिताते। मकानों की रचना में यह दृष्टिकोण ध्यान में रखा जाना आवश्यक है।

नवाँ अध्याय

शिक्षा

सर्वोदय की शिक्षण पद्धति जीवन सम्बन्धी क्रियाओं पर आधार रखती है। परन्तु इतनी ही उसकी विशेषता नहीं है, उसका ध्येय अहिंसा और सत्य की बुनियाद पर एक नये समाज की रचना का प्रयत्न करना भी है।

—जो० का० कुमारप्पा

बुनियादी शिक्षण-पद्धति में गरीबों की सर्वांगीण उन्नति के लिए आतुरता भरी हुई है। इसके अन्दर जीवन-विकास की दृष्टि है। इसमें हाथ पांव और मस्तिष्क—तीनों के विकास की सामग्री और उपाय है।

—काका कलेलकर

पिछले अध्यायों में मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं—भोजन वस्त्र और मकानों के विषय में लिखा गया है। इनके अतिरिक्त हमारी अन्य प्रमुख आवश्यकताएं शिक्षा, स्वास्थ्य और मनोरंजन हैं। यहाँ शिक्षा के बारे में विचार किया जाता है।

प्राथमिक शिक्षा को यथेष्ट महत्व दिया जाना चाहिए— मानव जीवन में शिक्षा की उपयोगिता या महत्व सब जानते हैं; फिर भी शिक्षा-प्रणाली कैसी हो, यह विषय बहुत मत-भेद का है। इस विषय पर कितनी ही पुस्तकें लिखी गयी हैं, पर समस्या अच्छी तरह हल नहीं हुई। यह साफ जाहिर है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को केवल अधिक-से-अधिक धन पैदा करने वाला यंत्र बनाना नहीं है। शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि व्यक्ति स्वस्थ स्वावलम्बी, सुसंस्कृत और समाज के प्रति अपनी जिम्मेवारी पूरा करने वाला बने। यह बात तभी अच्छी तरह हो सकती है, जब बालक बालिकाओं को

प्रारम्भ से ही उचित शिक्षा मिले। परन्तु आजकल भारत में तथा और भी कई देशों में प्राथमिक शिक्षा को कुछ महत्व नहीं दिया जाता। बड़ी उम्र के तथा ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए योग्य से योग्य व्यक्तियों की खोज की जाती है, उनके लिए खूब खर्च किया जाता है और विविध प्रकार के सामान जुटाये जाते हैं। परन्तु प्राथमिक शिक्षा पाने वाले बालकों के लिए मामूली व्यक्तियों को शिक्षक नियुक्त कर दिया जाता है, जिन्हें कुछ विषयों का ज्ञान भले ही हो, बालकों सम्बन्धी ज्ञान नहीं होता; जो बालकों के स्वभाव, विचार, उनके मन पर होने वाली क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं आदि से बिल्कुल परिचित नहीं होते। ये अध्यापक बालकों के दिमाग में कुछ बातें जैसे-तैसे ठूँसने का प्रयत्न करते हैं; इनमें बालकों को भावी जीवन के लिए तैयार करने की योग्यता नहीं होती। अस्तु, आवश्यकता है कि प्राथमिक शिक्षा को उसकी उपयोगिता के अनुसार यथेष्ट महत्व दिया जाय।

बुनियादी शिक्षा, खेती या स्थानीय धन्धे का आधार— लोकहित की दृष्टि से बुनियादी शिक्षा-पद्धति सबसे उत्तम है। इसकी मुख्य बातें ये हैं—छह-सात साल के सब बालकों के लिए, उनकी मातृभाषा में सात साल तक मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध हो। शिक्षा का आधार या केन्द्र किसी प्रकार की दस्तकारी हो, या खेती हो, और सब विषय (भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास और आलेख्य आदि) उस दस्तकारी के सहारे सिखाये जायं। दस्तकारी का चुनाव स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रख कर किया जाय। जहाँ सम्भव और व्यवहारिक हो, कताई-बुनाई को प्राथमिकता दी जाय। प्रत्येक बुनियादी शाला अपने खर्च का अधिक से अधिक अंश अपने छात्रों और अध्यापकों के उद्योग से प्राप्त करने का प्रयत्न करे।* इसमें मुख्य हेतु यह है कि छात्रों में शरीर श्रम के सम्बन्ध में तथा निर्माण-कार्य के प्रति रुचि उत्पन्न हो, और वे पीछे इस श्रम का यथेष्ट सम्मान करने वाले हों, उसे

* गांधीजी का मत था कि बुनियादी शिक्षा के सात वर्षों का औसत लेकर शिक्षा की आय और व्यय बराबर होना चाहिए। हाँ, विद्यार्थियों द्वारा बनायी हुई चीजों को निश्चित दामों पर सरकार खरीदे।

बौद्धिक कार्य से नीचे दर्जे का माननेवाले न हों; वे स्वावलम्बी बनें, और देश से बेकारी दूर हो। कहना नहीं होगा कि खासकर निर्धन देशों में, सर्व-साधारण को ऐसी ही शिक्षा आसानी से दी जा सकती है, और इसी से जनता का कल्याण हो सकता है।

उच्च शिक्षा—माध्यमिक और उच्च शिक्षा में भी ऊपर कही बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए। प्रत्येक विद्यार्थी और अध्यापक अपनी आजीविका-प्राप्ति में स्वावलम्बी हो तथा दूसरों को स्वावलम्बी बनाने में सहायक हो। विज्ञान की शिक्षा दी जाय, और युवकों की आविष्कार-बुद्धि विकसित की जाय; पर उनके मन में यह बात जम जानी चाहिए कि हमारा ज्ञान हमारे स्वार्थ-साधन के लिए नहीं, लोक-कल्याण के लिए है।

गांधीजी के मत से उच्च (विश्वविद्यालयों की) शिक्षा को भी उत्पादक दस्तकारियों पर आधारित होना चाहिए। इस शिक्षा का दायित्व सरकार पर नहीं, गैर-सरकारी संस्थाओं और व्यक्तियों पर होना चाहिए। इंजीनियरिंग, व्यावसायिक, और व्यापारिक विद्यालयों का भार व्यापारिक और औद्योगिक संस्थाओं को उठाना चाहिए। कृषि, विज्ञान, चिकित्सा और साहित्य तथा सामाजिक विज्ञानों के लिए विद्यालयों को या तो स्वावलम्बी होना चाहिए या दान पर आधारित होना चाहिए। राज्य के विश्वविद्यालय केवल परीक्षाओं का प्रबन्ध करें और परीक्षाओं की फीस द्वारा स्वावलम्बी रहें।

इस समय भारत में उच्च शिक्षा देने वाली संस्थाओं से जनता का प्रायः कुछ भी हित नहीं हो रहा है, और वे सर्वसाधारण से प्राप्त टेक्सों आदि की आय पर एक भार बनी हुई है। यह अनुचित है। इसमें आमूल परिवर्तन करने की जरूरत है। उदाहरण के लिए जो० का० कुमारप्पा ने कहा है—

'आज हमें यह भावना पैदा करनी चाहिए कि हमारे खेती-कालिजों की जिम्मेदारी है कि जमीन पर कहर न पड़ने दें। अगर वे ऐसा नहीं करते तो इन कालिजों को पालने में कोई तुक नहीं है। अब तक इन कालिजों में जुदा-जुदा जाति की ईखें उगायी गयी हैं ताकि मिलों को हर महीने ईख मिलते रहें और मशीनें लगातार चलती रहें। अमरीकी रूई

और देशी रुई के मेल से उन्होंने नयी रुई बनायी है, लेकिन गाँव वालों की असली जरूरत की परवाह जरा भी नहीं की जाती।'*

कुछ मुख्य बातें—इस प्रकार शिक्षा-पद्धति की कुछ मुख्य बातें ये होनी चाहिएं :—

(१) विद्यार्थी शारीरिक श्रम करने वाले, और उसकी इज्जत करने वाले हों।

(२) वे शिक्षा पाकर अपने ग्रामीण भाइयों से सम्पर्क रखने वाले हों; एक अलग दुनिया में विचरण करने वाले न हों।

(३) वे स्त्री जाति के सुख-सुविधाओं और उन्नति का प्रयत्न करने वाले हों।

(४) वे अपने जीवन का उद्देश्य स्वार्थ-साधन न मानें, और लोक-कल्याण में भाग लेने वाले हों।

(५) वे अपने निकटवर्ती समाज की सेवा तो करें ही, पर देश या राज्य के हित का ध्यान रखें। यही नहीं, उनकी नागरिकता की भावना किसी संकीर्ण क्षेत्र तक परिमित न होकर विश्वबंधुत्व वाली हों।

श्रम-प्रतिष्ठा—ऊपर कहा गया है कि विद्यार्थी श्रम करने वाले और उसकी इज्जत करने वाले हों। इस समय इस पर बहुत ध्यान दिये जाने की आवश्यकता है; कारण, आधुनिक शिक्षा पद्धति में इसकी बहुत ही अवहेलना की जाती है, और परिणाम-स्वरूप पढ़े-लिखों का अपनी आजीविका के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरना, बेकारी बढ़ना, देश में उत्पादन कम होना, तथा शिक्षितों का, किसानों और मजदूरों से अलग ही दुनिया बनाना आदि बातें हमारे सामने हैं। इन बातों का अन्त होना चाहिए।

इस प्रकार भविष्य में हमारे विद्यालय खेतों और उद्योग-गृहों में होने चाहिएँ हमारे शिक्षित बालक सर्वप्रथम गौरवशील किसान और औद्योगिक हों। हमारे शिक्षक स्वयं खेतीहर और औद्योगिक हों।

प्रौढ़-शिक्षा—प्रौढ़-शिक्षा का अर्थ यही नहीं है कि बड़ी उम्र के बालकों को, जो नियमित रूप से स्कूलों में नहीं पढ़ सके हैं, अक्षर-ज्ञान करा दिया जाय। इस शिक्षा का मुख्य कार्य व्यवहार-ज्ञान या नागरिकता की शिक्षा होना चाहिए।

---

*'गांधी अर्थ विचार' से

अक्षर-ज्ञान इसमें सहायक हो सकता है। यह शिक्षा कम-पढ़े-लिखे तथा ज्यादा-पढ़े-लिखे सभी प्रकार के लोगों को दी जा सकती है। अपना रोजगार-धंधा शुरू करने के बाद भी आदमी अपनी शिक्षा जारी रखे, यही प्रौढ़ शिक्षा है। यह कार्य सरकार के भरोसे छोड़ देना ठीक नहीं है। जिन लोगों को विशेष शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर मिला है, उनका कर्त्तव्य है कि वे अपने पास-पड़ोस के उन भाई बहनों को शिक्षा दें, जो इससे वंचित रह गये हैं। उन्हें प्रौढों को पढ़ाने की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लेनी चाहिए, और उस समय की प्रतीक्षा न करनी चाहिए जब सरकार कानून द्वारा उन्हें यह कार्य-भार लेने के लिए बाध्य करे। गांधीजी के शब्दों में:—

'प्रौढ़-शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो स्त्री-पुरुषों को हर तरह बेहतर नागरिक बनाये...किताबें होंगी, पर वे विद्यार्थी के बजाय शिक्षकों के काम की अधिक होंगी, हमें बहुमत को यह सिखाना होगा कि वे अल्पमत वालों के साथ कैसा बर्ताव करें, और यही अल्पमत वालों को भी सिखाना होगा।' ठीक ढंग की प्रौढ़-शिक्षा लोगों को पड़ोसियों का भाई चारा सिखायेगी और इस तरह अस्पृश्यता और साम्प्रदायिक समस्या की जड़ पर ही कुठाराघात करेगी।...हमें गाँव वालों को सहकारिता की भी शिक्षा देनी है।'

शिक्षा जीवन-व्यापी हो—संक्षेप में यह कहना है कि हरेक बालक और प्रौढ़ को, पुरुष और स्त्री को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह स्वयं सात्विक और स्थायी सुख वाला जीवन बिताये और समाज के भी ऐसे ही जीवन बिताने में सहायक हो। आजकल शिक्षा भी एक फैशन हो चला है; बिना शिक्षा या कम शिक्षा वालों को नीचे दर्जे का माना जाता है, इस लिए हम अपने बालकों को विश्व-विद्यालयों और विद्यापीठों की डिग्री-डिप्लोमा दिलाने का प्रयत्न करते हैं। होना यह चाहिए कि एक खास लक्ष्य रख कर हम उन्हें जीवन की शिक्षा दिलायें। इस प्रसंग में श्री जो० का० कुमारप्पा ने कहा है—

'बालकों की शिक्षा में जीवन के सारे क्षेत्रों का समावेश होना चाहिए, जैसे व्यक्तिगत सफाई, घरेलू कामकाज, समाज-सेवा, उत्पादन और वितरण। बच्चों

की उम्र के मुताबिक इन कामों को सिखाने की तजवीज हो। सर्वोदय का कार्य-क्रम जीवनव्यापी है, क्योंकि उसमें सब के उत्कर्ष का अभिप्राय है। इस लिए हमारे देश के समूचे जीवन के साथ कम्बन्ध रखने वाली हर चीज से हमारे बच्चों का परिचय होना चाहिए। देश की जरूरत की चीजें देश में ही पैदा करके हम सबकी तरक्की सिद्ध करेंगे। हमको स्वयं पूर्ण और स्वावलम्बी बनना है।'

श्री विनोबा के विचार—श्री विनोबा ने इस विषय पर खूब चिन्तन और मनन ही नहीं किया है, वरन् कई वर्ष-बालकों को-यह शिक्षा दी है। उनकी अनुभव-पूर्ण बातें बहुत विचारणीय हैं। उनका मत है कि हर देहात में प्रातः-काल सूर्योदय के समय एक घंटे का स्कूल चलाया जाय। इसमें बालकों को पढ़ाया जाय। इसी तरह शाम को प्रौढ़ों के लिए श्रवण वर्ग चले, जिसमें रामायण भागवत आदि किताबों को पढ़ कर सुनाया जाय; संतों के चरित्र और गाथाएँ भी सुनायी जायें, गाँव की समस्या सोची जायें। खेती इत्यादि के बारे में नयी जानकारी दी जाय, भजन संगीत वगैरह सुनाया जाय। ऐसे स्कूल के अध्यापक दिन भर अपना काम कर सकते हैं। उन्हें बहुत तनख्वाह देने की जरूरत नहीं है, गाँव के लोग थोड़ा सा अनाज साल भर में उन्हें दे देंगे, सम्भव है उसकी भी आवश्यकता न हो। जैसे हम सम्पत्तिदान का हिस्सा लेते हैं, वैसे वह भी दिन में एक घंटा लोगों को प्रेम से सिखाने में बुद्धिदान देगा। इस तरह स्कूल करीब-करीब मुफ्त में ही चलेगा।

इस एक घंटे के स्कूल में जो पढ़ाई होगी उसका सम्बन्ध खेती, गृह-उद्योग इत्यादि ग्राम-जीवन के साथ होगा। घर-घर में रसोई चलती है, खाना बनता है वह भी तालीम का एक साधन माना जायगा, आहार-शास्त्र इत्यादि की कई बातें उसके जरिये सिखावी जायेंगी। गाँव में सफाई करने का गाँव वालों का जो कर्त्तव्य है वह भी गाँव का एक बुनियादी साधन माना जायगा। गाँव में कोई रोग फैला है तो रोग-निवारण का जो कार्य किया जायगा वह भी ज्ञान-प्राप्ति का एक साधन होगा। गाँव में कोई शख्स मर गया है तो उसकी मृत्यु भी ज्ञान का साधन होगी। कहीं वारिश ज्यादा हुई है इसलिए कम फसल पैदा हुई, तो वह भी ज्ञान का साधन होगी। गाँव में जो उत्सव होंगे, गाँव में शादी होगी, वे भी

ज्ञान-प्राप्ति के साधन हो जायेंगे। इस तरह गाँव की हर एक घटना, गाँव का हर एक विषय ज्ञान-प्राप्ति का साधन होगा।

इतना सारा काम एक घंटे में कैसे होगा? एक घंटा सुबह और एक घंटा शाम, इस तरह से दो घंटे के श्रवण-पठन वर्ग में बहुत ज्ञान मिल सकता है। यह मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ। आज जहाँ पांच-पाँच घंटे का स्कूल चलता है, वहाँ छह-छह महीने की छुट्टी दी जाती है। इसलिए वह ढाई घंटे का स्कूल हो गया। उसमें सीखने के साथ भूलने का भी काम होता है। हमारा स्कूल रोज का स्कूल होगा, उसमें भूलने के लिए अवसर नहीं मिलेगा। इसके अलावा जैसे रोज खाते हैं तो शरीर की पुष्टि होती है, इसी तरह रोज थोड़ा-थोड़ा अध्ययन करने से मन को तुष्टि मिलेगी। ज्ञान-रूपी भोजन के वास्ते छुट्टी की जरूरत होती ही नहीं है।*

* कांचीपुरम् सम्मेलन में दिये प्रवचन से संकलित।

दसवाँ अध्याय

स्वास्थ्य और मनोरञ्जन

जिस चीज का मनुष्य पुतला है, उसी से इलाज ढूँढ़े। पुतला पृथ्वी, पानी, आकाश, तेज और वायु का बना है; इन पाँच तत्वों से जो मिल सके सो ले।...शुद्ध शरीर पैदा करने का प्रयत्न सब करें और उसी प्रयत्न में कुदरती इलाज अपने आप मर्यादित हो जाता है। दुनिया के असंख्य लोग दूसरा कर भी नहीं सकते; और जिसे असंख्य नहीं कर सकते, उसे थोड़े क्यों करें!

—गाँधीजी

(१) स्वास्थ्य

संसार के सभी देशों में स्वास्थ्य सम्बन्धी बहुत से सुधार करने की गुंजायश है, गरीब और अशिक्षित जनता का स्वास्थ्य तो बहुत ही चिन्तनीय दशा में है। आदमी की आदर्श आयु सौ वर्ष की मानी गयी है। कुछ देशों में औसत उम्र साठ वर्ष है, तो भारत में सिर्फ अट्ठाइस वर्ष ही है।

लोगों का अल्पायु होना समाज के लिए हानिकर—लोगों की उम्र कम होने से समाज की कितनी हानि होती है, यह सहज ही पूरी तरह ध्यान में नहीं आता। कल्पना करो कि एक आदमी की उम्र तीस वर्ष की है। उसकी उम्र के पच्चीस वर्ष तो शिक्षा और काम सीखने आदि के निकाल दिये जायँ तो समाज के उपयोग में उसके जीवन के केवल पाँच वर्ष ही आये। अब अगर इस आदमी का जीवन दस वर्ष और बढ़ जाय तो यह समाज को पन्द्रह वर्ष के कार्य और अनुभव का लाभ दे सके। इसका अर्थ यह हुआ कि चालीस वर्ष का आदमी तीस वर्ष वाले की अपेक्षा तिगुना उपयोगी हो जाता

है। इसी प्रकार आगे विचार किया जा सकता है। निदान, प्रत्येक राष्ट्र को दीर्घजीवी और स्वस्थ व्यक्तियों की आवश्यकता है।

निरोग रहने के उपाय; सादा रहनसहन, व्यायाम और खेल—यहाँ स्वास्थ्य-रक्षा के उपायों में विस्तार से लिखने का स्थान नहीं है, खास ध्यान इस बात की ओर दिलाना है कि मनुष्य की शरीर-रचना इस प्रकार की है कि यदि वह स्वाभाविक जीवन व्यतीत करे और प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग करता रहे तो बीमार पड़ने का प्रसंग बहुत कम आये। पर मनुष्य ने अपना रहनसहन बहुत कृत्रिम बना लिया है; वह अपने भोजन वस्त्र और मकान में शरीर के हित का विचार न करके सामाजिक दिखावे या आडम्बर, शौकीनी और विलासिता पर जोर देता है। यदि वह प्रकृति के निकट रहे, खानपान और रहनसहन सादा रखे तो वह बारबार बीमार न पड़े; प्रायः स्वस्थ ही रहे। इस विषय की मुख्य बातें पहले बतायी जा चुकी हैं। यहाँ व्यायाम और खेलों के बारे में ही कुछ विचार करना है।

व्यायाम और खेल स्वास्थ्य-रक्षा के लिए आवश्यक और उपयोगी हैं। आदमी चाहे तो इनकी व्यवस्था बिना कुछ द्रव्य खर्च किये ही हो सकती है। भारत में पहले दंड बैठक और कुश्ती आदि का प्रचार था, अब तो कितने ही आदमी अंग्रेजों की देखा-देखी व्यायाम के लिए सेंडों के डम्बल तथा अन्य उपकरणों का उपयोग करते हैं, जो काफी कीमती होते हैं। इसी प्रकार यहाँ कबड्डी और गेन्द-बल्ले आदि का चलन कम हो गया है, और पढ़े-लिखे या शौकीन आदमी क्रिकेट, फुटबाल, टेनिस आदि ऐसे खेल खेलते हैं, जिनमें खर्च बहुत होता है, और जिनका विशेष लाभ इने-गिने आदमियों को ही मिलता है। इस विषय में दृष्टिकोण बदलने की बहुत जरूरत है। हमें ऐसे खेलों में भाग लेना चाहिए, जिनमें खर्च बहुत कम हो; इससे भी अच्छा यह है कि खेती और ग्रामोद्योग के काम करें, जिनसे उत्पादन में सहायता मिले और देश का हित हो। लोकोपयोगी कार्य करने में आनन्द मिलता ही है। निदान, हमें शौकीनी के आमोद-प्रमोद से बच कर उत्पादक, तथा स्वास्थ्य बढ़ानेवाले व्यायाम और खेलों में भाग लेना चाहिए।

रोग निवारण, औषधियों का सेवन—अधिकांश आदमी चाहे वे जानें या न जानें, किसी न किसी रोग से ग्रस्त हैं। डाक्टर और वैद्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, और ज्यों-ज्यों वह बढ़ रही हैं, त्यों-त्यों नये-नये रोगों की, और रोगियों की भी वृद्धि हो रही है। कितने ही आदमी प्रतिदिन भोजन की ही तरह औषधि का सेवन अनिवार्य मानते हैं, और भोजन के बाद कोई चूर्ण, चटनी या लेमनेड आदि ऐसा पदार्थ लेते हैं, जिससे खाना हजम होने में मदद मिले। अन्य आदमी समय-समय पर विविध रोगों से विशेष रूप से ग्रस्त हो जाने पर तरह-तरह की—सैकड़ों प्रकार की—दवाइयाँ लेते हैं। औषधियों में जड़ी-बूटी या बनस्पति आदि के अतिरिक्त अनेक प्रकार के खनिज या सामुद्रिक पदार्थ—लोहा, चाँदी, सोना, पारा, गंधक, अभ्रक, मूंगा मोती, शंख आदि न-जाने क्या-क्या होता है; अफीम, शराब, संखिया आदि का भी उपयोग होता है, अनेक जानवरों का रक्त, चर्बी, मांस आदि भी विविध रूपों में दिया जाता है। औषधियों के विषय में नित्य नये अविष्कार हो रहे हैं, कौन जानता है, जो चीजें अब तक औषधियों के रूप में काम में नहीं आने लगी हैं, उनमें से भी कौनसी कब, किसी न किसी रूप में औषधि बन जाय! आदमी को अपने इस निरंतर बढ़ते हुए ज्ञान का गर्व है। परन्तु, अफसोस! वह भूलता है, अधिकांश औषधियाँ हानिकारक हैं, वे एक रोग को दबाती हैं, तो थोड़े-बहुत समय में उसी रोग को या किसी नये रोग को आमंत्रित करने वाली होती हैं। वास्तविक रोग-निवारण के लिए हमें खासकर प्राकृतिक चिकित्सा अपनानी चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा की विशेषता—अन्यत्र बताया गया है कि सर्वोदय की दृष्टि से हमारे उद्योग-धंधों तथा रहनसहन में केन्द्रीकरण की भावना न होकर विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। प्राकृतिक चिकित्सा समाज को विकेन्द्रीकरण की ओर ही ले जाती है। इसके द्वारा आदमी अपने गाँव और घर में ही रहते हुए स्वास्थ्य-लाभ कर सकता है; कारण, इसके लिए जिस धूप, पानी, हवा और मिट्टी की जरूरत होती है, ये हर जगह, खासकर गाँव में सुलभ हैं। शहरों में बस्ती बहुत घनी और केन्द्रित हो जाने से मकानों में धूप बहुत कम

आती है, हवा खराब रहती है, और खुली तथा ताजी हवा दुर्लभ होती है, पानी भी नलों का होने से वैसा अच्छा नहीं रहता, जैसा कुंओं से मिलने वाला होता है। इस प्रकार शहरी वातावरण में प्राकृतिक जीवन के साधनों का अभाव होता है। वहाँ आदमी ऐलोपेथी पद्धति की ओर झुकता है; जिसमें बहुत खर्च है, और बहुत सा रुपया विदेशों को भेजना होता है, तो भी शरीर में विजातीय पदार्थों का प्रवेश होने से लाभ क्षणिक ही होता है, और अनेक दशाओं में वह भी नहीं होता।

निस्संदेह यह विचारणीय है कि बड़े-बड़े औषधालय या अस्पताल, जिनमें से एक-एक के लिए हजारों और लाखों रुपये की औषधियों और यंत्रों की आवश्यकता होती है, आखिर देश में कितने बनाये और चलाये जा सकते हैं ! लाखों बस्तियों में बिखरी हुई जनता के वास्ते वे कभी भी काफी नहीं हो सकते। वे साधारण स्थिति के आदमियों की पहुँच से बाहर ही रहने वाले हैं। इस प्रकार जनता की चिकित्सा की समस्या प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति से ही हल हो सकती है।

ग्रामीण वातावरण की आवश्यकता—ऊपर बताया गया है, कि मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक प्राकृतिक तत्व ग्रामों में ही अच्छी तरह मिल सकते हैं। इस प्रकार हमारे लिए ग्रामीण वातावरण बहुत उपयोगी है। आधुनिक सभ्यता में इसका निरंतर ह्रास होता जा रहा है। उत्पत्ति का केन्द्रीकरण करने वाले कल-कारखानों ने जनता का जीवन और रहनसहन अस्वाभाविक बना दिया है; सम्पत्ति और सुख के साधन मुट्ठी भर धनी लोगों को ही प्राप्त होते हैं, उनमें से भी बहुत से अपनी विलासिता के कारण विविध रोगों के शिकार बने रहते हैं। आवश्यकता है कि अधिक से अधिक उत्पादन स्वतंत्र ग्रामोद्योग पद्धति से हो, जिससे जनता प्राकृतिक जीवन बितानेवाली और सादे रहनसहन वाली हो।

संयम—स्वास्थ्य के लिए उपर्युक्त बातों की अपेक्षा मानसिक संयम का कुछ कम महत्व नहीं। मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि या विचार-शक्ति की विशेषता है; इसके कारण जहाँ वह पशुओं से बहुत ऊँचा उठ सकता है, वह उनसे बहुत नीचे भी गिर सकता है। दुर्भाग्य से स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में मनुष्य कुछ

दशाओं में पशुओं से भी गया-बीता है। वह केवल सन्तान-प्राप्ति के लिए ही सम्भोग नहीं करता, वरन् कामुकता या वासना का शिकार होकर अनुचित समय पर तथा आवश्यकता से कहीं अधिक सम्भोग करता है। ऐसा व्यक्ति, स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य नियमों का चाहे जितना पालन करे, स्वस्थ नहीं रह सकता। उसकी कार्यकुशलता का ह्रास होकर ही रहेगा। इसके अतिरिक्त वह रोगी और कमजोर सन्तान की सृष्टि कर समाज के लिए संकट उपस्थित करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य के लिए मनुष्य को संयम पर भी यथेष्ट ध्यान देना चाहिए; हाँ, घर का तथा समाज का वातावरण भी इसके अनुकूल होना चाहिए।

(२) मनोरञ्जन

मानव जीवन में मनोरंजन का भी महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। सभी आदमी मनोरंजन चाहते हैं, और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। कुछ मनोरंजन आदमी के लिए हितकर होते हैं और कुछ हितकर नहीं होते, और कुछ तो हानिकारक ही होते हैं। इस विषय में कुछ विशेष विचार आगे किया जायगा।

काम में ही मनोरंजन—आजकल कितने ही आदमी सिर्फ बौद्धिक कार्य करते हैं, शरीर-श्रम नहीं करते, और अनेक शरीर-श्रमियों में बौद्धिक कार्य करने के लिए योग्यता या सुविधा नहीं है। दोनों ही तरह के आदमियों को अपने रोज-मर्रा के काम में कुछ मनोरंजन नहीं होता। फिर, वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था और यंत्रोद्योग पद्धति में आदमी का काम नीरस और थकाने वाला होता है, उसमें उसको, कुछ द्रव्य मिलने के अतिरिक्त, कोई दिलचस्पी नहीं होती। होना यह चाहिए कि काम में ही आदमी को रस हो। आनन्द को काम से बाहर ढूँढ़ने की ज़रूरत न रहे। छह-सात घंटे काम और एक घंटा सिनेमा या जुएघर आदि का, या नशे की अवस्था में प्रतीत होने वाला मनोरंजन—यह विभाजन अस्वाभाविक और पतनकारी है। निस्संदेह धन्य हैं, वे व्यक्ति जो मनोरंजन की खोज अपने काम से बाहर नहीं करते, उसे अपने नित्य के कार्य में ही पाते रहते हैं। जब एक प्रकार के कार्य से जी उकताये तो आदमी दूसरे प्रकार का कार्य हाथ में

ले सकता है, इससे उसे बहुत राहत मिलेगी। हाँ, यह बात तभी अमल में आ सकती है, जब आदमी स्वतंत्र रूप से खासकर खेती या ग्रामोद्योग का कार्य करता है, किसी की अधीनता में या यंत्रोद्योगों का नहीं।

कुछ हितकर मनोरंजन—कुछ दशाओं में आदमी को अपने काम धंधे से बाहर के मनोरंजन की भी आवश्यकता हो सकती है। इसलिए यहाँ उसका उल्लेख किया जाता है। अच्छे समाचारपत्र और पुस्तकों के अवलोकन से मनोरंजन के साथ हमें ज्ञान-वृद्धि और चरित्र-निर्माण में भी सहायता मिल सकती है। कभी-कभी अपने गाँव या नगर से बाहर दूसरे स्थानों में जाकर प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक दृश्य देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार चित्रकारी, बागवानी, तैरना, खेलना-कूदना आदि भी मनोरंजन के अच्छे साधन हैं। हम समय-समय पर अपने मुहल्ले की गलियों आदि की सफाई में भाग ले सकते हैं, अथवा अपने यहाँ के बालकों को साफ-सुथरा रखने में सहायता कर सकते हैं। कुछ आदमी मनोरंजन के लिए ताश चौसर या शतरंज आदि खेलते हैं। ये खेल साधारणतया निर्दोष होते हैं, पर हम स्मरण रखें कि ये एक सीमा तक ही उपयोगी हैं, इनमें हमारा बहुत अधिक समय न जाय। जब आदमी समय की मर्यादा न रख कर कई-कई घंटे इनमें लगे रहते हैं तो इनका वास्तविक उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है।

हानिकारक मनोरंजन—आज कल सिनेमा, नाटक, नाचघर क्लब आदि में, सभ्य कहे जाने वाले लोगों के समय, द्रव्य और शक्ति का कितना दुरुपयोग होता है! शहरों में रेडियो का प्रचार बढ़ रहा है, पर इसका भी सदुपयोग कम ही होता है! इसमें सन्देह नहीं कि सिनेमा और नाटक, मनोरंजन के अतिरिक्त, शिक्षा के भी अच्छे साधन हो सकते हैं। पर आजकल अधिकांश सिनेमाओं से लोगों के शील और सदाचार को आघात पहुँचता है। उनके फिल्मों या चित्रपटों के चुम्बन, आलिंगन आदि दृश्यों से प्रायः युवकों और युवतियों के हृदयों पर अनिष्टकारी प्रभाव पड़ता है और दुराचार या व्यभिचार को प्रोत्साहन मिलता है। कितने ही चित्रपटों में चोरी, डकैती, नारीहरण या शिशुहरण आदि दृश्य ऐसी शैली से दिखाये जाते हैं कि दर्शकों में छल, कपट, दुस्साहस, चंचलता

और उत्तेजना आदि का भाव उत्पन्न होता और बढ़ता है और वे इन अपराधों को करने के लिए नये आधुनिक उपाय काम में लाने के लिए प्रेरित होते हैं।

ऊपर ताश, चौसर और शतरंज को साधारणतया निर्दोष मनोरंजन बताया गया है। पर कितने ही आदमी इन खेलों के साथ जुए को भी जोड़ देते हैं। जो लोग जुए के इरादे से इन्हें खेलते हैं, वे अपने द्रव्य को बरबाद करने के साथ जीवन को कष्टमय बना लेते हैं। जो व्यक्ति हारता है, उसकी तो हानि प्रत्यक्ष और तत्काल होती है; जो जीतता है, वह धन को बिना परिश्रम, मुफ्त में पाजाने के कारण उसका ठीक उपयोग नहीं करता। हारने वाले जीतने की आशा में, तथा जीतने वाले और अधिक धन प्राप्त करने की आशा से अधिकाधिक जुआ खेला करते हैं। इससे अनेक परिवारों का दीवाला निकलने, तथा जेवर और घर आदि बिकने की नौबत आ जाती है। यह देख-सुन कर भी जो आदमी एक बार इस व्यसन में फंस जाता है, ज ्दी ी इससे मुक्त नहीं होता। खेद है भारत में इसे कुछ धार्मिक रूप दे दिया गया है। आवश्यकता है, आदमी इस व्यसन से बिलकुल बचा रहे, तथा सरकार भी इसे रोकने के लिए प्रभावकारी उपाय काम में लाये।

कुछ लोग मनोरंजन के लिए शराब का सेवन करते हैं। बात यह है कि प्राय: उनका जीवन बहुत संघर्षमय रहता है, उसमें किसी प्रकार का आनन्द या रस नहीं होता। वे कल-कारखानों या कार्यालयों में ऐसा श्रम करते हैं, जिसमें वे बहुत थक जाते हैं, और उनका दिल-बहलाव नहीं होता; वे दूसरे आदमियों के पास या बाजारों में तरह-तरह की विलासिता, आमोद-प्रमोद या शौकीनी की चीजों को देख कर उन्हें प्राप्त करने के इच्छुक होते हैं, पर अपने परिमित आर्थिक साधनों से उन्हें प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। वे अपनी इस दुखमय अवस्था को—कुछ ही देर के लिए सही—भुला देने के लिए शराब का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार मदिरा-सेवन लोगों के गिरे हुए जीवन का लक्षण है; इसे बन्द तभी किया जा सकेगा, जब लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठे; वे स्वावलम्बी, आशा-पूर्ण, आनन्दमय जीवन व्यतीत करें, यथा-सम्भव अपने-अपने परिवार में या मेलजोल वाले मित्रों के साथ उत्पादन-कार्य करें, विशाल यंत्रोद्योगों से बचें,

जीवादी संगठन से मुक्त हों; सादगी, सेवा और संतोष को जीवन का मूल त्र बनायें।

विशेष वक्तव्य—स्मरण रहे कि यह आवश्यक नहीं है कि जो कार्य अच्छा है, वही हमेशा रुचिकर भी हो, और जो कार्य रुचिकर है वह हमेशा अच्छा ही हो। श्रेय और प्रेय का विवाद सनातन है। हमें चाहिए कि मनो-रंजन के नाम पर हम ऐसे कार्यों में भाग न लें, जिनसे हमारे मन पर बुरा प्रभाव पड़े और हमारे समय, शक्ति या द्रव्य की हानि हो। जो मनोरंजन निर्दोष हों, वे भी परिमित समय तक ही किये जाने चाहिएँ। हमें यथा-सम्भव ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हमें अपने रोजमर्रा के काम में ही यथेष्ट मनो-रंजन की अनुभूति हो, तथा हमारे मनोरंजन से हमारा तथा समाज का हित हो।

ग्यारहवाँ अध्याय

रहनसहन का दर्जा और जीवन-स्तर

जीवन का स्तर केवल आर्थिक सुविधाओं से ऊँचा नहीं होता, उसमें आदर्श की ओर चलने की प्रेरणा चाहिए। मनुष्य-जीवन की सफलता इन्द्रिय-भोग की प्रचुरता में नहीं, किन्तु उसके नियंत्रण में है। देश की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए हम अपनी आवश्यकताएँ बढ़ाएँ—यह अर्थशास्त्र को उलटा समझना है।

—पुरुषोत्तमदास टंडन

जीवन की उन्नति ही बुनियादी चीज है, जीवन-रिद्धि (रहनसहन का ढंग) नहीं। रिद्धि की वृद्धि तो मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्श और सुप्त व प्रत्यक्ष शक्तियों को कम करके उसके जीवन की उन्नति को ठेस पहुँचा सकती है।

—किशोरलाल मश्रूवाला

पिछले अध्यायों में भोजन, वस्त्र और मकान आदि के बारे में लिखा गया है। इनका मानव जीवन में बड़ा महत्व है। हम क्या खाते-पीते हैं, कैसे कपड़े पहनते हैं, कैसे स्थान में रहते हैं, इन बातों का असर हमारे जीवन पर तो होता ही है, कुछ अंश में दूसरों के जीवन पर भी होता है; कारण, मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अकसर दूसरों को देखकर अपना रहनसहन का ढंग निश्चित करता है, और समय-समय पर उसमें आवश्यक परिवर्तन करता है। इसलिए रहनसहन के नमूने या दर्जे ऐसे बनाये जाने चाहिए, जिनसे हमारा वास्तविक हित हो, और यदि उनके अनुसार दूसरे आदमी चलें तो उनका भी हित हो।

रहनसहन का दर्जा, पदार्थों का उपयोग—आजकल बहुत से आदमी समाज में सभ्य या धनवान गिने जाने के लिए हमेशा इस फ़िक्र में रहा करते हैं कि उनका रहनसहन, खानपान और वेश-भूषा बढ़िया, ऊँचे दर्ज़े की दिखायी दे। यही कारण है कि काम में आने वाली चीजों की उपयोगिता का विचार मुख्य न होकर यह सोचा जाता है कि वे देखने में अच्छी हों, खूब बढ़िया, कीमती, विविध प्रकार की या नये-नये ढंग की हों। हमारे उपयोग के पदार्थों की संख्या बेशुमार है, तथा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है; उदाहरण के लिए खाने के वास्ते तरह-तरह के बिस्कुट, डबल रोटी, मिठाइयाँ, अचार, मुरब्बे; पहनने के लिए रूई, ऊन, रेशम, सन, पटसन आदि के भाँति-भाँति के कपड़े; 'बीमारियों से बचने' के लिए सैकड़ों रजिस्टर्ड पेटन्ट या अनुभूत् दवाइयाँ; सुनने के लिए, ग्रामोफोन और रेडियो; देखने के लिए सिनेमा और नाटक आदि; सूँघने के लिए विविध सेन्ट या सुगन्ध वाले द्रव्य; स्वाद या जायके के लिए लेमन-ज्यूस, आइस-क्रीम (मलाई का बर्फ) और चुस्की; विश्राम करने के लिए मुलायम गद्दे, तकिये और आराम कुर्सी या कोच आदि; मनोरंजन के लिए उपन्यास, नाटक, कहानियाँ संगीत और चित्रादि। अनेक आदमियों के लिए यह सब कुछ है, और इससे बहुत अधिक है। फिर भी उन्हें संतोष या शान्ति नहीं।

पाश्चात्य देशों में लोगों का जीवन—समाज में रहनसहन का दर्जा ऊँचा दिखाने के लिए इंगलैण्ड में आदमी कैसा जीवन बिता रहे हैं, इस पर प्रकाश डालते हुए श्री विलफ्रेड बेलाक ने लिखा है—'जहाँ तक ब्रिटेन का सम्बन्ध है, अधिकांश लोगों के लिए रहनसहन का दर्जा बढ़ने का मतलब यह है—प्रति दिन आठ घण्टे का नीरस और निरर्थक काम जिसमें उनकी सर्जक शक्ति का कोई उपयोग नहीं होता, तथा बदले में इतनी मजदूरी कि वे मनचाही शराब और सिगरेट खरीद सकें, सिनेमा देख सकें और फुटबाल, घूसेबाजी तथा कुत्तों और घोड़ों की दौड़ को लेकर जो अनेक तमाशे और जुए होते रहते हैं, उनमें भाग ले सकें। स्त्रियों के लिए भी उसका यही मतलब है कि वे नियम से सिनेमा देखती रहें तथा सिगरेट पीती रहें और तरह-तरह के अंगरागों से शरीर सजाती रहें।

'साल में आठ-नौ महीने तक प्रति शनिवार लगभग १०-२० लाख लोग लगातार ऐसे तमाशे देखते रहते हैं, और इनसे भी ज्यादा संख्या में लोग इन खेलों से सम्बद्ध जुओं में भाग लेते हैं। इस तरह वे अपना अधिकांश समय और अपनी आय के ७० करोड़ पौण्ड उनमें प्रति वर्ष बरबाद करते हैं। तमाखू शराब और जुए पर ब्रिटेन का वार्षिक व्यय अब दो अरब पौण्ड से भी ज्यादा है।'

इससे यूरोप अमरीका के विविध देशों की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

भारत की बात—यूरोपीय देशों की अपेक्षा भारत बहुत निर्धन है, पर यहाँ भी रहनसहन का दर्जा ऊँचा करने की लहर चल रही है। शौकीनी का सामान, औषधियाँ, चाय, सीगरेट-बीड़ी आदि का उपयोग बढ़ता ही जा रहा है, सिनेमा-घरों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। एक-एक शहर में कई-कई सिनेमा-घर हैं। तो भी वे काफी नहीं समझे जाते। अनेक आदमी होठ लाल करने के लिए पान का सेवन करते हैं, उससे संतुष्ट न होकर नये शौकीन खास तरह की बत्तियां ('लिप-स्टिक') इस्तेमाल करते हैं। चेहरे खूबसूरत दिखायी दें, इसके लिए तरह-तरह के पाउडरों का उपयोग किया जाता है। स्त्रियाँ तो शृंगार के लिए प्रसिद्ध ही हैं, हमने ऐसे पुरुष भी देखे हैं, जिन्होंने अपने नख रंगने के लिए 'नेल-पालिश' लगा रखा था।

रहनसहन का दर्जा 'ऊँचा' करने की अनिष्टकारी सनक—इस प्रकार अनेक आदमी अपना रहनसहन ऐसा बनाने की कोशिश करते हैं, जो समाज में ऊँचे दर्जे का कहा जाता है। वास्तव में जिसे आजकल 'ऊंचा' दर्जा कहा जाता है, वह ऊँचा नहीं; हाँ, वह बहुत जटिल या पेचीदा अवश्य है। इसी प्रकार जो रहनसहन नीचे दर्जे का कहा जाता है, उसे सादा रहनसहन कहना चाहिए। अस्तु, जहाँ साधारण अल्प-मूल्य चीजों से काम चल सकता है, हम बढ़िया, बहुमूल्य वस्तुओं को उपयोग करने में अपना गौरव मानते हैं। इसके उदाहरण हमारे रोजमर्रा के जीवन में पग-पग पर मिलते हैं। दाँत साफ करने के लिए नीम या बबूल की दतवन बहुत उपयोगी होती है; शहरों में जहाँ इन्हें प्राप्त करने में कुछ कठिनाई है, मिट्टी, राख या नमक आदि से

अच्छा दन्त-मन्जन बन सकता है, पर शौकीनी के लिए कीमती 'टूथ ब्रुश' और 'टूथ-पेस्ट' चाहिए, जो अगर ठीक तरह इस्तेमाल न किये जायं तो बहुत हानिकर होते हैं। कंकर या कांटों से पांवों की रक्षा के लिए साधारण चप्पल या मामूली जूते काफी हैं, पर आदमी तीस-पैंतीस रुपये तक के या इससे भी बढ़िया बूट पहनना चाहते हैं, जिसके साथ जराब या मोजे भी होने चाहिएं, और फिर सारी पोशाक ही उस के अनुसार कीमती हुए बिना शोभा नहीं देती। जहाँ साधारण सूती कपड़ा अच्छा काम दे सकता है, रहनसहन का दर्जा ऊँचा रखने के अभिलाषी बढ़िया सिल्क (रेशम) आदि का वस्त्र पहनना पसन्द करते हैं, और दो-तीन जोड़ी कपड़ों से सन्तुष्ट न हो ट्रंक के ट्रंक या अलमारियां भरे कपड़े रखते हैं, इनकी धुलाई और तह कराई में खूब खर्च करते हैं। इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

रहनसहन का दर्जा 'ऊंचा' होने के कारण—मनुष्यों के रहन-सहन का दर्जा 'ऊँचा' होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) आराम और भोग विलास की प्रवृत्ति। पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य की बहुत सी आवश्यकताएँ इसलिए होती हैं कि उसमें आराम या सुविधा प्राप्त करने की, तथा भोग विलास की प्रवृत्ति होती है। जिन वस्तुओं से इन आवश्यकताओं की पूर्ति होती प्रतीत होती है, उनका उपयोग वह सहज ही आरम्भ कर देता है, और क्रमशः बढ़ाता रहता है।

(२) अनुकरण-प्रियता। मनुष्य में दूसरों का अनुकरण या नकल करने की आदत होती है। जब समाज में कोई बड़ा या प्रतिष्ठित माना जाने वाला व्यक्ति किसी पदार्थ का उपयोग करता है, तो उसकी देखादेखी उसके पास रहने या उसके सम्पर्क में आने वाले भी उन पदार्थों का सेवन करने लगते हैं। कुछ समय में इन पदार्थों के उपयोग का रिवाज चल पड़ता है। इस बीच में कुछ नये फैशन निकल आते हैं।

नये-नये फैशन जैसे कुछ खास आदमियों की देखादेखी चलते हैं, ऐसे हीं कुछ देशों के अनुकरण के आधार पर भी चलते हैं। यूरोप में फ्रांस नये-नये फैशन चलाने के लिए प्रसिद्ध रहा है। भारत में अंग्रेजों के शासन के समय

इंगलैण्ड का बहुत अनुकरण किया गया; यहाँ तक कि अंग्रेजों के चले जाने पर भी अनेक आदमियों पर अंग्रेजी फैशन का भूत सवार है। आजकल बहुत से देशों में अमरीका के फैशनों की धूम है; वहाँ के वेश-भूषा आदि की अनेक स्थानों में नकल की जाती है।

(३) शहरी जीवन और उद्योगीकरण। फैशन अधिकतर समुदायबद्ध, शहरी, और घनी आबादी वाली बस्तियों में चलते हैं। केन्द्रित उत्पादन या यंत्रोद्योगों की विपुलता में बस्तियों का ऐसा होना अनिवार्य है। इस प्रकार नये-नये फैशन खासकर पिछले डेढ़ सौ साल में बहुत बढ़े हैं।

(४) व्यापारियों की स्वार्थमूलक विज्ञापनबाजी। आजकल उत्पादन पर जोर दिया जाता है। नफे को लक्ष्य में रख कर अधिक से अधिक माल पैदा किया जाता है, फिर इसे खपाने के लिए बाजारों की तलाश होती है। झूठी-सच्ची तरह-तरह की विज्ञापनबाजी की जाती है। उससे प्रभावित होकर या धोखे में आकर आदमी अनेक बार अनावश्यक या हानिकारक वस्तुएँ भी खरीद लेते हैं।

जीवन-स्तर ऊँचा होना चाहिए—यह स्पष्ट ही है कि रहनसहन का दर्जा 'ऊँचा' करने वाली बातें जीवन-स्तर को ऊँचा करने वाली नहीं कही जा सकतीं। भोजन, वस्त्र या वेश-भूषा आदि की बाहरी टीपटाप वाला व्यक्ति त्याग, सेवा आदि मानवी गुणों से बहुत-कुछ वंचित हो सकता है, और बहुधा होता है। इसके विपरीत, एक 'अर्द्ध-नग्न' या अर्द्ध-सभ्य' गाँधी या विनोबा अपना रहनसहन सादा रखने पर भी मानव संस्कृति का कहीं ऊँचा प्रतीक होता है।

इसलिए लोगों को चाहिए कि अपने रहनसहन का दर्जा 'ऊँचा' करने और अधिकाधिक आवश्यकताएँ बढ़ाने के लिए चिन्तित न हों, और अपना जीवन-स्तर ऊँचा उठाने के प्रयत्न में लगें। इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य के जीवन-निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी हों, जैसे स्वच्छ भोजन, वस्त्र, साफ ताजी हवा वाले मकान, बालकों की शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी यथेष्ट व्यवस्था। इसके अतिरिक्त ऐसे पदार्थों का भी अधिक उपयोग हो, जिनसे मनुष्य की निपुणता बढ़े, वह देश तथा समाज के लिए यथेष्ट उपयोगी और सुयोग्य हो। विलासिता की या कृत्रिम वस्तुओं के उपयोग से जीवन-स्तर ऊँचा नहीं होता, उससे तो वह नीचा ही होता है।

याद रहे कि किसी देश के कुछ थोड़े से आदमियों का जीवन-स्तर ऊँचा होने से ही, चाहे इससे वह दूसरे देशों में कितना ही प्रसिद्ध हो जाय, वहाँ की जनता का जीवन-स्तर ऊँचा नहीं कहा जा सकता। सब आदमियों का जीवन सुखमय हो, तभी यथार्थ में देश में जीवन-स्तर का ऊँचा होना माना जा सकता है।

जीवन-स्तर पर प्रभाव डालने वाली बातें—अपना जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिए हमें जानना चाहिए कि इस पर नीचे लिखी बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है—

(१) स्वास्थ्य। मनुष्यों की मूल आवश्यकताएँ—भोजन, वस्त्र, आवास—पूरी होने के अतिरिक्त उनका स्वास्थ्य ठीक रहने का प्रबन्ध होना चाहिए। इसके लिए, दूसरी बातों के साथ, लोगों की शारीरिक ही नहीं, मानसिक स्वच्छता या सफाई की भी बहुत जरूरत होती है। अकसर आदमियों की निजी या पारिवारिक स्वच्छता की ओर ध्यान दिया जाता है; वह काफी नहीं है। सामूहिक अर्थात् मुहल्ले और बस्ती की भी सफाई होती रहनी चाहिए, इस दिशा में बहुत सुधार होने की आवश्यकता है।

(२) इंद्रिय-निग्रह और संयम। जो आदमी भोग-विलास, फैशन और शौकीनी में नहीं फंसता, सादा जीवन और उच्च विचार का जीवन व्यतीत करता है, उसे अपनी सारी शक्ति और समय अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खर्च करना नहीं पड़ता। वह इनकी कुछ बचत कर सकता है, और उस बचत को वह अपना जीतन-स्तर ऊँचा करने में लगा सकता है। फिर, संयमी पुरुष के सन्तान कम होती है, इससे वह उनके भरणपोषण और शिक्षण के लिए अपेक्षाकृत अच्छी व्यवस्था कर सकता है। इससे संतान का भी जीवन-स्तर ऊँचा होने का मार्ग प्रशस्त होता है।

(३) शिक्षा। शिक्षा शब्द का उपयोग हम व्यापक अर्थ में कर रहे हैं, केवल अक्षर-ज्ञान के अर्थ में नहीं। अस्तु, शिक्षित व्यक्ति विचारशील और दूरदर्शी होते हैं, उन्हें अपने प्रति, सन्तान के प्रति तथा समाज के प्रति पालन किये जाने वाले कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है, और वे अपने उत्तरदायित्व को अच्छी तरह निभाते हैं। वे अपना ही जीवन-स्तर ऊँचा नहीं रखते, वरन् अपनी संतान का और समाज के अन्य व्यक्तियों का भी ऊँचा करने में सहायक होते हैं।

(४) लोकसेवा की भावना। जिस व्यक्ति में लोकसेवा की भावना जितनी अधिक होगी, उसका जीवन-स्तर उतना ही ऊंचा माना जायगा। इसलिए आवश्यकता है, लोगों में दूसरों की सहायता, सहानुभूति का विचार हो; वे त्याग-भाव से, सादगी से रहने का अभ्यास करें, अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के हित-साधन का प्रयत्न करें, सत्संग और अच्छे साहित्य का अवलोकन करें।

जीने की कला सीखने की जरूरत—हमें उपयोग का उद्देश्य या लक्ष्य अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिए। विविध पदार्थों का उपयोग हमें जीवन के विकास की दृष्टि से करना है। हमें जीवन की कला सीखनी है। हम आनन्द-पूर्वक रहें, दूसरों के लिए आनन्द, प्रेम, मित्रता और सेवा तथा त्याग की भावना रखें। ये बातें उस समय तक असम्भव हैं, जब तक हम अधिक से अधिक कीमती चीजों का उपयोग करने की चिन्ता में ग्रस्त हैं। जब हम अपने जीवन-व्यवहार को कुछ सरल बनायेंगे, जब हम कृत्रिम, दिखावटी या बनावटी आडम्बर से मुक्ति पायेंगे, तभी हम अपनी संकीर्ण और क्षुद्र परिधि से निकल कर महत् जीवन का अनुभव कर सकेंगे। इस समय जीवन हमारे सामने गौण है; हम जीते हैं तो सुन्दर बढ़िया चीजें खाने के लिए, और तरह-तरह की वेश-भूषा करने के लिए। हमारा समय शारीरिक या भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में जा रहा है, और उनके पूरा न होने से हमारे मन में क्षोभ है, झुंझलाहट है। जब हम क्षणिक इन्द्रिय-सुख को लात मार कर सच्चे जीवन को प्रधानता देंगे, और जीवित रहने के लिए ही विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे, तभी हमें जीवन के वास्तविक सत्य का ज्ञान होगा और हम जीवन की कला सीखने वाले होंगे।

तीसरा खंड

उत्पत्ति

१२—उत्पत्ति का उद्देश्य
१३—उत्पत्ति के साधन
१४—भूमि
१५—श्रम और बौद्धिक कार्य
१६—श्रम-विभाग और श्रम-समन्वय
१७—पूँजी
१८—खेती
१९—ग्रामोद्योग
२०—यंत्रोद्योग
२१—जन संख्या

अर्थशास्त्री मनुष्यों के आचरण पर विचार न कर अधिक पैसा बटोर लेने को ही अधिक उन्नति मानते हैं और जनता के सुख का आधार केवल धन को बताते हैं। इसलिए वे सिखाते हैं कि कला-कौशल आदि की वृद्धि से जितना धन इकट्ठा हो सके, उतना ही अच्छा है।

जिस धन को पैदा करने में जनता तबाह होती हो, वह धन निकम्मा है। आज जो लोग करोड़पति हैं, वे बड़े-बड़े और अनीतिमय संग्रामों के कारण करोड़पति हुए हैं। वर्तमान युग के अधिकांश युद्धों का मूल कारण धन का लोभ ही दिखायी देता है।

* * *

आप अहिन्सा का निर्माण बड़ी मिलों (केन्द्रित उत्पादन) की सभ्यता पर नहीं कर सकते, किन्तु उसका निर्माण स्वावलम्बी गाँवों के आधार पर हो सकता है।...............मेरा सुझाव है कि यदि भारत को अहिन्सक रीति से विकास करना है तो उसे बहुत बातों का विकेन्द्रीकरण करना होगा।

—गांधीजी

बारहवाँ अध्याय

उत्पत्ति का उद्देश्य

भारत का, और हाँ, संसार का अर्थ-विधान ऐसा होना चाहिए कि किसी व्यक्ति को भोजन और वस्त्र के अभाव का कष्ट न हो; दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति को अपना निर्वाह करने के लिए यथेष्ट कार्य पाने योग्य होना चाहिए।

—गांधीजी

विविध वस्तुओं का उत्पादन इसलिए किया जाता है कि उनके द्वारा लोगों की आवश्यकताएँ पूरी हों। आवश्यकताएँ अनेक हैं, पर वे खासकर दो तरह की होती हैं–(१) बुनियादी, आधारभूत या मुख्य और (२) कृत्रिम, दिखावटी या गौण। बुनियादी जरूरतों में प्रकृतिदत्त पदार्थों (हवा, प्रकाश, पानी, मिट्टी) के अतिरिक्त भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्यादि का समावेश है। कृत्रिम आवश्यकताओं की तो कोई सीमा ही नहीं; इनकी पूर्ति से जीवन-निर्वाह या विकास नहीं होता, ये मौज-शौक या ऐशोआराम के लिए होती हैं।

उत्पत्ति में बुनियादी आवश्यकताओं को प्रधानता देने की ज़रूरत—यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक आदमी को पहले ऐसी ही चीजें उत्पन्न करनी चाहिए, जो बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने वाली हों। परन्तु वर्तमान अर्थव्यवस्था में अनेक आदमी ऐसे ही पदार्थों के उत्पादन में लगे रहते हैं, जिन्हें प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए जब कि जनता के खाने के लिए अन्न की कमी है, वे अपनी भूमि में जूट या कपास पैदा करते हैं, जिससे वे इन पदार्थों को बेच कर अन्न की अपेक्षा अधिक मुनाफा प्राप्त कर सकें। यह व्यवहार अनुचित और अमानवीय है।

उत्पत्ति का उद्देश्य मुनाफा नहीं होना चाहिए—लोगों के ऐसे

व्यवहार का कारण उनका क्षुद्र स्वार्थ है। वे ऐसी ही वस्तु की उत्पत्ति करते हैं, जिससे उन्हें अधिक से अधिक नफा हो। उनका मुख्य लक्ष्य अपने मुनाफे का रहता है, उनके कार्य से समाज का, और अनेक दशाओं में स्वयं उनका भी हित होता है या नहीं, अथवा उनकी उत्पादन-विधि से श्रमियों के कुशल-क्षेम की वृद्धि होती है, या नहीं, इसकी वे परवाह नहीं करते; या यों कह सकते हैं कि उतनी ही परवाह करते हैं, जितनी कानून-भंग के दोषी होने से बचने के लिए करना जरूरी हो। असल में, प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि बाहरी दबाव के बिना, स्वेच्छा से ही नीति का पालन करें, और मुनाफेखोरी की भावना न रखें।

सेवा-भाव होना चाहिए—मनुष्य को अपने अन्य कार्यों की भाँति उत्पादन में भी सेवा-भाव रखना चाहिए। जो व्यक्ति सेवा-भाव से उत्पादन करता है, उसे अनेक दशाओं में तरह-तरह की असुविधाएँ और कष्ट होता है। पर यह होते हुए भी, यदि वह विवेकशील है तो उसे अपने कार्य में अद्भुत् आनन्द मिलता है, जो दूसरे व्यक्तियों को कभी प्राप्त नहीं होता। बात यह है कि जितना हम दूसरों से प्रेम करते और सद्भावना का परिचय देते हैं, उतना ही हमारा आत्मिक विकास होता है, हमें अपने जीवन की उपयोगिता प्रतीत होती है और हम सात्विक तथा स्थायी मानसिक सुख-शान्ति का अनुभव करते हैं।

उत्पत्ति के उद्देश्य के अनुसार उत्पादन-विधि—मुनाफेखोरी की भावना से उत्पादन करने वाला यह विचार नहीं करता कि जो चीज मैं बना रहा हूँ, वह वास्तव में आवश्यक है या नहीं, अथवा उसका कितना परिमाण उपयोगी होगा। असल में उसके लिए वस्तु का बनाना मुख्य बात नहीं, उसकी नजर तो ग्राहकों की जेब पर रहती है, किस प्रकार उनका पैसा उसके पास आ जाय। इसमें सफलता पाने के लिए वह किसी भी कुटिल या अनैतिक उपाय काम में लाने से परहेज नहीं करता। वह उत्पादन में घटिया से घटिया सामग्री काम में लाता है, क्योंकि वह सस्ती मिलेगी, चाहे उससे उपयोक्ता को स्वास्थ्य-हानि ही हो। वह अपने बनाये पदार्थ का रूप, रंग, गंध ऐसा रखता है कि ग्राहक उसकी ओर आकर्षित हो जाय। उदाहरण के लिए हलवाई अपनी मिठाइयों में आटा या मैदा बहुत खराब काम में लाते हैं, घी की जगह बनस्पति-तेल

(जिसे वनस्पति घी कहा जाता है) या दूसरी सस्ती चीज डालता है, पर उसमें रंग डाल कर तथा गुलाब जल आदि छिड़क कर उसके दोषों को ढक देता है और ग्राहकों को आसानी से फँसा लेता है।

इसके विपरीत, सेवा-भाव से उत्पादन करने वाले की विधि दूसरी ही होगी। वह मिठाई बनाने के लिए अच्छा बढ़िया आटा तैयार करायेगा जिसमें किसी तरह की मिलावट न हो। वह घी भी शुद्ध ही काम में लायेगा। यदि उसके घर का घी नहीं है, तो वह बहुत विश्वास की जगह से लेगा। वह मिठाई को सुन्दर बनाने के लिए उसमें किसी प्रकार का अनावश्यक पदार्थ (रंग) नहीं मिलायेगा। उसकी मिठाई की लागत ज्यादा होगी, और उसे कुछ मुनाफा न होगा, उसकी मेहनत का पारिश्रमिक भी कम मिलेगा। पर उसे उसी में संतोष रहेगा। उसे यह अनुभव होगा कि मेरे द्वारा कुछ लोकसेवा हुई है, मेरा जीवन समाज के लिए उपयोगी है।

उत्पादन-विधि का मनुष्य पर प्रभाव—आदमी के प्रत्येक कार्य का उस पर प्रभाव पड़ता है। हम प्रायः शरीर पर ही पड़ने वाले प्रभाव की बात सोचते हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त मन पर भी प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि कार्य करते समय हमारी जैसी भावना होती है, जैसी विचारधारा होती है, उसकी छाप मन पर पड़े बिना नहीं रहती। यदि हम छल-कपट या चतुराई चालाकी से दूसरों का पैसा ऐंठना चाहते हैं, अपने स्वार्थ के लिए उन्हें कष्ट देते हैं तो इससे हमारा मानसिक पतन होता है। इसके विपरीत, जब हम अपने कार्य को करते हुए अपने सामने प्रेम, सेवा और त्याग की भावना रखते हैं तो हमें मानसिक शान्ति और सुख मिलता है, हमारे चरित्र और व्यक्तित्व का विकास होता है। इसलिए मनुष्य के स्वयं अपने हित के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने उत्पादन-कार्य का उद्देश्य मुनाफेखोरी न रख कर सेवा-भाव ही रखे। इससे उसका तो कल्याण होगा ही, समाज का भी हित होता है, उसके उत्थान में सहायता मिलती है।

तेरहवाँ अध्याय

उत्पत्ति के साधन

जीवन की मूल आवश्यकताओं के पदार्थों की उत्पत्ति के साधन सर्व-साधारण जनता के नियंत्रण में रहें।

—गांधीजी

प्रकृति मानव को जो कुछ देती है, उसे वह श्रम के द्वारा ही अपना सकता है।

—जवाहिरलाल जैन

उत्पत्ति के साधन; भूमि और श्रम—आदमी भूमि पर रहता है—चाहे वह स्थल हो, या जल या वायु। भूमि के बिना आदमी के रहने की व्यवस्था नहीं होती, फिर धनोत्पत्ति की तो बात ही क्या! आदमी को किसी भी प्रकार की वस्तु उत्पन्न करनी हो, उसके लिए भूमि अनिवार्य है। भूमि के अतिरिक्त, उत्पत्ति का दूसरा साधन श्रम है; यदि कोई व्यक्ति श्रम या मेहनत करने वाला न होगा तो धनोत्पत्ति कौन करेगा? भूमि पर आदमी काम करता है तभी धन उत्पन्न होता है।

पूँजी का विचार—आरम्भ में आदमी ने धनोत्पादन का कार्य अपने शरीर के अंगों से ही, बिना किसी अन्य साधन के, किया होगा; तथापि बहुत प्राचीन समय से वह किसी न किसी प्रकार के औजार आदि का उपयोग कर रहा है। पहले उसने लकड़ी की मदद ली, पीछे पत्थर या लोहे आदि के औजार बनाये और पशुओं को पाल कर अपना सहायक बनाया। ये औजार आदि मनुष्य की पूँजी हैं। पूँजी उस धन को कहते हैं, जो और अधिक धन पैदा करने में सहायक हो। इसका खुलासा विचार 'पूँजी' नाम के अध्याय में किया जायगा।

स्मरण रहे कि उत्पत्ति पर भूमि के तल के अलावा उसके भीतरी भाग (भू-गर्भ), जल-वायु, वर्षा आदि का भी प्रभाव पड़ता है, इसलिए इन्हें भी

भूमि के अन्तर्गत समझा जाता है। अर्थशास्त्र में, भूमि में वे सब उपयोगी वस्तुएँ आ जाती हैं, जो मनुष्य ने न बनायी हों; उदाहरण के तौर पर जंगल, पहाड़, खान, नदी, झील, तालाब और समुद्र आदि, और इनसे अपने आप बिना मेहनत मिलने वाले विविध पदार्थ—लकड़ी, पशु-पक्षी, औषधियाँ, धातुएँ, शंख, मोती, मछलियाँ आदि। इसी तरह कुदरती तौर पर मिलने वाली जल-शक्ति, वायु-शक्ति, सूर्य का प्रकाश आदि भूमि में ही गिने जाते हैं। इसलिए भूमि की जगह 'प्रकृति' शब्द का भी उपयोग किया जाता है।

वर्तमान अर्थशास्त्र में श्रम की अपेक्षा पूँजी को बहुत ही अधिक महत्व दिया जाता है। यह कहाँ तक ठीक है? किसान की पूँजी बीज, हल, बैल, और खाद आदि हैं। इनमें से पहले बीज की बात लीजिए। किसान को आरम्भ में भूमि से जो अन्न मिला या उसने अपने श्रम से, प्रकृति की सहायता से, पैदा किया, उसमें से कुछ उसने खाया और कुछ आगे के लिए बचा कर रखा। इस बचाये हुए अन्न में से कुछ का उसने बीज के लिए उपयोग किया। इस प्रकार बीज की उत्पत्ति में मूल साधन भूमि और श्रम ही हैं। इसी प्रकार हल का विचार करें। इसकी लकड़ी या लोहा उसे भूमि से मिला है, और अपने श्रम से उसने इन चीजों का हल बनाया है। बैलों की भी यही बात है। पशु तो प्रकृति से प्राप्त हैं ही, मनुष्य ने अपने श्रम से उन्हें अपने काम में आने लायक बनाया है। खाद के बारे में भी कोई नयी बात नहीं है; आदमी ने अपने श्रम से इसे प्राकृतिक भंडार में से संग्रह किया है। निदान, जिन चीजों को वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने किसान की पूँजी कहा है उनका मूल भूमि और श्रम ही है। इसीलिए पूँजी की अपेक्षा श्रम को कहीं अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, सर्वोदय अर्थशास्त्र में ऐसा ही किया जाता है।

क्या प्रबन्ध और साहस भी उत्पत्ति के साधन हैं?—प्रायः वर्तमान या पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों का कथन है कि भूमि, श्रम और पूँजी से ही धनोत्पत्ति का कार्य नहीं हो सकता, जब तक की कोई व्यक्ति इन तीनों को इकट्ठा न करें और यह निश्चय न करे कि अभीष्ट उत्पादन के लिए इन तीनों में से प्रत्येक की कितने-कितने परिमाण में आवश्यकता है। फिर, आज कल धनोत्पादन की विधि में बहुत अन्तर हो गया है। एक-एक कल-कारखाने

में हजारों आदमी इकट्ठे होकर काम करते हैं। इन सब को अपने-अपने निर्धारित कार्य में लगाने के लिए एक पृथक् व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो इस बात का प्रबन्ध करे कि कौनसा काम (या काम का हिस्सा) कब और किस प्रकार किया जायगा, तथा कौन-कौन आदमी कहाँ-कहाँ काम करेंगे, भूमि कौनसी अच्छी है और लाखों या करोड़ों रुपये की आवश्यक पूँजी कैसे, कहाँ-कहाँ से कितनी-कितनी मात्रा में संग्रह की जायगी। इन सब बातों के प्रबन्ध को उत्पत्ति का एक जुदा (चौथा) साधन मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त, वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार, आजकल उत्पत्ति के लिए एक और व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की आवश्यकता है, जो उसकी हानि-लाभ का जिम्मेवार हो, जो कल-कारखाने को चलाने की जोखम उठावे। ऐसे 'साहस' को धनोत्पत्ति का एक अलग (पाँचवा) साधन माना जाता है।

विचार कर देखा जाय तो प्रबन्ध और साहस उत्पत्ति के पृथक् और स्वतंत्र साधन नहीं हैं।* ये एक प्रकार से श्रम के ही रूप हैं। प्रबन्धक सब श्रमियों का निरीक्षण और नियंत्रण करता है और भूमि और पूँजी का प्रबन्ध करता है। आधुनिक बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में इसका बड़ा महत्व गिना जाता है। पर यह है बौद्धिक कार्य का ही रूप।

इसी प्रकार साहसी भी बुद्धिजीवी हैं, जो हानि-लाभ की जोखम उठाकर बड़े पैमाने के उत्पादन का जिम्मा लेता है, और उसके चलाने की जिम्मेवारी लेता है, तथा यदि वह डूब जाय तो उसकी हानि सहने को तैयार रहता है। यह सब आखिर है तो बौद्धिक कार्य ही। ऐसा कार्य करने वाला, प्रायः अपने लाभ को दृष्टि में रखकर धनोत्पत्ति के साधन जुटाता है, और वर्तमान दशा में लोकहित को गौण मान कर और बहुधा उसकी उपेक्षा कर दूसरों के श्रम से अपना स्वार्थ साधन करता है।

अस्तु, प्रबन्ध और साहस उत्पत्ति के पृथक या स्वतन्त्र साधन नहीं, ये बौद्धिक श्रम के ही रूप हैं। इस के सम्बन्ध में खुलासा विचार आगे किया जायगा।

---

*इन दोनों साधनों को संयुक्त नाम 'व्यवस्था' दिया जाता है।

चौदहवां अध्याय

भूमि

जैसे हवा और पानी पर सब का हक़ है, वैसे जमीन पर सब का हक़ है, और जबकि कई लोगों के पास बिलकुल ज़मीनें नहीं हैं, उस हालत में बहुत ज्यादा जमीन अपने पास रखना गलत बात है।.....यह कभी नहीं हो सकता कि आम जनता को जमीन से महरूम रखा जाय और जनता इस चीज को कायम के लिए बरदाश्त करे। —विनोबा

जिस तरह हवा और पानी मनुष्य की उतनी ही निजी सम्पत्ति है, जितनी वह सांस लेकर और पीकर अपना सके, उसी तरह कोई भी व्यक्ति उतनी ज़मीन अपनाने का हकदार है, जितने पर वह अपने शरीर-श्रम से पैदा कर सके। —धीरेन्द्र मजूमदार

भूमि का क्षेत्र—पिछले अध्याय में कहा गया है, कि उत्पत्ति के तीन साधनों में से एक भूमि है, यहाँ इसके सम्बन्ध में विशेष विचार करना है। जैसा पहले बताया जा चुका है अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ केवल पृथ्वी-तल या जमीन से ही नहीं लिया जाता, वरन् इसके अन्तर्गत वे सब पदार्थ तथा शक्तियां समझी जाती हैं, जो प्रकृति से प्राप्त होती हैं, और जिन्हें मनुष्य श्रम के द्वारा अपने लिए उपयोगी बनाता है। इस प्रकार इसमें निम्नलिखित वस्तुएँ तथा शक्तियाँ सम्मिलित हैं :—

१—पृथ्वी-तल तथा पृथ्वी से प्राप्त होने वाले पदार्थ जैसे लोहा, कोयला, सोना, चांदी, अन्य धातुएँ, मिट्टी का तेल, कुएँ या श्रोत का जल, और भूमि की उत्पादक शक्तियां तथा जंगल में मिलने वाले पदार्थ, विविध जड़ी-बूटी आदि।

२—भूमि के ऊपर का जल, नदी, तालाब, झील, समुद्र और इनमें मिलने वाली मछलियां, शंख, मोती आदि।

३—वायु, गर्मी-सर्दी, प्रकाश, वर्षा, तथा जल-शक्ति, वायु-शक्ति, सूर्य-शक्ति आदि।

इनमें से प्रत्येक के विषय में अलग-अलग ब्योरेवार लिखने की यहाँ आवश्यकता नहीं। कुछ थोड़ी सी बातों का विचार करना है। हमारा विशेष ध्यान इस ओर रहना चाहिए कि उत्पत्ति के लिए इनका उपयोग करने में हमारा दृष्टिकोण उदार और व्यापक रहे। किसी का उपयोग कुछ थोड़े से व्यक्तियों के स्वार्थ-साधन में न होकर मानव समाज के हित की दृष्टि से होना चाहिए।

प्राकृतिक परिस्थिति का आर्थिक जीवन पर प्रभाव—जिस देश की जैसी प्राकृतिक स्थिति, जल-वायु, वर्षा आदि होती है, वहाँ उसके अनुसार ही आर्थिक जीवन का निर्माण होता है। परिस्थिति अनुकूल होती है तो आवश्यक वस्तुएँ सहज ही पैदा हो सकती हैं और मनुष्य का जीवन सुखमय बीतता है। उसे खूब अवकाश मिलता है, वह कलाओं का विकास करने और आध्यात्मिक बातों को सोचने में लग जाता है। परन्तु वह आरामतलब और आलसी भी हो सकता है। यदि परिस्थिति प्रतिकूल होती है तो उसे अपने निर्वाह आदि के लिए आवश्यक वस्तुओं की उत्पत्ति में बहुत श्रम करना होता है और उसका जीवन बहुत कष्टमय रहता है, परन्तु इससे उसे कुछ दशाओं में मेहनत करने की आदत पड़ जाती है, और वह तरह-तरह के आविष्कार करने लगता है।

मनुष्य ने अपने प्रयत्न द्वारा बहुत से स्थानों में प्राकृतिक परिस्थिति में आवश्यक परिवर्तन करके उसे अपने अनुकूल बनाने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त की है। अनेक अनुपजाऊ स्थानों को हरा भरा बनाया गया है, रेगिस्तान में नहरें निकाल कर उसका कायाकल्प किया है, पहाड़ को चीर कर उसमें से आने-जाने का रास्ता बना लिया है, समुद्र के किनारे को मिट्टी से पाटकर उस पर मकान बना लिये हैं, ऊँचे-ऊँचे दुर्गम पहाड़ी स्थानों को उपयोग में लाया गया हैं। नकली झीलें और सरोवर आदि बनाये गये हैं। इस प्रकार मनुष्य विज्ञान से प्रकृति पर नयी-नयी विजय प्राप्त करने का दम भरता जा रहा है। तथापि समय-समय पर प्रकृति अपनी विशाल या अजेय

शक्ति का परिचय देती रहती है। जब उसका कोप होता है, तो वर्षों के प्रयत्न से बनाये हुए नगर भूकम्प आदि से बात की बात में धराशायी हो जाते हैं; जहाँ हम बराबर स्थल देखने के अभ्यस्त रहे हैं, वहाँ एक दम जल-ही-जल हो जाता है। अस्तु, प्राकृतिक स्थिति का मनुष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

जंगल—जंगलों से मनुष्य को कई तरह के लाभ हैं—(१) ये वायु को शुद्ध करते हुए मनुष्य के स्वास्थ्य को बनाये रखने तथा उसे सुधारने में सहायक होते हैं। (२) ये वर्षा के पानी को जल्दी बहकर चले जाने से रोकते हैं और उसे जमीन में इकट्ठा करके उसे पीछे धीरे-धीरे देते हैं। (३) पेड़ों के पत्ते हवा को तरी देकर उसकी गर्मी को कम करते हैं, इस प्रकार ये गर्म प्रदेशों की उष्णता को नियंत्रित करके मनुष्य के लिए अनुकूल बनाते हैं (४) इनसे पशुओं के चरने के लिए अच्छी चरागाहें होती हैं। तथा इमारतों और ईंधन आदि के लिए लकड़ी मिलती है, (५) इनसे कई अन्य उपयोगी पदार्थ प्राप्त होते हैं, जैसे गोंद, रबड़, लाख, चमड़ा, रंगने के लिए पेड़ों की छाल, तरह-तरह के मसाले, तथा कागज बनाने की घास आदि। (६) जंगलों से भूमि पर वर्षा भी अधिक होती है। (७) पेड़ों की जड़ें मिट्टी को बाँधे रहती हैं। इससे नदियों की बाढ़ आदि के कारण मिट्टी कम बहती है, और भूमि का कटाव रुका रहता है। (८) जंगलों से अनेक प्रकार के पशु पक्षी तथा वनस्पतियाँ प्राप्त होती हैं, जो मनुष्य के बहुत काम आती हैं।

आबादी बढ़ने से बहुत से स्थानों में जंगलों को काट कर उस भूमि को निवास-योग्य बनाया जा रहा है। फिर, मनुष्यों को इमारतों तथा ईंधन के लिए भी लकड़ी की जरूरत बढ़ने से जंगल अधिकाधिक काटे जा रहे हैं। इससे बन-सम्पत्ति कम होती जा रही है। इसलिए बनों की रक्षा और उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान बना रहना चाहिए, यथा-सम्भव सूखे या बेकार पेड़ों को ही काटा जाय, अन्य पेड़ों का उपयोग बहुत किफायत से होना चाहिए; साथ ही नये-नये पेड़ों को लगाने तथा उन्हें बढ़ाने का क्रम बराबर चलता रहना जरूरी है। बहुधा जंगलों में बांसों के आपस में रगड़ने से आग लग जाती है, और उससे भयंकर विनाश हो जाता है; उसकी चौकसी रखने की ज़रूरत है।

नदियाँ—नदियों का मानव जीवन पर आरम्भ से ही बहुत प्रभाव रहा है। नादियों ने मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक भोजन दिया है। अनेक तीर्थ स्थान तथा व्यापारिक नगर किसी न किसी नदी के किनारे बसे हैं, और उससे सौन्दर्य प्राप्त कर रहे हैं। प्राचीन काल में मनुष्यों के समूह के समूह नदियों के किनारे रहते आये हैं। 'जय मातु गंगे' तथा 'जय जमुना मैया' के घोष या नारों में गंगा जमुना को माता के रूप में मानना बिना कारण ही नहीं हुआ है। प्राचीन सभ्यताओं का उद्गम नदियों और समुद्र के तट पर ही विशेष हुआ है। इन्होंने मनुष्य जाति के खासकर आर्थिक इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लिया है। नदियों से खेती में सहायता मिलती है, और मछलियाँ आदि प्राप्त होती हैं। नदियों के डेल्टों और टापुओं की ज़मीन बहुत उपजाऊ होती है। नदियों के रास्ते यातायात और यात्रा-कार्य सुगम होता है। हाँ, नदियों की बाढ़ से बहुधा गाँव नष्ट हो जाते हैं, और माल असबाब तथा मनुष्य और पशु बह जाते हैं। लेकिन बाढ़ से यह लाभ भी होता है कि कहीं—कहीं भूमि पर उपजाऊ मिट्टी के परत जम जाते हैं, सूखे और बंजर स्थानों में तरावट पहुँच जाती है, एवं ऊसर और रेह वाली मिट्टी बह जाती है।

नदियों से नहरें काट कर, वर्षा न होने के समय में भी खेती की जाती है। ऐसी व्यवस्था की जाती है कि नदियाँ अधिक उपयोगी हों और इनकी बाढ़ से हानि यथा-सम्भव न हो। इनके बाँध बना कर तथा इनमें से नहरें निकाल कर अधिकाधिक क्षेत्र में सिंचाई की जाती है, इनसे बड़े पैमाने पर बिजली पैदा की जाती है। यातायात की सुविधा के लिए इन पर पुल भी बनाये जाते हैं।

एक बात ऐसी है जिस की ओर बड़ी बेपरवाही की जाती है; वह है नदियों की स्वच्छता। अनेक स्थानों में बस्तियों का मल-मूत्र बह कर नदियों में मिल जाता है, कुछ शहरों के पास तो कल कारखानों का गन्दा पानी भी इन्हीं में मिला दिया जाता है। इससे प्रायः बस्तियों के पास नदियों का जल स्वच्छ नहीं रहता और जो आदमी वहाँ नहाते हैं, अथवा इस जल को पीते हैं, उन्हें इसका यथेष्ट लाभ नहीं मिलता; कुछ दशाओं में हानि ही होती है। आवश्यकता है कि मल-मूत्र और गंदे पानी का, खाद आदि के लिए उपयोग किया जाय; उसे नदियों में न मिलने दिया जाय; और यदि वह कहीं मिले भी तो बस्ती से

काफी फासले पर; जिससे वह दूर तक बहने से स्वच्छ हो जाय और बस्ती के आदमियों के लिए उस जल का उपयोग हानिकर न हो।

खनिज पदार्थ—भूमि से मनुष्य को तरह-तरह के खनिज पदार्थ मिलते हैं, जो शुद्ध किये जाने पर बहुत उपयोगी होते हैं। इनके बारे में यह बात याद रखनी है कि जब ये खानों से एक बार निकाल लिये जाते हैं तो वे सदा के लिए खाली हो जाती हैं, धातुएँ फिर पैदा नहीं की जा सकतीं। इसलिए इन्हें सावधानी से तथा वैज्ञानिक पद्धति से निकाला जाना चाहिए, जिससे इनका कोई भाग अनावश्यक रूप से नष्ट न हो। साथ ही इनका उपयोग बहुत मित-व्ययिता पूर्वक होना चाहिए—इसमें भावी पीढ़ियों की आवश्यकता का यथेष्ट ध्यान रहना चाहिए।

पशु-पक्षी— जंगलों और पहाड़ों में तरह-तरह के अनेक पशु-पक्षी पाये जाते हैं। क्रमशः उनमें से कुछ के बारे में आदमी को मालूम हुआ कि उन्हें मार कर खा लेने की अपेक्षा उन्हें पालना अधिक लाभदायक है। तब गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि से पीने के लिए दूध लिया जाने लगा। घोड़ा, गधा, बैल, भैंसा, ऊंट, हाथी और खच्चर आदि सवारी तथा सामान ढोने के काम में लाये गये। प्रायः उपयोगिता की दृष्टि से विविध स्थानों में भिन्न-भिन्न पशुओं को विशेष महत्व दिया गया; उदाहरण के लिए भारत में गाय का खास स्थान है। समुद्र और नदियों में दूसरे जानवरों के अलावा मछलियाँ बहुतायत से मिलती हैं, जिन्हें आदमी खासकर खाने के काम में लाता है। पशुओं की तरह अनेक पक्षी भी आदमी के बहुत काम आते हैं। हाँ, कुछ पशु-पक्षी ऐसे भी हैं जो मनुष्य को तरह-तरह का नुकसान पहुँचाते हैं, और जिन्हें वह आज तक अपने लिए उपयोगी नहीं बना सका है। अपने जीवन तथा सुख-सुविधा के लिए उसे इनको मारना पड़ता है। वर्तमान दशा में इसे क्षम्य कहा जा सकता है और कुछ दशाओं में आवश्यक भी माना जा सकता है; पर जो पशु-पक्षी किसी प्रकार हानि नहीं पहुँचाते, उन्हें अपने स्वाद, फैशन या शौकीनी के लिए मारना कहाँ का न्याय है! चहचहाते जंगलों को निर्जीव करने का प्रयत्न कैसे उचित कहा जा सकता है।

प्राकृतिक शक्ति—आदमी की विशाल शक्ति का रहस्य यह है कि वह अपने शरीर के अंगों पर ही निर्भर न रह कर, दूसरे साधनों की सहायता ले सकता है। बहुत प्राचीन समय से ही वह विविध औजारों से काम लेता रहा है और उनमें समय-समय पर सुधार करता रहा है। इनके अतिरिक्त उसने पशुओं का उपयोग किया। बाद में भाषा आदि का उपयोग जान लेने पर उसने उससे चलने वाली मशीनों का आविष्कार किया। भाप से चलने वाले यंत्रों में कोयले या ईंधन का खर्च बहुत होता है। क्रमशः आदमी को पेट्रोलियम का उपयोग ज्ञात हुआ, मशीनें चलाने में इससे खूब काम लिया जा रहा है। ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों के जल-प्रपातों से तथा बड़ी-बड़ी नदियों से बिजली पैदा करके लाभ उठाने का प्रयत्न हो रहा है। जिन स्थानों में वायु-शक्ति बड़े परिमाण में है, वहां उसका उपयोग हो रहा है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि एटम-बम और हाइड्रोजन बम में प्रग होने वाली परमाणु-शक्ति का उपयोग इंजिन आदि विविध यंत्रों के चलाने में सफलता-पूर्वक हो सकेगा। उष्ण कटिबन्ध के देशों में सूर्य के प्रकाश (धूप) से मिलने वाली शक्ति अनन्त है, उसे इकट्ठा करके संचालन-शक्ति के रूप में लाने की दिशा में प्रगति हो रही है। हाँ, किसी शक्ति को खर्च करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वह कहाँ तक उचित और अनिवार्य है।

भूमि सामाजिक सम्पत्ति है; किसी की निजी मिलकियत नहीं—भूमि प्रकृति की देन है, यह सब के लिए है। प्राचीन काल में भूमि व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर कबीले या समूह की सम्पत्ति मानी जाती थी। कुछ देशों में पिछली शताब्दी तक ऐसी ग्राम-संस्थाएँ रही हैं, जिनका उनके क्षेत्र की सब भूमि पर अधिकार था। कोई व्यक्ति अपने यहाँ की ग्राम-संस्था की अनुमति या रजामन्दी से ही निर्धारित जमीन में खेती कर सकता था।

पृथ्वी का मालिक भगवान है, जिसका साकार रूप समाज है। पृथ्वी सब सब की माता है। माता का प्रेम प्राप्त करने का अधिकार प्रत्येक संतान को है, जो उसकी सेवा करे। इस प्रकार जमीन की पैदावार का अधिकार उसी को है, जो खेती करने की मेहनत करे। जो आदमी खेती करना जानता नहीं और

खेती करना चाहता नहीं, वह जमीन दबाये रखे, यह सर्वथा अन्याय है, अनुचित है।

भूमि का उपयोग समाज-हित की दृष्टि से होना चाहिए—हम भूमि की उपयोगिता का जो लाभ उठा रहे हैं, वह समाज की सहायता से ही सम्भव हुआ है। किस-किस तरह की जमीन में क्या-क्या चीजें पैदा हो सकती हैं; ज़मीन को उपजाऊ बनाने के लिए क्या-क्या उपाय काम में लाये जाने चाहिएँ—इन बातों का ज्ञान आदमी की अनेक पीढ़ियों ने लगातार शोध करके प्राप्त किया है। खेती के औजार बनाने में अनेक आदमियों का शरीर-श्रम और बुद्धि लगी है। इसलिए किसी व्यक्ति या परिवार का इस पर विशेष अधिकार जमाना अनुचित है। जैसा कि श्री जो. का. कुमारप्पा ने कहा है—

'धूप हवा, पानी वगैरा में मिल्कियत हो ही नहीं सकती; इसी तरह से जमीन पर कोई कब्जा नहीं माना जा सकता। यह समाज की मानी जानी चाहिए। किसी आदमी को उतनी ही जमीन दी जा सकेगी, जितनी समाज के भले के लिए इस्तेमाल करने की उसमें योग्यता हो। जमीन पर मिल्कियत तो समाज की ही होनी चाहिए। जो आदमी जिस जमीन पर काश्त करे, उसे उस जमीन की पैदावार का पूरा फायदा मिलना चाहिए और जो बेशी बचे, सिर्फ उसे ही दूसरे लोगों में बाँटा जाय। जब यह रिवाज चालू होगा, तभी बँटवारा-न्याय कायम हो सकेगा। बाँटने का काम एक-एक आदमी के सुपुर्द न हो कर सहयोगी समितियों के सुपुर्द हो।'*

अन्तर्राष्ट्रीय हित का ध्यान रखने की आवश्यकता—भूमि के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। पहले बताया जा चुका है कि मानव जाति को भिन्न-भिन्न टुकड़ों में बाँट कर उनके हित का अलग-अलग विचार करना अनुचित और विनाशकारी है। मानव समाज के एक हिस्से का अपने स्वार्थ में लीन होना अन्ततः उसके लिए भी हानिकर है। इसलिए भूमि की व्यवस्था में हमें अपने सामने समाज के किसी संकीर्ण

* 'गाँधी-अर्थ विचार' से।

रूप को न रख, उसके पूर्ण और व्यापक स्वरूप का ध्यान रखना चाहिए। वर्तमान दशा में इस ओर घोर उपेक्षा हो रही है।

उदाहरण के तौर पर भारतीय संघ के १२ लाख वर्गमील के क्षेत्र में ३६ करोड़ आदमी रह रहे हैं, और इसके पास आस्ट्रेलिया है, जिसका क्षेत्रफल इससे ढाई गुना अर्थात ३० लाख वर्गमील होने पर भी उसकी आबादी केवल ७५ लाख है। इसका अर्थ यह है कि जब कि भारत में प्रति वर्गमील आबादी ३०० है, आस्ट्रेलिया में यह औसत सिर्फ ढाई है, एक का दूसरे से १२० और १ का अनुपात है। फिर भी आस्ट्रेलिया भारतवासियों के लिए तथा सभी रंगदार जातियों के लिए अपना द्वार बन्द किये हुए है। वह केवल गौर वर्ण का स्वागत करता है। दक्षिण अफ्रीका की वर्ण-विद्वेष नीति का कटु अनुभव हम चिरकाल से करते आ रहे हैं। प्रायः गौरांग जातियाँ अपने लिए अधिक से अधिक भूमि को सुरक्षित रखना चाहती हैं। खासकर संयुक्त-राज्य अमरीका के विशाल और उपजाऊ प्रदेश में अन्य देशों के काफी आदमी रखने की क्षमता है। निदान, वर्तमान भूमि-व्यवस्था की यह विषमता दूर की जानी चाहिए।

यह कार्य अच्छी तरह तभी होगा, जब संसार के सब देशों का एक राज्य और एक विश्व-सरकार स्थापित होगी। इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए किसी को दूसरों की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं। जो भी राज्य इस शुभ कार्य में अग्रणी हो सके, उसे अपना कर्तव्य पालन करके दूसरों के लिए उदाहरण बनना चाहिए। इसी प्रकार व्यक्तियों को राज्य के कानून बनने की राह देखना अनुचित है। जो भी व्यक्ति इस दिशा में कुछ अच्छा कदम उठा सकें, उन्हें इसमें ढील न करनी चाहिए। इस विचारधारा के, गाँव-गाँव और नगर-नगर में प्रचार होने की आवश्यकता है।

भूमि-वितरण के तरीके, श्री विनोबा का शिक्षाप्रद उदाहरण— भूमि-वितरण के तीन तरीके हैं:— (१) बड़ी-बड़ी जमीनों के मालिकों से जबरदस्ती जमीन छीन कर उसे भूमिहीनों में बाँट देना। इसके लिए हत्या और खून-खराबी की भी आवश्यकता हो सकती है और इसे शान्ति-पूर्वक स्थायी रूप में रखना भी कठिन है। इससे प्रजातंत्र को खतरा तथा अधिनायकवाद की तैयारी होने की आशंका होती है। (२) कानून द्वारा उचित मुआवजा देकर;

जमींदारों से उनके पास की अतिरिक्त भूमि लेकर उसे भूमि-हीनों में बाँटना। मुआवजे का प्रश्न कितनी कठिनाइयाँ पैदा करता है, और यह कितना अव्यवहारिक है, इसका अनुभव भारतवासियों को गतवर्षों में अच्छी तरह हो चुका है। (३) अधिक भूमिवालों का दृष्टिकोण बदल कर उनसे उपहार या भेंट के रूप में भूमि प्राप्त करके उसे भूमि-हीन किसानों में बांटना।

श्री विनोबा ने इनमें से तीसरे तरीके को अपनाया है। उन्होंने मई-जून १९५१ में तैलंगाना (हैदराबाद) में गरीबों को बांटने के लिए लगभग तेरह हजार एकड़ जमीन हासिल की। भारत भर में उनका लक्ष्य सन् १९५७ तक पांच करोड़ एकड़ भूमि संग्रह करना है; एक करोड़ उत्तर प्रदेश में, और शेष अन्य प्रदेशों में। शहरी लोगों को भूमि की आवश्यकता न होने से, उन्हें छोड़ दें, तो भारत में प्रति परिवार को सात एकड़ भूमि मिल सकती है। जिनके पास इससे अधिक है, उन्हें स्वेच्छा से उसका दान कर देना चाहिए। भूमि-दान की यह पद्धति भू-स्वामियों के लिए शोभास्पद तथा भूमि-हीनों के स्वाभिमान की रक्षक है। यह अहिन्सात्मक क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। यह कानून से भी अधिक सफल है। अगर कानून बने, और उसमें मान लो कि श्रीमानों के लिए दो सौ एकड़ भूमि की मर्यादा रखी जाय तो इससे कम भूमि वालों से ज़मीन नहीं ली जा सकेगी। पर विनोबाजी ने तो एक-एक एकड़ वालों से भी भूमि प्राप्त की है। कोई सरकारी कानून इतनी थोड़ी भूमि वालों से भूमि की मांग नहीं कर सकता। लेकिन जहाँ हृदय-परिवर्तन हो जाता है, वहाँ ऐसी बात सहज ही हो जाती है।*

---

* मई १९५६ तक के भूदान सम्बन्धी आँकडे इस प्रकार हैं—

प्राप्त भूमि (एकड़ों में)	४१,८२,४६१
दान-पत्र संख्या	५,३७,४७९
वितरित भूमि (एकडों में)	४,४६,०५८
परिवार संख्या	१,४९,०४३
ग्रामदान	१,१०९

विशेष वक्तव्य—इस प्रकार भारत में एक अहिन्सात्मक क्रान्ति का प्रयत्न हो रहा है। इसकी सफलता का अनुमान सिर्फ मिली हुई भूमि के परिमाण से नहीं लगाया जा सकता, बल्कि जो वृत्ति वहां निर्माण हुई है, उससे लगाया जाना चाहिए। इस मनोवृत्ति की भूख आज हिन्सा से थके मांदे सारे संसार को है।

श्री मश्रूवाला ने लिखा है—'यह सारी सफलता बल या कानून का आश्रय लिये बिना हुई है। इससे जाहिर है कि मनुष्य इतने नहीं गिर गये हैं, जितने हम कभी-कभी निराशा के क्षणों में सोचने लगते हैं। निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हमेशा की तरह मनुष्य आज भी अहिन्सा की वाणी से प्रभावित होता है; हां, वह किसी प्रेम-मूर्ति साधु-पुरुष के मुंह से निकलनी चाहिए।' क्या भारत में ऐसे प्रेम-मूर्ति साधु-पुरुषों की परम्परा नहीं बनी रह सकती? और क्या संसार के अन्य देशों में उनका अभाव रहेगा? हमें मानवता के उदय में और मनुष्य जाति के उत्थान में दृढ़ विश्वास है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रम और बौद्धिक कार्य

हाथ और पैर का श्रम ही सच्चा श्रम है, और हाथ-पैरों से मजदूरी करके ही आजीविका प्राप्त करना चाहिए। मानसिक और बौद्धिक शक्ति का उपयोग समाज-सेवा के लिए ही करना चाहिए। हम हाथ-पैर न हिलायें तो क्या बुद्धि से खेती करेंगे?

—गांधीजी

आज जहाँ मजदूरों का शरीर ज्यादा काम से घिसता जा रहा है, वहां शिक्षितों का शरीर कोई काम न होने से घिसता जा रहा है, यानी दोनों का नुकसान हो रहा है। बुद्धि की भी यही हालत है, बुद्धिमान लोगों को बुद्धि का ज्यादा काम पड़ता है, इसलिए उनकी बुद्धि घिसती जा रही है; और मजदूरों की बुद्धि को काम नहीं मिलता, इसलिए उनकी बुद्धि क्षीण होती जा रही है, इसलिए दोनों वर्गों को दोनों तरह का काम मिलना चाहिए।

—विनोबा

यदि गाँवों तथा शहरों के लोग खुद मेहनत करने लगें, खुद सड़कें, नहरें, स्कूल आदि बनाने लग जायँ, दफ़्तरों में बाबू बनने की ख्वाहिश छोड़ दें और सरकार की तरफ मुँह ताकना बन्द कर दें तो थोड़े ही दिनों में हमारे देश का नक्शा बदल सकता है।

—जवाहरलाल नेहरू

पिछले अध्याय में, भूमि के विषय में लिखा गया है। वह खुद, अर्थात् बिना मनुष्य के मेहनत किये, केवल थोड़े से, सो भी कच्चे पदार्थ पैदा करती है। जंगलों में अपने आप पैदा होने वाली चीजें, मेहनत के बिना, मनुष्य के

लिए विशेष उपयोगी नहीं होतीं। फिर, विविध उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करके रखने में या प्राकृतिक पदार्थों को ऐसे रूप में लाने में कि वे उपयोगी हो सकें, श्रम आवश्यक है। अब इसी के बारे में विचार करते हैं।

श्रम किसे कहते हैं ?—वर्तमान अर्थशास्त्र का मूलाधार धन है। इसमें श्रम के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा किया हुआ वह सब प्रयत्न समझा जाता है जिससे धन की उत्पत्ति हो। इस प्रकार इस अर्थशास्त्र में बौद्धिक कार्य को भी श्रम माना जाता है, और कवि, लेखक, चित्रकार, डाक्टर, वकील आदि को भी श्रमियों में गिना जाता है। सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार आदमी को अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग लोकसेवा में करना चाहिए और अपने निर्वाह आदि के लिए अधिकतर शरीर से श्रम करना चाहिए। इस प्रकार यह अर्थशास्त्र खासकर ऐसी मेहनत को ही श्रम मानता है, जो हाथ-पैर से की जाती है और जिसे साधारणतया शरीर-श्रम कहा जाता है।

व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित की दृष्टि से श्रम के भेद अनुचित हैं—कुछ अर्थशास्त्री श्रम के नीचे लिखे भेद करते हैं— (१) व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हितकर; अर्थात् ऐसी उपयोगी चीजों के बनाने का श्रम, जिसकी मजदूरी खूब अच्छी मिले। (२) व्यक्ति के लिए हितकर, परन्तु समाज के लिए अहितकर ; जैसे नशे या विलासिता की वस्तुएँ बनाने का श्रम, जिससे श्रमी को खासी आमदनी होती है, पर समाज को हानि पहुँचती है। (३) व्यक्ति के लिए अहितकर, परन्तु समाज के लिए हितकर; जैसे शिक्षा, साहित्य, चिकित्सा आदि का ऐसा सेवा-कार्य करना, जिसका पारिश्रमिक बहुत कम मिले।

समाज की वर्तमान व्यवस्था ऐसी है कि त्यागभाव से लोकसेवा करने वाले और निर्धनता का जीवन बिताने वाले व्यक्तियों में से बहुत कम का यथेष्ट आदर मान होता है, और समाज को हानि पहुँचाने वाले सब व्यक्तियों को राज्य की ओर से समुचित दंड नहीं दिया जाता। उदाहरण के लिए आतिशबाजी की चीजें या अनेक प्रकार के मादक पदार्थ बनाने वालों के, शौकीनी या विलासिता बढ़ाकर लोगों का द्रव्य हरण करने वालों के, और मुकदमेबाजी

बढ़ाने वाले वकीलों के कार्य को दंडनीय नहीं माना जाता। वर्तमान अर्थशास्त्र में इनका कार्य उत्पादक माना जाता है, चाहे इनसे दूसरों को कितनी ही हानि पहुँचे। यह अर्थशास्त्र व्यक्ति और समाज के हित में भेद करता है और पूरे समाज के कल्याण की बात नहीं सोचता; और जब कभी या कुछ अंश में अपने देश के हित का विचार करता है तो इसे दूसरे देशों का अहित होने देने में कोई आपत्ति नहीं होती।

इसके विपरीत, सर्वोदय अर्थशास्त्र व्यक्तिगत हित और सामाजिक हित में भेद नहीं मानता। इसके अनुसार, कोई श्रम व्यक्ति के लिए वास्तव में हितकर तभी हो सकता है, जब उससे समाज का भी हित होता है। व्यक्ति समाज का अंग है, समाज को हानि पहुँचाकर कोई आदमी अपना हित नहीं कर सकता। चोर, आतिशबाज या मादक वस्तु बनाने वाला व्यक्ति अपने कार्य से अपना नैतिक पतन करता है, अपनी आत्मा की उन्नति या विकास में बाधक बनता है, इसलिए वह कुछ धन कमाते हुए भी घाटे का काम करता है। इसी प्रकार जब हम त्याग और सेवा-भाव से कार्य करते हैं तो हमारे मन को जो आनन्द और संतोष मिलता है, वह दिन-रात पैसे के पीछे पड़े रहने वालों को कहाँ मिल सकता है! इस प्रकार व्यक्ति-हित और समाज-हित को अलग-अलग मान कर श्रम के भेद करना ठीक नहीं है; सर्वोदय अर्थशास्त्र का यही आदेश है।

बौद्धिक कार्य के सम्बन्ध में सर्वोदय विचार— पहले कहा गया है कि सर्वोदय अर्थशास्त्र बौद्धिक कार्य को खासकर लोकसेवा के रूप में लेता है। बात यह है कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में बुद्धि की विशेषता है। यह बुद्धि क्रमशः विकसित होती रहती है। आदमी को चाहिए कि वह अपनी इस विशेष शक्ति का उपयोग शरीर-निर्वाह या विलासिता में न लगा कर लोकहित में लगाये। परन्तु अधिकांश आदमी ऐसा न कर, इसका उपयोग निजी स्वार्थों की पूर्ति या प्रतिष्ठा की वृद्धि में करते हैं, और इस प्रकार आर्थिक तथा सामाजिक असमानता बढ़ाते हैं। भारत में इससे जाति भेद, ऊँच-नीच, या छूत-अछूत के भेद-भाव की सृष्टि हुई और इसे धार्मिक बल मिल गया। किसी न किसी रूप में ऐसी भावना

अन्य देशों में भी है। इसे हटाया जाना चाहिए। इसलिए बौद्धिक कार्य को स्वार्थ-सिद्धि का साधन न मान कर, लोगों के लिए अपने जीवन-निर्वाह आदि के वास्ते यथा सम्भव शरीर श्रम करने की आवश्यकता पर जोर देना जरूरी है।

शरीर-श्रम और श्रमियों की प्रतिष्ठा—समाज को न्यायाधीश, अध्यापक, लेखक, कवि आदि की आवश्यकता है। तो क्या किसान, बढ़ई, जुलाहे, लुहार, चमार और मेहतर के काम की जरूरत नहीं है? एक तरह से इनकी ज़रूरत और भी ज्यादा है। इनके श्रम के बिना समाज की जीवन-यात्रा ही नहीं चल सकती। फिर, इन दोनों वर्गों में बौद्धिक कार्य करने वालों को इतना ऊँचा माना जाना, और शारीरिक श्रम करने वालों को निम्न पद मिलना कहां का न्याय है! एक को दूसरे की अपेक्षा कई गुना वेतन क्यों मिले! इस विषय में खुलासा विचार आगे किया जायगा। इसके अतिरिक्त, बुद्धिजीवियों को शरीर-श्रमियों की अपेक्षा अपने आपको ऊँचा न समझना चाहिए और उनसे समानता स्थापित करने के लिए कुछ समय अनिवार्य रूप से शरीर-श्रम द्वारा उत्पादक कार्य करना चाहिए। वास्तव में हमारी किसी श्रमी के साथ बराबरी की भावना तभी सिद्ध होती है, जब हम उसका काम करने को तैयार रहें।

प्रत्येक बुद्धिजीवी को अभी कम से कम कितना श्रम अवश्य करना चाहिए, इस विषय में श्री श्रीकृष्णदास जाजू का मत है कि इसकी मात्रा महीने में २४ घंटे मजदूरी उचित समझनी चाहिए, फिर चाहे रोजाना काम एक घंटा हो या इससे अधिक सामान्यतः दिन भर का काम छः घंटों का मानना चाहिए। इस हिसाब से २४ घंटों का काम महीने भर में चार दिन का होता है। श्री जाजूजी ने भारत की वर्तमान अवस्था में खेती सम्बन्धी काम को प्रथम स्थान देते हुए लिखा है—

अगर दूसरों के खेत में काम करना पड़े तो जैसे अन्य मजदूर लोग मजदूरी लेते हैं, वैसे ही हम भी लेवें। ऐसा करने से काम में लगन आयेगी। खेत का मालिक पूरा काम किये बिना ठीक मजदूरी नहीं देगा। इसके अलावा दूसरा एक बड़ा लाभ यह होगा कि मामूली मजदूरों पर हमारे काम का नैतिक असर पड़ेगा। देहातों के सिवा कस्बों में भी

खेती की मजदूरी का काम मिल सकता है। शहरों में मुश्किल होगा, पर शहर वाले परिस्थिति के अनुसार वहाँ मकान आदि की मजदूरी का काम ढूँढ सकते हैं। *

समाज में अनुत्पादकों की भरमार—प्रत्येक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिए विविध वस्तुओं की जरूरत होती है; यदि और नहीं तो कम से कम इसी विचार से उसे उत्पादक श्रमी होना चाहिए। जिन आदमियों के हाथ-पाँव ठीक काम करते हैं, वे दूसरों पर भार क्यों बनें! दान-दक्षिणा लेना केवल उनके लिए ही ठीक है जो अपाहिज होने की वजह से, भरसक उद्योग करने पर भी अपना निर्वाह नहीं कर पाते, अथवा जो अपना सब समय लोकसेवा करने में लगाते हैं। अन्य किसी समर्थ और स्वस्थ व्यक्ति को परावलम्बी होना अनुचित है। परन्तु ठीक जाँच की जाय तो प्रत्येक समाज में बहुत से आदमी ऐसे मिलेंगे, जो उत्पादक कार्य नहीं करते, अथवा बहुत कम करते हैं।

जिन लोगों का जहां तक वश चलता है, वे वहाँ तक श्रम को टालते हैं। बुद्धिजीवियों ने अनेक ऐसे मार्ग निकाल लिये हैं, जिनसे उन्हें शरीर-श्रम न करना पड़े। अनेक आदमी वास्तव में उत्पादक न होते हुए भी उत्पादकों की तरह, वरन् उससे भी अधिक आदर मान पाते हैं। निम्नलिखित व्यक्ति असल में अनुत्पादक या बहुत-कुछ अनुत्पादक ही हैं, भले ही वे उत्पादक समझे जाते हों—

(१) रईस, सेठ, साहूकार जो सूद की कमाई पर मौज उड़ाते हैं।

(२) कल कारखानों के मालिक, जो उनमें पैसा लगाने के अतिरिक्त कोई उत्पादक श्रम नहीं करते।

(३) जमीन जायदाद के मालिक जो कुछ श्रम न करते हुए लगान या किराये की आमदनी खाते हैं।

(४) जुआरी, सट्टेबाज आदि जो बात की बात में बहुत पैसे के हकदार बन जाते हैं।

---

*'सर्वोदय, अप्रैल १९५१

(५) पुजारी और महन्त आदि जो समाज में नैतिक या आध्यात्मिक शिक्षा के प्रचार में योग नहीं देते।

(६) वे सब आदमी और औरतें जो अपने बाप-दादा या अन्य रिश्तेदार की कमाई में से खाते पीते हैं।

(७) ऐसे वकील या डाक्टर आदि जो लोकहित या समाजहित की परवाह न कर अपने मवक्किलों और रोगियों से अनापशनाप धन ऐंठते हैं, और समाज में मुकदमेबाजी और रोग फैलाने में सहायक होते हैं।

(८) वे सब दुकानदार जो अपनी चीजों में मिलावट करते तथा बेहद मुनाफेखोरी करते हैं; या चीजों को बहुत अधिक आकर्षक बना कर ग्राहकों को ठगते हैं।

(९) वे लेखक, कवि, चित्रकार, सिनेमा-नाटक दिखाने वाले आदि जो लोकहित की भावना न रख अपनी कृतियों से जनता में चंचलता, उद्वेग और विलासिता बढ़ाते हैं।

(१०) ऐसे सब सरकारी तथा गैर-सरकारी नौकर जो नाम-मात्र के काम के लिए बहुत अधिक द्रव्य पाते हैं।

यह सूची पूरी होने का दावा नहीं करती। इसी प्रकार के अन्य व्यक्ति भी हैं, जो पूर्णतया या अंशतः मुफ्तखोरे और परावलम्बी हैं। इन्हें समाज में मान-प्रतिष्ठा न मिलनी चाहिए। वह तो श्रम को ही दी जानी चाहिए। यदि श्रम को आदर नहीं मिलता तो राष्ट्र का पतन स्वाभाविक है। प्राचीन काल में यूनान रोम आदि की सभ्यताएं लुप्त हो गयीं, क्योंकि उनका आधार दासता थी; ऊँचा समझा जानेवाला वर्ग आराम और विलासिता का जीवन बिताता था। वर्तमान राष्ट्रों को इस इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिए।

बौद्धिक कार्य का उपयोग-लोकसेवा के लिए—लोगों को चाहिए कि बौद्धिक कार्य प्रायः लोकसेवा के ही लिए करें। कुछ पाठकों को यह आशंका हो सकती है कि जब इसमें उसका कोई निजी स्वार्थ न होगा तो आदमी ऐसा क्यों करेगा। पर सोचना चाहिए कि इस समय भी कितने ही आदमी अनेक कार्य निस्वार्थ और परोपकार भाव से करते हैं। यदि सर्वसाधारण की शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ से ही ठीक हो और अनुकूल वातावरण मिले तो इस दिशा में

प्रगति होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। मनुष्य में नर से नारायण बनने की क्षमता है।

शरीर-श्रम का आदर्श—गांधीजी ने जीवन-निर्वाह के लिए शरीर-श्रम को आवश्यक माना है। उनका मत है कि बौद्धिक कार्य और (रोटी कमाने के अतिरिक्त) अन्य शारीरिक श्रम प्रेम का श्रम होना चाहिए और उसे केवल समाज-सेवा के लिए किया जाना चाहिए। स्वेच्छा से इस आदर्श को अपनाने से समाज का दुःख दरिद्रता कितनी कम हो जाय और उसके सुख शान्ति में कितनी वृद्धि हो जाय! आदमी का रहनसहन सादगी का होने से उसे जीवन की जटिलता और परेशानी से मुक्ति मिल जाय और उसका स्वास्थ्य भी बहुत सुधर जाय। इसके अतिरिक्त इससे उसकी मानसिक उन्नति में भी सहायता मिले, क्योंकि शारीरिक शक्ति बढ़ने से बुद्धि का भी विकास होता है। फिर, शरीर-श्रम से देश में उत्पादन बढ़ने से वह स्वावलम्बी होगा, और उसके स्वाभिमान की रक्षा होगी। एक और महत्वपूर्ण परिणाम यह होगा कि इससे बुद्धिजीवियों और श्रमजीवियों के बीच की घातक खाई पटने में विलक्षण सहायता मिलेगी। ऐसे चौतर्फा कल्याण करनेवाले आदर्श को यथा-सम्भव प्राप्त करने के प्रयत्न पर किसी को कुछ आपत्ति या शंका क्यों हो?

सोलहवां अध्याय

श्रम-विभाग बनाम श्रम-समन्वय

आदमी श्रम को बचाते रहते हैं, यहां तक कि हजारों बेकार हो जाते हैं और बाजारों में भूखा मरने के लिए फेंक दिये जाते हैं। मैं समय और श्रम की बचत मुट्ठी भर लोगों के लिए नहीं, सब के लिए चाहता हूँ।

—गांधीजी

श्रम से सम्बन्ध रखने वाला एक विषय, जिसे आजकल बहुत महत्व दिया जाता है, वह है जिसे आधुनिक अर्थशास्त्र में 'श्रम-विभाग' कहा जाता है। यह वास्तव में श्रम का विभाजन नहीं होता; कार्यों का, या एक-एक कार्य की विविध क्रियाओं का विभाजन होता है। इस अध्याय में इस बात का विचार किया जायगा कि व्यक्ति तथा समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति की दृष्टि से यह कहाँ तक हितकर या हानिकर है, और यदि यह अन्ततः अनिष्टकर है तो इसके स्थान पर श्रम-समन्वय का उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए।

कार्य-विभाग, भारत की वर्ण व्यवस्था—पहले मनुष्यों की एक-एक टोली या परिवार अपनी जरूरतें पूरी कर लेता था; धीरे-धीरे उनमें काम का बंटबारा होने लगा। समूह के कुछ आदमी सब की रक्षा करने का काम करने लगे; कुछ सब के खाने, कपड़े आदि की व्यवस्था करने के वास्ते पशु-पालन, खेती, उद्योग धन्धे तथा व्यापार करने लगे, कुछ दूसरों को अच्छी अच्छी बातें सिखाकर उनका और साथ में अपना ज्ञान बढ़ाने लगे। इनके अतिरिक्त कुछ आदमी अपनी योग्यता का विकास न कर सकने के कारण मामूली मेहनत मजदूरी आदि से ही अपना निर्वाह करने वाले होने लगे। भारत में इस प्रकार के कार्य-विभाग ने शास्त्रीय स्वरूप धारण कर लिया। यह माना जाता है कि यहाँ वर्ण-व्यवस्था अर्थात् समाज का ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य

और शूद्र इन चार भागों में विभाजन पहले गुण-कर्म के अनुसार था। पीछे धीरे-धीरे यह जन्म के आधार पर समझा जाने लगा और चार जुदा-जुदा जातियाँ बन गयीं, तथा प्रत्येक के सैकड़ों भेद-उपभेद हो गये। बढ़ई, लुहार, जुलाहा, मेहतर, चमार आदि वंश-परम्परा के अनुसार होने लगे, इनका परस्पर में सामाजिक सम्बन्ध न रहा; ऊँच-नीच का भी भेद-भाव आ गया। कुछ जातियाँ तो अस्पृश्य या अछूत ही मानी जाने लगीं, उनका काम नीचे दर्जे का माना जाने लगा। यहाँ तक कि इनका काम करने पर 'ऊँची' जातियों के आदमी भी सामाजिक दृष्टि से गिरे हुए समझे जाने लगे। इस प्रकार भारत में कार्य-विभाग जात-पांत और ऊँच-नीच के भेद-भाव वाला हो गया।

आधुनिक श्रम-विभाग—औद्योगिक कार्य-विभाग सभी देशों में रहा है। यह क्रमशः बढ़ता गया। अठारहवीं सदी से भाप आदि से चलने वाली मशीनों का आविष्कार होने पर यह कार्य-विभाग और आगे बढ़ा। पहले आदमी एक काम के सब हिस्सों को पूरा करके कोई चीज बनाता था; अब एक काम के विविध हिस्से किये जाकर वे अलग-अलग आदमियों के, या जुदा-जुदा समूहों के सुपुर्द किये जाने लगे। यंत्रों से चलने वाले कल-कारखानों में प्रत्येक कार्य कई सूक्ष्म हिस्सों में बंटा होता है। प्रत्येक हिस्सा अपूर्ण होता है, और सब हिस्सों के काम हो चुकने पर अन्त में अभीष्ट वस्तु तैयार होती है। उदाहरण के लिए पहले एक आदमी अपने परिवार वालों के साथ मिल कर कपास ओटता, रूई धुनता, सूत कातता और कपड़े बुन लेता था। अब कल-कारखानों में कपड़ा तैयार करने की क्रिया सैकड़ों भागों में विभक्त है, और प्रत्येक भाग अलग-अलग समूहों को सौंपा जाता है। हरेक समूह में सैकड़ों या हजारों आदमी काम करते हैं, तब कपड़ा तैयार होता है। खासकर ऐसे औद्योगिक कार्य-विभाग को ही 'श्रम-विभाग' कहा जाता है।

श्रम-विभाग से हानियाँ—वर्तमान अर्थशास्त्र में श्रम-विभाग के गुणों का खूब बखान किया जाता है। इससे मुख्य लाभ ये बताये जाते हैं:—एक खास क्रिया को लगातार करने से उसका करना आसान हो जाता है, उसे करने के लिए यंत्रों का आविष्कार हो सकता है, समय की और श्रम की बचत होती है, उत्पादन अधिक होता है, प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति और योग्यता के

अनुसार काम दिया जा सकता है इत्यादि। इन लाभों के विषय में पाठकों को काफी जानकारी होगी। इसलिए इन्हें विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं। हम यहाँ श्रम-विभाग से होने वाली हानियों का विचार करते हैं; उनके सम्बन्ध में प्रायः आधुनिक अर्थशास्त्र में बहुत कम ध्यान दिया जाता है। ये हानियाँ खासकर निम्नलिखित हैं:—

(क) श्रम-विभाग श्रमी को मनुष्य के बजाय एक यंत्र जैसा बना देता है। अनेक आदमियों को अन्त में कहना पड़ता है कि हमारी सारी जिन्दगी आल-पीनों की नोक घिसने में, बटन दबाने में या कीलें ठोकने जैसे काम में ही गयी। उन्हें कोई पूरी चीज बनाने का और अपने काम का प्रत्यक्ष पूरा परिणाम देखने का आनन्द या गौरव प्राप्त नहीं होता। उनकी विचार और योजना शक्ति का उपयोग न होने से उसका विकास नहीं होता। यह बात मनुष्य जाति की उन्नति या कल्याण में बहुत बाधक है।

(ख) प्रत्येक श्रमी को एक कार्य के छोटे से उपविभाग की क्रिया करनी होती है। उसे उसी का अभ्यास होता है। यदि किसी कारण से उसका वह क्रिया करने का कार्य छूट जाय तो उसकी कार्य-कुशलता एक खास क्षेत्र तक ही परिमित रहने के कारण, उसे अन्यत्र काम मिलना आसान नहीं होता।

(ग) एक क्रिया करने वालों को अपने काम का दूसरी क्रियाएँ करने वालों के साथ मेल बैठाना पड़ता है। यदि दूसरी क्रिया वाले अपना कार्य कुछ जल्दी या तेजी से कर लेते हैं तो इन्हें भी अपनी क्रिया उसी गति से करनी पड़ती है। जिस गति से सम्बन्धित यंत्र चलता है, उसी गति से आदमी को चलना होता है। जब तक यंत्र चलता है, आदमी को भी चलना पड़ता है। जब यंत्र चलना बन्द होता है, तो आदमी को भी अपना काम बन्द करना होता है। इस प्रकार यंत्र आदमी पर हावी रहता है। इससे स्नायुओं या नसों पर बहुत अधिक दबाव पड़ता है, जो अस्वाभाविक और अस्वास्थ्यकर होता है।

श्रम-विभाग का उपयोग खासकर यंत्रोद्योगों में होता है, अतः इससे होने वाली हानियों की विशेष जानकारी 'यंत्रोद्योग' नाम वाले अध्याय से होगी।

श्रम-समन्वय की आवश्यकता—श्रम-विभाग में मनुष्य को सिर्फ एक धनोत्पादक यंत्र माना जाता है। इससे मानवता का ह्रास होता है।

आवश्यकता है मनुष्य को मनुष्य मानने की, और उसके सब पहलुओं के विकास के लिए श्रम-समन्वय की दृष्टि से विचार करने की। श्रम-विभाग भले ही किसी देश की कुल धन-राशि को बढ़ाने वाला हो, उससे अधिकांश जनता का शोषण होता है; और दूसरे देशों पर साम्राज्य का चक्र चलाने का मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिए इसे यथासम्भव त्याग कर श्रम-समन्वय को अपनाया जाना आवश्यक है।

श्रम-समन्वय की दृष्टियाँ—श्रम-समन्वय का विचार कई दृष्टियों से होना आवश्यक है—

(१) स्त्री-पुरुष की दृष्टि से,
(२) पारिवारिक दृष्टि से,
(३) सामाजिक दृष्टि से,
(४) औद्योगिक दृष्टि से,
(५) प्रादेशिक दृष्टि से,
(६) भौगोलिक या राष्ट्रीय दृष्टि से।

आगे इनके सम्बन्ध में क्रमशः विचार किया जाता है।

स्त्री-पुरुष दृष्टि—स्त्री-पुरुष की शरीर-रचना में कुछ नैसर्गिक भेद है। स्त्री रजस्वला होती है, उस समय तथा गर्भवती होने पर प्रसव-काल से कुछ दिन पहले से लेकर, कुछ समय बाद तक उसमें श्रम करने की क्षमता कम रहती है। इसलिए उसके काम में इस बात का ध्यान रखा जाना जरूरी है। परन्तु किसी काम धंधे को नीचा समझना और इसलिए उसे स्त्रियों के ही करने का मानना ठीक नहीं है। इस दृष्टि से पुरुषों को भी रसोई बनाना, आटा पीसना, सूत कातना, बच्चों की सार-संभार करना आना चाहिए; और आवश्यकता होने पर जब उन्हें ये काम करने पड़ें तो बहुत परेशानी या कष्ट अनुभव न करना चाहिए। इस प्रकार स्त्री-पुरुषों के काम में उससे अधिक अन्तर या विभिन्नता न होनी चाहिए, जितनी नैसर्गिक दृष्टि से होनी जरूरी है। इसमें जो सामाजिक तथा अन्य बाधाएँ हों, उन्हें दूर किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए भारत के कुछ भागों में तथा दूसरे भी कुछ देशों में स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता है और उन्हें घर से बाहर की दुनिया का कुछ ज्ञान या अनुभव नहीं होता। इससे

उनके जीवन में बहुत एकांगीपन और अस्वस्थता आती है; इसका निवारण होना आवश्यक है।

पारिवारिक दृष्टि—पारिवारिक जीवन में आदमी त्याग और सेवा की शिक्षा लेता है। इस प्रकार परिवार समाज-संगठन की एक स्वाभाविक इकाई और विश्वबंधुत्व की क्रियात्मक पद्धति है। भारत और चीन आदि में इसका बहुत चलन रहा है। इस जमाने में इसका ह्रास होता जा रहा है। आजकल लोगों में वैयक्तिक भावना बढ़ रही है। आदमी अपनी कमाई को अपनी ही इच्छानुसार, और अधिकतर अपने ही सुख के लिए खर्च करना चाहता है, अपने भाई या दूसरे रिश्तेदारों की वह चिन्ता नहीं करता। आवश्यकता है कि आदमी अपने स्वार्थ का, समूह के स्वार्थ के साथ, मेल बैठाये।

संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली समाजवाद का एक व्यवहारिक स्वरूप है, इसे बनाये रखना चाहिए; हाँ, इसमें जो दोष आ गये हैं, उनका निवारण होना चाहिए। उदाहरण के लिए संयुक्त परिवार में सब को रोटी-कपड़ा मिलने का भरोसा होने से कुछ आदमी भरसक श्रम करने और स्वावलम्बी होने का यत्न नहीं करते, वे खाली-बैठे दिन काटते हैं। यह देखकर जो कमाने वाला होता है उसे भी उत्पादन-कार्य में विशेष उत्साह नहीं रहता। इससे घर की आर्थिक दशा खराब हो जाती है; वह वैसी अच्छी नहीं होती, जैसी उस दशा में, जब प्रत्येक समर्थ व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार खूब मन लगा कर श्रम करता है। इस प्रकार के उदाहरण समाज में यथा-सम्भव कम हों, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए।

संयुक्त-परिवार-प्रथा को धक्का पहुँचाने वाली एक खास बात यह है कि प्रायः बड़े-बूढ़ों के विचार पुराने ढंग के होते हैं और अनेक युवक और युवतियाँ नये 'प्रगतिशील' विचारों के होते हैं। एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता न होने से बहुत के संयुक्त परिवारों में संघर्ष बना रहता है। इसका परिणाम अन्ततः यही होता है कि युवक-युवतियाँ उनसे अलग रहने की तैयारी कर लेते हैं, और संयुक्त परिवार समाप्त हो जाता है। आवश्यकता है कि बड़े-बूढ़े कुछ उदार दृष्टिकोण वाले हों। पुरानी व्यवस्था उनके समय में अच्छी रही हो तो भी उन्हें उसको युवकों पर बलपूर्वक लादने की कोशिश न करनी चाहिए। साथ ही युवकों को यथा-सम्भव बड़े-बूढ़ों का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न करते रहना चाहिए।

और जब उनकी कोई बात वे न मान सकें तो भी उनके प्रति आदर-भाव और सेवा-सुश्रुषा में किसी प्रकार की कमी न आने देना चाहिए। ऐसे व्यवहार से पारिवारिक संघर्ष का अवसर कम आयेगा और संयुक्त-परिवार-प्रथा की रक्षा में सहायता मिलेगी।

सामाजिक दृष्टि—हमने भारत की वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख किया है। उसका उद्देश्य यही था कि समाज में सब आदमी अपने-अपने समूह का कार्य इस प्रकार करें कि सब का समन्वय होकर समाज-व्यवस्था अच्छी तरह बनी रहे और सबकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त रहे। इस उद्देश्य को भुला दिये जाने से विविध समूहों या वर्णों में पृथक्ता या विभाजन की भावना बढ़ती गयी। ऊँच-नीच के भेद-भाव ने विषमता उत्पन्न कर दी, समानता और सहयोग के विचार का ह्रास हो गया; यहां तक कि समाज का एक खासा बड़ा भाग अस्पृश्य माना जाने लगा, उससे विकास का मार्ग ही रुक गया।

सामाजिक भेद-भावों का श्रम की उपयोगिता अर्थात् उत्पादन पर बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए बहुधा जब ऐसे चार-छः आदमियों को किसी जगह काम करना होता है, तो वे इकट्ठे नहीं रहते; प्रत्येक अपने रहने और भोजन बनाने की अलग-अलग व्यवस्था करता है; इसमें कितनी असुविधा और अपव्यय होता है, इसका सहज ही अनुमान हो सकता है। खेद है कि संसार के बहुत से आदमियों ने अभी तक यह नहीं समझा कि मनुष्य-मात्र आपस में भाई-भाई हैं। जो लोग सिद्धान्त से विश्वबंधुत्व की बात ठीक मानते हैं, उनके भी संस्कार ऐसे पड़े हुए हैं कि व्यवहार में वे अपने उदार दृष्टिकोण को भूले ही रहते हैं।

मनुष्य जाति को टुकड़े-टुकड़े करने वाले विकार मुख्यतः निम्नलिखित हैं—(१) जाति भेद—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शुद्र तथा इनके अनेक भेद, (२) सम्प्रदाय भेद—हिन्दू-मुसलमान, ईसाई-यहूदी, रोमनकेथलिक-प्रोटेस्टेंट, शिआ-सुन्नी आदि, (३) वर्ण भेद—गौरांग, पीत वर्ण, श्याम वर्ण आदि। इस प्रकार के सब भेद-भाव मानवता के बीच में खाइयाँ बनाये हुए हैं। इनके आधार पर किया हुआ कार्य-विभाग अत्यन्त अनिष्टकारी है। निदान, समाज की प्रगति और कल्याण के लिए श्रम-समन्वय की विचार-धारा के अनुसार व्यवहार होना चाहिए।

प्रादेशिक दृष्टि—किसी उद्योग धंधे की विविध क्रियाएँ कई-कई और दूर-दूर के स्थानों में होना कितना हानिकारक है, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। आजकल भारत में कुछ बुनाई हाथ के करघों पर होती है और इसके लिए मिल का सूत काम में लाया जाता है। इस पर विचार कीजिये। देहात कपास पैदा करते हैं पर वे उसके अधिकांश भाग को बोरों में भरकर पास के कस्बों और शहरों में भेज देते हैं। वहाँ वह कारखानों में ओटी जाती है और उसकी गाँठें बाँधी जाती हैं। वहाँ से वह उन शहरों में भेजी जाती है, जहाँ कातने की मिलें हैं। इन स्थानों में गाँठें खोली जाती हैं, रूई धुनी जा कर उसकी पूनियाँ बनायी जाती हैं, तब उसे काता जाता है, फिर सूत की गाँठें बाँध कर उसे गाँवों में भेजा जाता है। यहाँ हाथ-करघों से बुनाई होती है। बुने हुए कपड़े का बहुत सा हिस्सा बिकने के लिए फिर कस्बों या शहरों में भेजा जाता है। इसमें माल लाने-लेजाने और बाँधने-खोलने की कितनी व्यर्थ की मेहनत होती है। यदि गाँव के आदमी अपने यहाँ ही ओटने, धुनने, कातने और बुनने की व्यवस्था कर लें तो कितना खर्च सहज ही बच सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी प्रकार के उद्योग-धंधे का, खासकर उनका जो मनुष्य की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, कार्य गाँवों और शहरों में विभाजित न हो; प्रादेशिक दृष्टि से उत्पादन में हमारी दृष्टि श्रम-विभाग या कार्य-विभाग की ओर न होकर श्रम-समन्वय की ओर होनी चाहिए।

भौगोलिक या राष्ट्रीय दृष्टि—कार्य-विभाग एक सीमा तक देश-देश में भी होता है। जिस देश में जो माल पैदा करने की विशेष सुविधा होती है, वह देश उस माल को पैदा करे और अपने लिए आवश्यक अन्य पदार्थों को उन दूसरे देशों से लेले, जिन्हें उन पदार्थों को पैदा करने की विशेष सुविधा हो—ऐसी व्यवस्था से सारी दुनिया को अधिक से अधिक लाभ होता है, इसे सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके मुक्त-द्वार व्यापार-नीति का चलन हुआ। इस नीति को अवलम्बन कर इंगलैण्ड ने खेती करना प्रायः छोड़ ही दिया, वह एक औद्योगिक देश बन गया। वह अपने भोजन के पदार्थों तथा उद्योग-धंधों के वास्ते, आवश्यक कच्चे सामान के लिए दूसरों पर आश्रित रहने लगा। ऐसी अर्थनीति का दुष्परिणाम युद्ध-काल में खास तौर से सामने आता है, वैसे भी

ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती है कि बाहर का सामान उचित समय पर और यथेष्ट परिमाण में न मिल सके और सर्वसाधारण के लिए घोर संकट उपस्थित हो जाय। अस्तु, प्रत्येक राष्ट्र को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बी होना चाहिए। इस प्रकार भौगोलिक या राष्ट्रीय दृष्टि से भी हमें श्रम-विभाग या कार्य-विभाग नहीं चाहिए, अर्थात् कुछ देश केवल खेती करने वाले हों, और कुछ उद्योग धंधों वाले हों, ऐसा न होकर सब को खेती और उद्योग धंधों से यथा-सम्भव मिला-जुला उत्पादन करना चाहिए। यह श्रम-समन्वय ही मानव जाति के लिए कल्याणकारी है।

विशेष वक्तव्य—जैसा श्री नरहरि परिख ने 'मानव अर्थशास्त्र' में कहा है, प्रत्येक कार्य-विभाग—चाहे वह समाज के जुदा-जुदा वर्गों के बीच हो, या एक उद्योग की जुदा-जुदा क्रियाओं को करने वालों के बीच हो, या शहरों और गाँव के बीच हो, अथवा एक देश के जुदा-जुदा भागों के बीच हो या भिन्न-भिन्न देशों के बीच हो—उसी अवस्था में अभीष्ट है, जब जिन-जिन के बीच यह चलता हो, उन सब के हित के लिए हो। वर्तमान संसार में सास-बहू का सा कार्य-विभाग चल रहा है। सास बहू से कहती है—'तू घर आयी है तो अब हम दो जने हैं। अब हम काम का बंटवारा कर लें; तू रसोई कर मैं जीमूँ; तू बिस्तर बिछा, मैं सोऊँ। इस प्रकार का कार्य-विभाग औद्योगिक दृष्टि से उन्नत और अवनत देशों में शहरों और गाँवों में, पूँजीपतियों और श्रमियों में, जमींदार और किसान में, ऊँची कही जाने वाली जातियों और नीची मानी जाने वाली जातियों में, गौरांग या श्वेत वर्ण और अश्वेत वर्णों में चल रहा है। इसका आधार शोषण है। उत्पादन में किसी का शोषण न होकर सब का पोषण हो—यह कसौटी होनी चाहिए। इसलिए हमारीउत्पादन पद्धति का आधार कार्य-विभाग या श्रम-विभाग न होकर श्रम-समन्वय होना चाहिए।

हम सब मिल-जुल कर काम करें, कोई अपने स्वार्थ और दूसरों के शोषण का विचार न करे। हम अपने बीच में तरह-तरह की विभाजक दीवारें खड़ी न करें; यदि हम किसी विशेष विषय में दूसरों की अपेक्षा अधिक उन्नत या विकसित हों, तो हमारी उन्नति या विकास मानवता की वृद्धि में सहायक हो।

सतरहवाँ अध्याय

पूँजी

बिना दूसरे के मर्म-स्थान को आघात पहुँचाये, बिना कठोर कर्म किये, बिना मछुवाहे की तरह निर्दयी होकर हिंसा किये बड़ी सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती।

—नीति वाक्य

आज कल पैसा जरूरी चीज है, लेकिन दौलत मेहनत से ही पैदा होती है; असल दौलत इन्सान की मेहनत है। अगर हमारे देश में सोना-चाँदी ज्यादा नहीं है तो क्या; इन्सान तो हैं, जो मेहनत करके दौलत पैदा कर सकते हैं।

—जवाहरलाल नेहरू

पूँजी क्या है ?—पूँजी वह धन है, जो और धन को पैदा करने में काम आये; धन किसे कहते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। साधारणतया आदमी, पूँजी का अर्थ रुपया-पैसा समझते हैं, परन्तु आजकल पूँजी में नकद रुपये का भाग बहुत कम होता है। उसमें अधिकतर कच्चा पदार्थ, हल, बैल, बीज, श्रमियों के मकान, कार्यालय, कारखाने, औजार, मशीन आदि होती है।

अतिरिक्त उत्पादन और अपहृत श्रम—पूँजी बचत का फल है। आदमी जितना धन पैदा करते हैं, यदि उस सब को खर्च कर डालें; और भविष्य में धनोत्पादन करने के लिए, उसमें से कुछ बचाकर न रखें, तो पूँजी कहाँ से आये! अतः खर्च करने में मितव्ययिता का विचार रहना आवश्यक है; फजूल-खर्ची रोकी जानी चाहिए। इसके लिए मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं पर नियन्त्रण रखना होता है। जो लोग पूंजी इकट्ठी करते हैं, उनमें से कोई-कोई बहुत ही कठिनाइयाँ सहते हैं; यहाँ तक कि अपने भोजन-वस्त्र में भी बहुत

किफायत से काम लेते हैं। इस प्रकार वे बहुत कम धन में अपना काम चलाते हैं, और थोड़ी-थोड़ी पूंजी जमा करते जाते हैं।

पूंजी संचय करने का दूसरा रूप यह है कि हम जितना खर्च करें, उससे अधिक पैदा करें। कुछ खास दशाओं में, और एक सीमा तक ऐसा हो सकता है। पर साधारणतया यह बात बड़े पैमाने पर नहीं होती। किन्तु इसका भी एक रास्ता निकाला गया है। चतुर चालाक आदमी दूसरे मनुष्यों (श्रमियों) द्वारा धन पैदा कराके उसे सब में अच्छी तरह नहीं बाँटते; वे उत्पन्न धन से दूसरों को साधारण मजदूरी देकर शेष सब (जो काफी बड़ा हिस्सा होता है) अपने लिए रख लेते हैं, और इसमें से कुछ हिस्सा अपने इने-गिने खास सहायकों को देकर उन्हें संतुष्ट रखते हैं, जिससे इन्हें उनका सहयोग मिलता रहे। आधुनिक काल में भाप और बिजली आदि की शक्तियों से चलने वाले बड़े-बड़े कल कारखानों से इस दिशा में बहुत सुविधा होने लगगयी है। उनके कारण अब अर्थव्यवस्था ऐसी है कि जब हजारों मजदूरों को प्रति व्यक्ति अस्सी-सौ रुपये माहवार मिलते हैं और ये जैसे-तैसे अपना निर्वाह करते हैं, तो दूसरी ओर मैनेजर आदि को कई-कई हजार रुपये प्रति मास मिलते हैं, और मिल-मालिक का तो कुछ हिसाब ही नहीं, उसे तो लाखों रुपये मिलने में भी कोई रोक टोक नहीं। ये लोग खूब ठाट-बाट से रहते हैं, मनमाना खर्च करते हैं, फिर भी इनके पास काफी धन बचा रहता है, जिसे ये और अधिक धन पैदा करने में लगाते रहते हैं। इस तरह इनकी पूंजी अधिकाधिक बढ़ती जाती है। इस पूंजी पर मजदूरों का वैसा ही अधिकार होना चाहिए, जैसा मिल-मालिक आदि का, क्योंकि उन्होंने कुछ कम घंटे या कम मेहनत का काम नहीं किया है। वास्तव में उन्होंने तो अधिक कष्ट उठाया है, जबकि मिल-मालिक आदि ने शरीर-श्रम न करके अपनी बुद्धि का ही उपयोग किया है जो कि स्वार्थ-साधन के बजाय सेवा-कार्य में होना चाहिए था। अस्तु, वर्तमान बड़ी-बड़ी पूंजी के कारोबार प्रायः अपेहृत श्रम के मूर्तिमान रूप हैं और मानव जाति के दुर्भाग्य की घोषणा कर रहे हैं।

समाज में आर्थिक विषमता न होते हुए पूँजी की वृद्धि आवश्यक है—समाज की उन्नति या विकास के लिए विविध वस्तुओं और

कामों की जरूरत है। उनके लिए धन की आवश्यकता होने से यह स्वयं-सिद्ध है कि प्रत्येक देश में पूंजी बढ़ायी जाने के यथेष्ट प्रयत्न हों। वर्तमान अर्थशास्त्र भी इस बात पर जोर देता है, परन्तु सर्वोदय अर्थशास्त्र में और उसमें यह अन्तर है कि यह समाज में आर्थिक विषमता पैदा करने वाली बातों का निवारण करके पूँजी द्वारा ऐसे तथा इस प्रकार धन की उत्पत्ति बढ़ाने का आदेश करता है, जिससे किसी वर्ग विशेष का ही हित न होकर समस्त समाज का सुख और विकास बढ़ने का मार्ग प्रशस्त हो। प्रत्येक देश में पूंजी की वृद्धि होनी चाहिए; हाँ, पूंजी स्वयं लक्ष्य नहीं है, उसका उद्देश्य है लोकसेवा या सर्व-हित।

भारत में पूंजी की वृद्धि के लिए जनता मे शिक्षा के अतिरिक्त, मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिए; व्याह-शादी, नाच-रंग और जन्म-मरण आदि सम्बन्धी फ़जूलखर्ची की विविध रीति-रस्में हटनी चाहिएं; तथा खेती और उद्योग-धंधों आदि की उन्नति की जानी चाहिए और इसके लिए इनमें काम आने वाले विविध औजारों तथा पद्धतियों के सम्बन्ध में उपयोगी आविष्कार होते रहने चाहिएं। इस समय मशीनों और यंत्रोद्योगों को बहुत महत्व दिया जा रहा है, इससे जो हानि है, उसका विचार अन्यत्र किया गया है।

पशुओं की उन्नति—पहले कहा जा चुका है कि पशु भी पूँजी का अंग हैं, इसलिए पूँजी की वृद्धि का एक कार्य पशुओं की उन्नति करना तथा उनका स्वास्थ्य सुधारना है। अनेक स्थानों में इस ओर काफी ध्यान नहीं दिया जाता। उन्हें प्रायः मैला-कुचैला पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा दिया जाता है, इससे वे कमजोर और रोगी रहते हैं, तथा उनकी आयु कम होती है। इस बातों का सुधार होना चाहिए। आज कल सभी देशों में नगरों की वृद्धि होती जा रही है, इससे पशुओं के चरागाहों तक में मकान बनते जा रहे हैं, या उन्हें खेती के लिए जोत लिया जाता है। इससे पशुओं को यथेष्ट चारा नहीं मिलता। इसका प्रबन्ध होने की आवश्यकता है। पशुओं के रोगों का इलाज करने की व्यवस्था खास-खास स्थानों में ही नहीं, प्रत्येक बड़े गाँव या ग्राम-समूह में होनी चाहिए। पशुओं की नसल सुधारने की भी यथेष्ट व्यवस्था होने की जरूरत है।

बहुत से पशु मनुष्य के मांसाहार के लिए मारे जाते हैं। यद्यपि आदमी क्रमशः शिकारी अवस्था को छोड़कर अधिकाधिक पशुपालक बनता जाता है, तथापि अभी तक उसकी मांसाहार की प्रवृत्ति काफी बनी हुई है। कुछ अंश में तो भौगोलिक स्थिति ही इसका कारण है। जहाँ आदमी को अपने निर्वाह के लिए अन्न या फलादि पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते, वहां उसका मांसाहारी होना स्वाभाविक है। पर बहुत से स्थानों में आदमी केवल स्वाद के लिए पशु-पक्षियों को मारता है। कितने ही पशु खासकर चमड़े के लिए मारे जाते हैं। आधुनिक सभ्यता में चमड़े का इस्तेमाल कितना बढ़ गया है, यह सर्व-विदित है; यदि मरे हुए जानवरों की खाल से ही बने चमड़े का उपयोग किया जाये तो अनेक जानवर मारे जाने से बचाये जा सकते हैं। कुछ देशों में ऐसा सरकारी नियम है कि दूध देने वाले (मादा) पशुओं को न मारा जाये, पर बहुत से देशों में इतने विवेक का भी परिचय नहीं दिया जाता।

इससे अधिक अमानुषिक बात है गर्भवती भेड़ों आदि को इसलिए मारा जाना कि उनके गर्भ के बच्चे का मांस बहुत स्वाद, तथा उसका चमड़ा या रोआं बहुत कोमल समझा जाता है और उसके इतने दाम उठ जाते हैं कि माँ और बच्चे दोनों को मारने में नफा ही रहता है। भेड़ों की इस प्रकार की हत्या का उल्लेख सातवें अध्याय में (वस्त्र के प्रसंग में) हो चुका है। विविध देशों की सरकारों और जनता को यह घातक व्यापार बन्द करने का उद्योग करना चाहिए।

याद रहे कि भारत में बैल ही खेती का प्रमुख साधन है। यातायात का भी यह बड़ा सहारा है। बैल की जन्मदाता होने से तथा अपने दूध के विशेष गुणों के कारण यहाँ गौ को माता कहा जाता है। हमारी अर्थव्यवस्था में गौ की रक्षा और उन्नति का यथेष्ट ध्यान रखा जाना जरूरी है।

पूँजी का उपयोग लोकहित की दृष्टि से होना चाहिए— आवश्यकता है कि पूँजी से सर्वसाधारण को लाभ हो, न कि कुछ थोड़े से व्यक्तियों का स्वार्थ-साधन या भोग विलास की वृद्धि। अतः उत्पत्ति के उपकरणों पर किसी व्यक्ति या संस्था का ऐसा स्वामित्व न होना चाहिए कि उसके द्वारा दूसरों के शोषण में सुविधा हो। प्रत्येक परिवार के पास इतनी पूँजी

हो जिससे वह अपनी असली जरूरतें पूरी कर सके और साथ ही अपने गाँव या नगर के हित में भी कुछ भाग ले सके। स्थानीय संस्थाओं को अपने गांव या नगर के व्यापक हित का ध्यान रखना चाहिए। जिन कार्यों के लिए विशेष पूँजी की आवश्यकता हो, तथा जिसका उपयोग देश के किसी खास भाग के लिए न होकर राष्ट्र के हित के लिए हो, उनकी व्यवस्था राष्ट्रीय सरकार द्वारा की जानी चाहिए। ऐसे कार्यों का परिमाण स्वभावतः कम ही रहेगा। हमें देश की अधिकांश पूँजी का उपयोग विकेन्द्रित रूप में करके उन दोषों से बचना है जो पूँजी के केन्द्रीकरण से होते हैं। वर्तमान अवस्था में जहाँ एक-एक व्यक्ति के पास कुछ इकट्ठी पूँजी है, वे उसका उपयोग 'ट्रस्टी' या अमानतदार के रूप में करें। इसके सम्बन्ध में आगे 'मुनाफा' अध्याय में लिखा जायगा।

राष्ट्रीय पूँजी—अब ऐसी पूँजी का विचार किया जाता है, जो सर्व-साधारण कें उपयोग के लिए होती है, और जिसके प्रबन्ध या व्यवस्था आदि का कार्य सरकार करती है। यह पूंजी खासकर रेल, सड़क, तार, डाक, टेलीफोन, रेडियो, खानें, नदियाँ, बाँध, नहरें, समुद्र-तट आदि हैं। सरकार को चाहिए कि इनकी उन्नति करे, परन्तु इसके साथ ऐसी व्यवस्था भी करे कि वे सर्व-साधारण के लिए यथेष्ट उपयोगी हों, ऐसा न हो कि कुछ खास श्रेणी या वर्गों के आदमी ही उनसे विशेष लाभ उठा सकें। उदाहरण के लिए सड़कों और रेलों के बारे में कुछ खुलासा विचार आगे व्यापार के प्रसंग में किया जायगा।

विदेशी पूँजी के उपयोग का सवाल—पूंजी के उपयोग के सम्बन्ध में एक विचारणीय प्रश्न यह रहता है कि किसी देश की सरकार द्वारा विदेशी पूंजी का उपयोग कहाँ तक उचित है। हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रत्येक देश में पूंजी का उपयोग विकेन्द्रित रूप में होना चाहिए। सरकार द्वारा यातायात संवाद-वाहन या सिंचाई आदि के ऐसे ही कार्य किये जाने चाहिएँ, जो उसके लिए करना अनिवार्य हो। इस प्रकार उसे पूंजी की आवश्यकता कम ही होनी चाहिए। यह पूंजी उसे बहुधा अपने देश की ही जनता से मिल जायगी, खासकर जब वह जनता के श्रम के उपयोग की उचित व्यवस्था करेगी और नकद पूंजी को विशेष महत्व न देगी। फिर, जब कोई देश, विदेशी पूंजी का

उपयोग करता है तो उस पर ऋण देने वाले राष्ट्र का प्रभाव पड़ कर उसका आर्थिक दृष्टि से पराधीन हो जाना स्वाभाविक है। यही नहीं, उसकी राजनीति भी एक सीमा तक दूसरे देश की सरकार द्वारा नियंत्रित होने की आशंका रहती है। इस प्रकार वर्तमान अवस्था में किसी देश में विदेशी पूंजी से काम लेना खतरे से खाली नहीं। आजकल कितने ही देश औद्योगीकरण के लिए विदेशी पूंजी का उपयोग करने के इच्छुक रहते हैं, उन्हें इस विषय में सतर्क रहने की आवश्यकता है। खासकर उन देशों में, जहाँ भारत की तरह जनसंख्या यथेष्ट है, लोगों को ग्रामोद्योग या हाथ-उद्योग को ही बढ़ाना चाहिए, जिससे पूंजी की विशेष आवश्यकता ही न हो। इस विषय पर आगे यंत्रोद्योग शीर्षक अध्याय में विशेष विचार किया जायगा।

पूँजीवाद को हटा कर शोषणहीन समाज का निर्माण—वर्तमान अर्थव्यवस्था जन-शक्ति के आधार पर न होकर पूंजी के आधार पर है। श्रमियों का शोषण हो रहा है; यह दो प्रकार से है—एक तो व्यवस्था, प्रबन्ध या इन्तजाम के नाम पर, और दूसरे केन्द्रित उत्पादन की चीजों का वितरण करने के बहाने। हाथ-उद्योग या ग्रामोद्योग स्वावलम्बी और विकेन्द्रित उत्पादन का प्रतीक है। इसमें वितरण की आवश्यकता तो अपने-आप खतम हो जाती है, और जब इस पद्धति को समझ-बूझ कर अपनाया जाय अर्थात् इन्तजाम भी जनता स्वयं ही सहकारिता आधार पर कर ले, तब शोषण के भी मार्ग बन्द हो जाते हैं। इस प्रकार स्वावलम्बी और विकेन्द्रित उत्पादन पद्धति अपनाने से ही जनता शोषण से मुक्त हो सकती है। ग्रामोद्योग, विकेन्द्रित उत्पादन और वितरण के सम्बन्ध में खुलासा विचार आगे किया जायगा। यहाँ संक्षेप में यह सूचित करना है कि इस समय जो पूंजी का प्रभुत्व है, और श्रम अर्थात् सर्व-साधारण का शोषण हो रहा है, उसे समाप्त कर शोषणहीन समाज का निर्माण किया जाना चाहिए। आवश्यकता है कि पूंजीपति अर्थात् शोषक समझ-बूझ कर शारीरिक श्रम अपनाकर 'मजूर' बन जायें, मजदूरों में विलीन हो जायें; अन्यथा वे मजदूरों द्वारा समाप्त किये जाने के लिए तैयार रहें। आजके युग की सबसे बड़ी और मुख्य माँग शोषणहीन समाज की रचना है और यदि हम उस माँग को स्वेच्छा से पूरी नहीं करेंगे तो हमें यह कार्य मजबूर होकर करना पड़ेगा।

पूँजी बनाम श्रम—आजकल पूंजी की तुलना में श्रम की बहुत कुछ उपेक्षा की जाती है। यहाँ तक कि उसे पूंजी बढ़ाने का साधन मान लिया गया है। बड़े-बड़े यंत्रोद्योगों में निरंतर यह प्रयत्न होता रहता है कि जिस काम को एक हजार श्रमी करते हैं, उसे करने के लिए ऐसी मशीन रूपी पूंजी का आविष्कार हो जाय, जिसके द्वारा उसे केवल सौ-दो सौ और पीछे क्रमशः उससे भी कम श्रमी कर सकें। मशीनों और इमारतों की वृद्धि और विस्तार देश का वैभव माना जाता है। उनमें काम करने वाले श्रमियों की कमी पर गर्व किया जाता है। यह नीति विनाशकारी है। हमें याद रखना चाहिए कि कोई राष्ट्र लोहे और पत्थरों का, अथवा आलीशान इमारतों आदि का नहीं होता। उसका जीवन प्राण तो श्रम करने वाली जनता ही होती है। यदि श्रम है तो आवश्यक सम्पत्ति या पूंजी का निर्माण सहज ही हो सकता है; और, आखिर पूंजी का उपयोग भी तो इसी में है कि वह जनता के हित में लगे। निदान, पूंजी और श्रम में प्राथमिकता तो श्रम को ही मिलनी चाहिए।

———

अठारहवां अध्याय

खेती

मेरी आखिरी आकांक्षा यह है कि हर गाँव एक-एक कुटुम्ब बन जाय; सब मिलकर जमीन जोतें, पैदा करें; खायें-पीयें और रहें। मैं चाहता हूँ कि हर गाँव गोकुल बन जाय। —विनोबा

पिछले अध्यायों में उत्पत्ति के साधनों—भूमि और श्रम आदि—के सम्बन्ध में लिख चुकने पर अब हम खेती सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर सर्वोदय दृष्टि से विचार करेंगे।

खेती का महत्व—खेती से आदमी की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति का ही सामान नहीं मिलता, इससे उसे स्वास्थ्य स्फूर्ति और ताजगी भी प्राप्त होती है। इसका उसके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को जहां तक सम्भव हो खेती करनी चाहिए। खेती से आदमी को प्रकृति माता की गोद में रहने का अनुभव होता है। इसका आनन्द प्राप्त करने का प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार होना चाहिए।

भूमि का उचित विभाजन—पहले कहा जा चुका है कि इस समय भूमि विविध राष्ट्रों में तथा प्रत्येक राष्ट्र के सब व्यक्तियों में लोकहित की दृष्टि से विभाजित नहीं है। ऐसी स्थिति में खेती की पैदावार यथेष्ट न होना, तथा जो होती है, उसका जनता में बहुत असमान रूप से बंटना स्वाभाविक ही है। विविध राज्यों में एक-दूसरे के प्रति, तथा एक राज्य के सब आदमियों में आपस में, सहानुभूति और बंधुत्व की क्रियात्मक भावना हो कर ही इस स्थिति में सुधार होना चाहिए। इस विषय में खुलासा पहले लिखा जा चुका है। प्राकृतिक स्थिति या भूमि के गुणों की भिन्नता के कारण सब स्थानों में किसी परिवार के लिए आवश्यक भूमि का एक ही परिमाण निर्धारित नहीं किया जा

सकता, तथापि यह कहा जा सकता है कि एक परिवार के पास इतनी भूमि होनी चाहिए, जिसकी पैदावार से उसकी जीवन-रक्षा के पदार्थ यथेष्ट परिमाण में मिल सकें, और जिस पर वह साधारणतया स्वयं ही खेती कर सकें। जो लोग खेती करने योग्य न हों, या स्वयं खेती न करते हों, उन्हें जमीन रखने की आवश्यकता नहीं, वे उद्योग धन्धों आदि से अपना निर्वाह करें।

भूमि के उपयोग में ध्यान देने की बातें—भूमि के उपयोग में प्राथमिकता आदमी की मुख्य आवश्यंकताओं—भोजन, वस्त्र और मकान आदि—की पूर्ति को देनी चाहिए। इसलिए

(१) यथा-सम्भव मकानों के लिए ऐसी ही भूमि काम में लायी जाय जो खेती के लिए अयोग्य हो अर्थात् जिस पर खेती न हो सकती हो, या खेती करने से पैदावार की मात्रा बहुत कम होती हो।

(२) जहाँ तक सम्भव हो हर एक बस्ती के आदमियों को अपने भोजन की तथा अन्य प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति के पदार्थ अपनी बस्ती में उत्पन्न करने चाहिएँ, जिससे वे स्वावलम्बी हों, उन्हें दूसरों के आश्रित रहने की जरूरत न हो।

(३) हर एक बस्ती को अपने स्थान के लिए आवश्यक उद्योग धंधोंके लिए जिस-जिस और जितने-जितने कच्चे माल की आवश्यकता हो, उसे वह माल भी उतनी मात्रा में स्वयं पैदा करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(४) अपनी जरूरत से अधिक पैदा करने में अपने अन्य बंधुओं की सहायता करने का लक्ष्य रहे, मुनाफा कमाने का नहीं।

संतुलित खेती—अनेक स्थानों में यह शिकायत है कि खेती के लिए इतनी भूमि नहीं है, जिससे वहाँ जनता की भोजन-वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। उदाहरण के लिए भारत में प्रति व्यक्ति के हिसाब से औसतन पौन एकड़ भूमि आती है, और इससे इतनी पैदावार नहीं होती कि सब निवासियों का अच्छी तरह निर्वाह हो जाय। भूमि की यह कमी मालूम होने का मुख्य कारण यह है कि हमारा भोजन संतुलित नहीं है, हम अधिकतर अन्न पर निर्भर रहते हैं। यह ठीक है कि एक एकड़ भूमि में पैदा होने वाला अन्न उसमें पैदा हो

सकने वाले अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक 'केलोरी' या जीवन-मान (शरीर के लिए आवश्यक उष्णता की मापक इकाइयां) देता है, परन्तु अन्न से शरीर-रक्षक भोजन के अंश कम मात्रा में मिलते हैं। अगर हम ये अंश लेने के लिए केवल अन्न पर ही निर्भर रहें तो अन्न की बहुत बड़े परिमाण में आवश्यकता होती है। इसके विपरीत, यदि अन्न के पूरक के रूप में फल, सब्जी, दूध और उसकी बनी चीजें, गुड़, मेवा और तेलहन आदि का उपयोग करें तो संतुलित भोजन के विविध भागों की पूर्ति, केवल अन्न की अपेक्षा इन पदार्थों के कम परिमाण से ही हो सकती हैं। गुड़ में तथा आलू आदि कन्दमूल में, प्रति एकड़ अन्न की अपेक्षा जीवन-मान भी अधिक होता है। इस प्रकार संतुलित भोजन से दोहरा लाभ है। इसमें प्रति व्यक्ति भूमि की आवश्यकता कम होती है, और साथ ही इससे शरीर को ठीक और स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक तत्व उचित परिमाण में मिल जाते हैं। इसका विचार करके खेती करने से भूमि की कमी की समस्या सहज ही हल हो जाती है। प्रत्येक बस्ती की भूमि विविध फसलें पैदा करने के लिए इस प्रकार विभाजित की जानी चाहिए जिससे वहां की जनता की संतुलित भोजन, वस्त्र आदि की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाय।

आगे के नक्शे में यह दिखाया जाता है कि एक लाख आबादी के लिए संतुलित खेती करने के वास्ते भूमि का विभाजन किस प्रकार होना चाहिए। इसमें ऐसे संतुलित शाकाहार या निरामिष भोजन का हिसाब लगाया गया है कि औसत दर्जे के आदमी को प्रति दीन २८४० जीवन-मान तथा प्रति वर्ष २५ गज कपड़ा मिल जाय। मांसाहारियों के लिए दूध के बजाय १० तोले मांस या मछली और एक अंडा रखा जा सकता है।

इसमें सारे भारत के अंकों के आधार पर मोटा हिसाब लगाया गया है, अवश्य ही इसमें स्थान-भेद से अन्तर रहेगा। अगर हम प्रत्येक व्यक्ति को आठ छटांक अन्न देते हैं तो इसका अर्थ यह है कि ६५·२ प्रतिशत भूमि अन्न की खेती में लगनी चाहिए। इसी प्रकार अन्य बातें समझी जा सकती हैं। यह हिसाब एक लाख आबादी के लिए लगाया गया है। अगर कोई गाँव या मिली हुई इकाई इन पदार्थों को इस अनुपात में पैदा करे तो वहाँ के आदमियों की प्रमुख आवश्यकताएं पूरी हो जायंगी। इस लिए हमें इस प्रकार की संतुलित

पदार्थ	तोले प्रति दिन	जीवन-मान	सेर प्रति वर्ष	एक लाख जनता के लिए आवश्यक भूमि एकड़ों में	एक लाख जनता के लिए बीज तथा घास के लिए १५% अतिरिक्त भूमि	एक लाख जनता के लिए भूमि का योग एकड़ों में	भूमि प्रतिशत
१—भोजन							
अन्न	४०·००	१६००	१८२·५०	४३,४००	६,५१०	४६,९१०	६५·२
दाल	५·००	२००	२२·८०	५,४००	८१०	६,२१०	८·०
गुड़	५·००	२००	२२·८	१,२००	१८०	१,३८०	१·८
मेवा	२·५०	१४५	११·४०	२,६००	२९०	२,९९०	८·४
तेल	१·२५	२५५	५·७०	३,०००	४५०	३,४५०	
घी	१·२५	—	५·७०	—	—	—	—
दूध	३०·००	२४०	१३६·८५	—	—	—	—
सब्जी	२०·००	४८	९१·२५	१,६००	२४०	१,८४०	२·४
आलू आदि	१०·००	१००	४५·६२	१,०००	१५०	१,१५०	१·५
फल	१०·००	५२	४५·६२	९००	१३५	१,०३५	१·४
२—कपड़ा							
रूई			६·२५	७,५००	१,१२५	८,६२५	११·३
योग		२८४०		६६,६००	९,९९०	७६·५९०	१००·०

खेती का लक्ष्य रखना चाहिए। किसानों को अपनी भूमि में उसी विचार से फसलों को पैदा करने की अनुमति दी जानी चाहिए, उन्हें भूमि का उपयोग समाज-हित की दृष्टि से करना चाहिए; अपने मुनाफे के लिए नहीं। *

व्यापारिक फसलों पर प्रतिबन्ध—इससे यह स्पष्ट ही है कि व्यापारिक पैदावार बहुत सीमित कर दी जानी चाहिए। समझदार किसान स्वयं ऐसा करेंगे, तथापि पंचायतों द्वारा ऐसे पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था होनी चाहिए कि किसान किस-किस फसल को पैदा करें। जिस भूमि पर फसलें मुनाफे की दृष्टि से पैदा की जायं, उन पर मालगुजारी काफी अधिक लगायी जाय।

खेती की उन्नति, बैलों का सवाल—खेती की उन्नति के साधारण उपाय सर्वविदित हैं। अतः यहाँ उनका विचार न कर बैल, सिंचाई और खाद के बारे में कुछ बातों का उल्लेख किया जाता है। भारत में बैलों को संख्या बहुत काफी है, परन्तु अधिकतर बैल कमजोर हैं, उनसे यथेष्ट काम नहीं होता, वे प्रायः किसानों के लिए भार-रूप हैं। अच्छे बैल यहाँ आवश्यकता से कम हैं। इसलिए यहाँ बैलों की नसल सुधारने और उन्हें हृष्ट-पुष्ट बनाने की बहुत आवश्यकता है।

कुछ दशाओं में इससे भी समस्या हल न होगी। आवश्यकता होने पर गायों से भी खेती आदि का काम लिया जा सकता है। मिस्र में इसकी सामान्य प्रथा है। गायों से काम लेने से उनका दूध कम नहीं होता, और न उनके स्वास्थ्य पर ही कुछ हानिकारक प्रभाव पड़ता है। जब गाय खेती आदि का काम करने लगेंगी तो उनकी उपयोगिता बढ़ने से उन्हें भली-भांति खिलाया-पिलाया भी जा सकेगा। यही बात सांड़ों के बारे में विचारणीय है। उनसे काम न लेने के सम्बन्ध में हमारी जो अविवेक-पूर्ण विचारधारा बनी हुई है, उसे छोड़कर हमें अपने पशु-धन की, और उस के साथ खेती की, उन्नति करनी चाहिए।

सिंचाई, कुएँ, तालाब और बांध—संसार में बहुत कम देश ऐसे हैं, जहां सिंचाई के साधनों की पूर्ण व्यवस्था हो। भारत में तो ७० प्रतिशत

---

*श्री जो. का. कुमारप्पा की 'इकानामी आफ परमेनेन्स', भाग २, से

भूमि ऐसी है कि उसमें उचित वर्षा होने से ही ठीक उपज हो सकती है। अति-वृष्टि और अनावृष्टि दोनों ही बहुत हानिकर हैं। इन्हें रोकने के लिए छोटे छोटे बांधों और तालाबों की जरूरत है। अधिक वृष्टि होने पर खेतों का पानी बांधों तथा तालाबों में भेजा जा सकता है, और कम वृष्टि होने पर उनमें एकत्रित जल से सिंचाई हो सकती है। भारत में पहले छोटे-छोटे तालाबों की संख्या बहुत थी। पर इधर लोगों ने स्वार्थवश उनके खेत बना लिये। आवश्यकता है कि पुराने तालाबों को ठीक किया जाय और जहाँ-तहाँ नये तालाब, और बांध बनाये जायँ। यहाँ बहुत से कूएँ भी नष्ट हो गये हैं, अथवा उनमें मिट्टी गिर जाने से उनमें पानी बहुत कम रह गया है। इनकी मरम्मत आदि की जानी चाहिए। किसानों को ऐसे कामों के लिए यथेष्ट प्रोत्साहन और सहायता दी जाने की जरूरत है।

बिजली के पम्पों और नहरों से हानियां भी हैं—सिंचाई के दो बड़े साधन बिजली के पम्प और नहरें हैं। इनसे बहुत लाभ होता हुआ प्रतीत होता है, पर कुछ सज्जनों के मत से हानियां और भी अधिक हैं। उदाहरण के लिए श्री जो. का. कुमारप्पा ने लिखा है कि 'बिजली के पम्प के आ जाने से जमीन के नीचे का पानी इतना गहरा उतर जाता है कि तालाब और कुओं में नहीं आ पाता। यही नहीं, पुराने झाड़ भी सूख जाते हैं, क्योंकि जमीन के नीचे का पानी उनकी जड़ों से नीचे उतर जाता है। सूखे झाड़ काट डाले जाते हैं और मिट्टी बह जाने के लिए खुली कर दी जाती है। हमारी जमीन की हालतों से यह स्पष्ट है कि जो जरूरी है वह यह नहीं कि हमारी जमीन के नीचे के पानी को खूब खींचा जाय, बल्कि यह कि समुद्र में व्यर्थ बह जाने वाले पानी का संग्रह किया जाय। दूसरे शब्दों में कहें तो यह कि बिजली के पम्पों की अपेक्षा हमें नदी नालों पर छोटे-छोटे बांध बांधने की ज्यादा जरूरत है, जिससे बरसात के पानी का संग्रह किया जा सके।'

इसी प्रकार नहरों की बात है। इनके भी फायदे तो सब बताते हैं, पर प्रायः इनसे होने वाली हानियों की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। नहर की व्यवस्था अनिवार्यतः सरकार के अधीन होने से इसमें परावलम्बन तो है ही। इसके अतिरिक्त नहरों से प्रायः ये हानियां होने की सम्भावना रहती है-(१) खेतों में

बालू पहुँचने से पैदावार पर बुरा असर पड़ता है, (२) रेह या अन्य खाद की अधिकता वाले क्षेत्र से बहकर आने वाला पानी खेतों को बंजर बना डालता है। (३) नहरों के कारण वर्षा के पानी का स्वाभाविक बहाव रुक जाता है, पानी सड़ता है, सील की जगह पैदावार कम या खराब होती है। आसपास की बस्तियों के मनुष्यों तथा पशुओं का स्वास्थ्य बिगड़ता है।

प्रत्येक देश की सरकार को चाहिए कि बिजली के पम्पों या नहरों द्वारा सिंचाई का विस्तार करने से पूर्व अपने यहाँ की भूमि पर इसके पड़ने वाले प्रभाव की विशेषज्ञों द्वारा अच्छी तरह जाँच करा ले; और विस्तार केवल उन्हीं स्थानों में करे, जहां यह बहुत उपयोगी साबित हो।

कृषि-यंत्रीकरण से लाभ हानि—बहुत से देशों में कितनी ही भूमि ऐसी है, जिसमें प्रयत्न करने से खेती होना सम्भव है, पर की नहीं जाती। उदाहरण के लिए कहीं-कहीं कांस या अन्य घास उगी रहती है, जिसकी जड़ें जमीन के अन्दर बहुत गहराई तक गयी हुई होती हैं। इस घास को निकालना और इस भूमि में हल चलाना या बीज बोना आसान नहीं है। ट्रेक्टरों की सहायता से यह काम हो सकता है। पर क्या साधारण भूमि में भी ट्रेक्टरों आदि मशीनों से काम लेना अच्छा है? पहले भारत की दृष्टि से विचार करें। अभी तो मशीनें विदेशों से मंगाने का सवाल है, पर मान लो कुछ समय बाद ये यहां ही बनायी जा सकती हैं। तब भी इन्हें चलाने के वास्ते पेट्रोल की जरूरत होगी, इसके लिए हमें दूसरे देशों पर निर्भर रहना होगा। दूसरी ओर हमारे यहां मनुष्य-शक्ति की कमी नहीं, यहाँ तो उसका यथेष्ट उपयोग करने की ही समस्या है, जिससे हर आदमी को काम अर्थात् आजीविका का साधन प्राप्त हो। बड़े-बड़े यन्त्रों से तो बेकारी बढ़ने वाली ठहरी। इस प्रकार यहां कुछ खास दशाओं में और बहुत परिमित सीमा तक ही उनका उपयोग किया जाना चाहिए।

अमरीका में यह अनुभव में आया है कि ट्रेक्टरों या बड़ी मशीनों की सहायता से खेती की उपज उस समय तो बहुत बढ़ जाती है, पर पीछे इस वृद्धि का परिमाण घट जाता है; वृद्धि को बनाये रखने के लिये या तो रासायनिक और खनिज खाद दिये जाते हैं, (जिन के विषय में हम आगे लिखेंगे) या

फिर उस भूमि को छोड़कर दूसरी नयी जमीन में खेती की जाती है। यह स्पष्ट ही है कि जिन देशों में भूमि कम है, और सारी भूमि पर निरंतर खेती होती है, वहाँ यह विधि उपयोगी नहीं हो सकती। ट्रेक्टरों से खेती की उपज में यदि कुछ वृद्धि होती है तो वह अस्थायी ही होती है, इसलिए दीर्घकालीन हित की दृष्टि से उनका उपयोग वांछनीय नहीं है।

वैज्ञानिक खेती की आवश्यकता—बहुधा यांत्रिक खेती और वैज्ञानिक खेती का भेद भुलाकर दोनों को एक ही समझ लिया जाता है। वास्तव में ये अलग-अलग हैं। वैज्ञानिक खेती वह है जिसमें इस बात का अच्छी तरह विचार रखा जाय कि अमुक फसल की पैदावार बढ़ाने के लिए किस प्रकार की भूमि तथा कैसी आबोहवा का क्षेत्र उपयोगी होगा; उसमें खाद कैसा, कितना और किस प्रकार दिया जाय; उसमें पानी कब और कितना देना ठीक होगा। इसके विपरीत, यांत्रिक खेती में खेती सम्बन्धी विविध प्रक्रियाओं को यंत्रों द्वारा करने पर जोर दिया जाता है, इसका मुख्य उद्देश्य मजदूरों को कम करना होता है (पैदावार बढ़ाना नहीं)। इस प्रकार वैज्ञानिक खेती यंत्रों के बिना भी हो सकती है। प्रत्येक देश में खेती वैज्ञानिक पद्धति से होने की जरूरत है। भारत में इस ओर यथेष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए।

खाद के सम्बन्ध में विचार—वर्तमान अवस्था में, अनेक स्थानों में प्राकृतिक खाद का यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता। भारत में खासकर गाँव में गोबर खूब होता है, परन्तु खाद के लिए उसके प्रायः उतने ही हिस्से का उपयोग किया जाता है, जो वर्षा ऋतु में मिलता है। शेष आठ-नौ माह तो गोबर के कंडे या उपले बनाये जाकर उनसे ईंधन का काम लिया जाता है। आवश्यकता है कि गाँवों के पास जंगल और चरागाह काफी हों, जिससे बस्ती की हवा शुद्ध होने के अतिरिक्त, लोगों को ईंधन और चारा यथेष्ट परिमाण में मिल सके; और गोबर जलाने की जरूरत न रहे।

इसके अलावा यह भी विचार करना चाहिए कि गाँवों में आदमी मल-मूत्र और कूड़ा-कचरा जहां-तहाँ छोड़ते रहते हैं, इससे हवा बिगड़ने और लोगों का स्वास्थ्य खराब होने के अतिरिक्त खेती बहुत से कीमती खाद से वंचित रहती है। हरेक बस्ती से बाहर गढ्ढे खोद कर शौचगृह बनवाने और उन्हीं में गोबर,

कूड़ा कचरा डालने की व्यवस्था होनी चाहिए। एक गड्ढे के भरने के बाद उसका खाद तैयार होने तक दूसरे गड्ढे का उपयोग किया जाय। इससे गांव की गन्दगी दूर होने के साथ बहुत उपयोगी खाद मुफ्त में ही मिल जाती है।

रसायनिक या खनिज खाद से सावधान !—याद रहे कि रासायनिक या खनिज खाद जमीन के लिए स्वाभाविक पोषक नहीं हैं। ये ज़मीन को कुछ हद तक उत्तेजित करते हैं, इससे पैदावार बढ़ जाती है, पर उस पैदावार में पोषक या स्वास्थ्यप्रद तत्व यथेष्ट परिमाण में नहीं होते।

इसलिए अनेक विशेषज्ञों का मत है कि रासायनिक या खनिज खाद का उपयोग बहुत सोच विचार कर, एक परिमित परिमाण में ही होना उचित है, अन्यथा लाभ के बदले हानि ही होगी। वास्तव में यह कार्य ऐसा ही है, जैसा सोने का अंडा देने वाली मुर्गी का पेट चीर कर एक साथ ही पूरा फायदा उठाने की चेष्टा से हमेशा होनेवाले लाभ से वंचित हो जाना।

बड़े पैमाने की और छोटे पैमाने की खेती—कुछ आदमी बड़े पैमाने की खेती पर बहुत जोर दिया करते हैं। भारत में इसकी उपयोगिता सीमित ही है। इस प्रसंग में श्री किशोरलाल मश्रूवाला का निम्नलिखित कथन विचारणीय है :—

'किसी का छोटे पैमाने पर की जाने वाली खेती में विश्वास हो या न हो, आज के हिन्दुस्तान में तो अनाज की पैदावार का वही एक मुख्य जरिया है। बड़े पैमाने की खेती का दायरा व्यापारी फसलों तक ही सीमित रहे, उसे अनाज की फसलों की होड़ में उतरने का मौका नहीं मिलना चाहिए। अगर उससे अनाज भी पैदा करना हो तो वह काम खुद सरकार को ही करना चाहिए।'

इसी प्रकार श्री विनोबा ने कहा है कि—

'भूमि व्यवस्था को हल करने के लिए हमें रूस व अमरीका की नकल नहीं करनी बल्कि चीन की करनी है। अमरीका में प्रति व्यक्ति १५ एकड़ से भी अधिक भूमि उपलब्ध है और रूस में तो उसका औसत और भी बड़ा है, पर भारत में जितनी भूमि है वह सब को बराबर बाँट

भी दी जाय तो एक या सवा एकड़ से ज्यादा का औसत यहाँ नहीं पड़ता। इसलिए यहाँ न तो रूस का सामूहिकवाद चल सकता है, न अमरीका का यांत्रिक-खेतीवाद। * * * मेरा अनुभव है कि छोटे खेतों में, जिसकी किसान स्वयं पूरी देख-भाल कर सकता है, उत्पादन का औसत अधिक होता है। हाल ही में भारत सरकार ने जो अधिक अन्न उत्पादन प्रतियोगिता की थी, उससे पता चला कि एक एकड़ भूमि में एक किसान ने अपना ध्यान तथा मेहनत केन्द्रित कर १५० मन धान उत्पन्न कर संसार का रेकार्ड तोड़ा, यद्यपि संसार में उसकी भूमि से अधिक उपजाऊ भूमि तथा साधन उपलब्ध थे। यदि वह एक एकड़ के स्थान पर सौ एकड़ की खेती करता तो यह औसत कभी नहीं पड़ सकता था, क्योंकि एक तो उसके पास इतना समय न होता, जो सारे खेत की देखभाल तथा मेहनत में लगा सके और दूसरे उसके पास इतनी बड़ी जोत के लिए खाद व अन्य खर्चों की पूंजी भी नहीं हो सकती थी, और, जिसके पास पूंजी होती और जो नौकरों से काम लेता वह इतना काम करा नहीं सकता, जितना कि वह खुद कर सकता।

विशेष वक्तव्य—सहकारी पद्धति से खेती करने से कई बातों में किफायत होती है, और पैदावार बढ़ती है। पर भारत की वर्तमान स्थिति में याह लाभकारी नहीं हो रही है। श्री विनोबा का इरादा प्रारम्भ में इसी पद्धति का समर्थन करने का था। पर तेलंगाना में विचार और अनुभव के बाद उन्हें यह सामयिक नहीं लगा। उनका मत है कि सहकारिता का प्रयोग तभी सफल हो सकता है, जब वह युक्ति और गणित से किया जाय। जिन लोगों को सहकारिता का अभ्यास नहीं है, और हिसाब-किताब का यथेष्ट ज्ञान नहीं है, उन पर यह चीज लादना ठीक न होगा। हां, आगे जाकर छोटे-छोटे हिस्सों की जमीन वाले किसानों में कई बातों में सहकार हो सकता है; जैसे दस-पांच परिवार मिलकर बैलों की जोड़ियां रख सकते हैं। हरेक किसान अलग-अलग रखवाली करे, इसके बजाय वह काम सहकार से किया जा सकता है। फिर जमीन के साथ ग्रामोद्योग भी रखने की जरूरत तो है ही। ग्रामोद्योगों के विषय में आगे लिखा जायगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

ग्रामोद्योग

लोग पूछते हैं कि छोटी-छोटी बातों से क्या होना है, यह जमाना महत् परिणामों के लिए काम करने का है। ग्रामोद्योगों में जब करोड़ों हाथों का उपयोग हो सकता है, और करोड़ों लोगों का पेट भर सकता है, तब यह काम छोटा कैसे माना जा सकता है!

—विनोबा

साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारा यह ध्येय होना चाहिए कि अपने ग्रामों और घरों में अपने कुटुम्ब के साथ रह कर कारीगर उत्पादन का कार्य करे। इसी नीति में मुझे मानवता और नैतिकता की रक्षा दिखायी देती है।

—पुरुषोत्तमदास टंडन

ग्रामोद्योग किसे कहते हैं?—ग्रामोद्योग से ऐसे उद्योग का आशय है, जिसके द्वारा बनने वाली चीजों का उत्पादन, विनिमय और उपयोग बहुत-कुछ गाँव के भीतर ही हो जाय। उदाहरण के तौर पर मिट्टी के बर्तनों को लें। ये गाँव में बनते हैं, वहीं उनका अदलबदल या खरीद-बेच होती है, और वहीं वे काम में लाये जाते हैं। खेती, पशु-पालन, हाथ-चक्की, तेलघाणी; चर्खा, कर्घा, चमारी, कुम्हारी आदि के धन्धे ऐसे व्यापक और विराट उद्योग हैं, जो हरेक गाँव में फैले हुए हैं; जो गाँव की अर्थ-व्यवस्था और गाँव के जीवन के मूल आधार हैं। इनमें काम आने वाला कच्चा माल स्थानीय होता है। ये उद्योग फैशन और विलासिता, सजावट और प्रदर्शन की वस्तुएँ उत्पन्न नहीं करते, बल्कि बहुत बड़े परिमाण में दैनिक आवश्यकताओं की अनिवार्य वस्तुओं का उत्पादन करते हैं।

ग्रामोद्योग प्रत्येक परिवार को स्वावलम्बी बनाने के लिए नहीं होते। वास्तव में कोई परिवार अपने जीवन-निर्वाह के लिए पूरे तौर से स्वावलम्बी हो भी नहीं सकता। अस्तु, ग्रामोद्योगों का लक्ष्य यही होता है, और हो सकता है कि एक गाँव या दो-चार या पांच-दस गाँवों के क्षेत्र की एक-एक इकाई आत्म-निर्भर या स्वावलम्बी हो। इस प्रकार इस अर्थ में भी ये उद्योग ग्रामोद्योग होते हैं।

गांधी जी के विचार—भारत के ग्रामोद्योग के सम्बन्ध में गांधी जी के कुछ विचार श्री मश्रूवाला के शब्दों में ये हैं—

हिन्दुस्तान में खेती और उद्योग एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते बल्कि खेती के साथ कोई भी दूसरा धन्धा अवश्य होना चाहिए।

सहायक धन्धे में नीचे लिखी अनुकूलतायें होना चाहिए—

(अ) वह मुख्य धन्धे यानी खेती के अनुकूल होना चाहिए। उसके लिए खेती बिगाड़नी पड़े, ऐसा न होना चाहिए। (आ) अतः यह धन्धा ऐसा होना चाहिए कि मुख्य धन्धे को बिना कोई नुकसान पहुँचाये चलाया जा सके। (इ) इसके सिवाय इस धन्धे का रूप नौकरी का नहीं बल्कि स्वतन्त्र श्रम का होना चाहिए। (ई) इन्हीं कारणों से इस धन्धे में यंत्र अथवा माल के लिए इतनी पूंजी की आवश्यकता न होनी चाहिए कि वह निर्धन जनता की सामर्थ्य से बाहर हो। (उ) यदि करोड़ों जनों को उसे अपनाने की सलाह देना है तो यह धन्धा ऐसा होना चाहिए कि इसका माल आसानी से खपाया जा सके अर्थात् यह सार्वजनिक उपयोग की वस्तु हो।

कुटीर उद्योग और गृह उद्योग—इस प्रसंग में यह जान लेना चाहिए कि कुटीर उद्योग और गृहोद्योग का क्या अर्थ है और इन उद्योगों में और ग्रामोद्योगों में क्या अन्तर है। कारण कुछ लोग इन तीनों शब्दों में विशेष भेद नहीं करते और इनका उपयोग कुछ मिले जुले अर्थ में कर लेते हैं। अस्तु, कुटीर उद्योग में यह आवश्यक नहीं है कि उसके लिए कच्चा माल स्थानीय ही हो; जैसे गटापार्चा या प्लास्टिक बाहर से मंगा कर उसके खिलौने बना लिये जाते हैं। ये चीजें प्रायः ऐसी होती हैं कि आदमी अपने फुरसत के समय बना सके, और धनवानों या शौकीनों के काम आयें। इन्हें अपने यहाँ बेचने के

अलावा विदेशी बाजारों में भी भेजा जा सकता है। यंत्रोद्योगों में काम आने वाले सरल छोटे-छोटे पुर्जे बनाने या उन्हें ठीक ढंग से बैठाने का काम भी घरों में किया जाने की दशा में कुटीर उद्योग कहलाता है। उदाहरण के लिए घड़ी, फाउन्टेनपेन या तालों आदि के उद्योगों की कुछ क्रियाएँ कुटीर उद्योग के रूप में होती हैं।

गृहोद्योग अधिकतर ऐसे उद्योग हैं, जिनका काम घर वाले, खासकर स्त्रियाँ कर लेती हैं। बेल-बूटा, सिलाई या मौजे, स्वेटर और बनयान आदि की बुनाई का काम, जाली का काम और मुरब्बे, अचार, पापड़ आदि इनके कुछ उदाहरण हैं। इन चीजों का उपयोग प्रायः घर में ही हो जाता है।

ग्रामोद्योगों का महत्व, समाज-संगठन—ग्रामोद्योगों में उत्पादक और उपयोक्ता में प्रत्यक्ष या सीधा सम्पर्क रहता है। किसान, कारीगर, धोबी, चमार, जुलाहा, तेली, दर्जी आदि एक दूसरे को जानते हैं। उनके अच्छे कार्यों की प्रशंसा, और खराब काम की आलोचना होती है। उन पर लोकमत का प्रभाव पड़ता है, और उन्हें अच्छे व्यवहार की प्रेरणा मिलती है। हरेक आदमी अपनी कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे को आजीविका का काम देकर उसकी ऐसी सहायता करता है, जिससे न तो देनेवाले में अहंकार आता है, और न लेने वाले में कुछ दीनता आती है। दोनों समान धरातल पर रहते हैं। इस प्रकार ग्रामोद्योगों से समाज एक स्वस्थ और स्थायी आधार पर संगठित होता है, जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्यों की भी उन्नति होता है, और सब मिल कर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

शोषण का अभाव और स्वावलम्बन—ग्रामोद्योग में श्रमी स्वतन्त्र और स्वावलम्बी होता है, वह दूसरों पर निर्भर नहीं रहता। वह साधारण औजारों से काम करता है, जिनका मालिक वह खुद ही होता है। उत्पादन का पूरा लाभ उसे ही मिलता है, कोई दूसरा व्यक्ति अर्थात् पूँजीपति उसके द्वारा होने वाली आय के किसी अंश का अपहरण नहीं कर सकता; कारण, उसका इसमें कोई स्थान ही नहीं होता। इस प्रकार ग्रामोद्योग पद्धति में शोषण की गुंजाइश नहीं होती।

हिसाब से मालूम हुआ है कि भारत के सूती कपड़े के कारखानों में बिके माल की कीमत का केवल बीस-बाईस प्रतिशत ही मजदूरी का भाग होता है, जबकि खादी में इस भाग का अनुमान ६० से ७० प्रतिशत तक होता है। वास्तव में ग्रामोद्योगों में वस्तु के मूल्य में, कच्चे माल तथा यातायात का व्यय और दुकानदार का साधारण पारिश्रमिक निकल कर शेष सब मजदूरी ही होती है, उसमें मुनाफे का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्रमियों की स्वतन्त्रता—ग्रामोद्योग में श्रमी किसी के अधीन नहीं होता, वह स्वयं अपना मालिक होता है। उसे जब जरूरत हो, उसकी तबियत ठीक न हो, बाल-बच्चों की सारसंभार करनी हो, या घर का कोई काम करना हो, अथवा किसी अतिथि का स्वागत-सत्कार आदि करना हो, या किसी की विवाह शादी या मृत्यु-संस्कार आदि में भाग लेना हो तो वह अपने काम से सहज ही अवकाश ले सकता है। यंत्रोद्योग पद्धति में यह बात कहाँ!

मनुष्य का विकास—ग्रामोद्योगों में आदमी पूरी चीज बनाता है, वह उस चीज के विविध हिस्सों का पारस्परिक सम्बन्ध जानता है, और उनका एक-दूसरे से मेल बैठाता है। इसमें उसे अपनी बुद्धि का उपयोग करना होता है। इससे स्वभावतः उसका विकास होता रहता है। यंत्रोद्योगों में यह बात नहीं होती। आदमी यंत्र के द्वारा किसी वस्तु के छोटे से भाग को बनाता रहता है, अथवा यों कहें कि वह उसमें काम आने वाली सैकड़ों क्रियाओं में से किसी एक को करने में लगा रहता है; असल में वह क्रिया तो मशीन से होती है, आदमी केवल उसकी देख-रेख या सार-संभार करता है, उसे अपनी सूझ-बूझ से काम लेने का अवसर नहीं मिलता। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में कारीगरी का जो थोड़ा-बहुत माद्दा होता है, वह यंत्रोद्योग में समाप्त हो जाता है। मनुष्य के विकास की विशेष गुंजायश ग्रामोद्योगों में ही है।

बेकारी का हल—भारत में लगभग सत्तर फीसदी आदमियों का धंधा खेती है, और ये साल में कुल मिलाकर कई-कई माह बेकार रहते हैं। इनके अलावा दूसरे आदमियों में भी बेकारी है ही। छत्तीस करोड़ आबादी वाले इस देश की इतनी बड़ी जनता को रोजगार देने के लिए यंत्रोद्योग कदापि सफल

नहीं हो सकते। वास्तव में यंत्रोद्योगी व्यवस्था इतनी मंहगी है कि उससे यहाँ के कार्यशील लोगों में से बहुत थोड़े सों को ही काम दिया जा सकता है। यह इसी से स्पष्ट है कि भारत के यंत्रोद्योगों में बहुत नीचे अनुमान के अनुसार भी लगभग पाँच सौ करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है, और उनका विकास बहुत वर्षों से हो रहा है तो भी उनमें काम करने वालों की कुल संख्या तीस लाख से अधिक नहीं है। इस प्रकार यंत्रोद्योगों से यहां के करोड़ों आदमियों को काम कैसे दिया जा सकता है। यहां बेकारी की समस्या का हल ग्रामोद्योगों को अपनाने से ही हो सकता है। यही कारण है कि गांधी जी जन्म-भर ग्रामोद्योगों के विस्तार और वृद्धि के लिए आन्दोलन करते रहे। श्री जवाहरलाल नेहरू ने भी, जो यन्त्रवाद के काफी जोरदार पक्षपाती हैं, भारत की स्थिति देखते हुए व्यापारियों को कहा था :—

'औद्योगीकरण हम कितना ही शीघ्र क्यों न बढ़ायें फिर भी हम अपने लाखों करोड़ों लोगों को उसमें कैसे काम दे सकेंगे, यह मेरी समझ में नहीं आता। हमारे कारखानों में बहुत हुआ तो दो करोड़, तीन करोड़ या उससे कुछ अधिक लोग काम करेंगे, फिर भी जो बचेंगे, उनका क्या? जब तक आप गृह-उद्योग यानी छोटे पैमाने पर या सहकारी पद्धति से चलने वाले उद्योग खड़े करके बेकारों से काम नहीं लेंगे तब तक आप उनका पूरा उपयोग नहीं कर सकेंगे।'

विकेन्द्रीकरण, लोकराज्य और अहिंसात्मक समाज—ग्रामोद्योग पद्धति की एक विशेषता विकेन्द्रीकरण है। इसमें सैकड़ों या हजारों आदमी किसी उच्च अधिकारी के आदेशों का आँख मीचकर पालन करनेवाले नहीं होते। इसमें तो आदमी अपने परिवार के सदस्यों के साथ अथवा सहकारी पद्धति से दूसरे व्यक्तियों के साथ काम करता है। सब का प्रेम-पूर्वक सहयोग होता है, किसी की दूसरों पर हकूमत नहीं होती। इस प्रकार ग्रामोद्योगों से लोक-राज्य के अनुकूल परिस्थितियाँ बनती हैं और उसका उत्तरोत्तर विकास होता है।

वर्तमान हिन्सात्मक समाज की जगह हम अहिन्सात्मक समाज की स्थापना करना चाहते हैं तो उसकी सम्भावना विकेन्द्रीकरण-नीति से ही हो सकती है।

गांधीजी ने १६३६ में लिखा था—

'मेरा कहना है कि यदि भारत को अहिन्सात्मक समाज की ओर बढ़ना है तो उसे कई पदार्थों का विकेन्द्रीकरण करना पड़ेगा। केन्द्रीभूत पदार्थों की स्थिरता तथा सुरक्षा पर्याप्त बाहुबल के बिना नहीं की जा सकती। आप अहिन्सा का निर्माण बडी मिलों (केन्द्रित उत्पादन) की सभ्यता पर नहीं कर सकते, उसका निर्माण स्वावलम्बी गांवों के आधार पर हो सकता है।'

युद्ध-स्थिति की दृष्टि से ग्रामोद्योगों का महत्व—वर्तमान काल में युद्ध इस युग का सत्य बना हुआ है। इसलिए अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में सैनिक दृष्टि से भी सोचना जरूरी है। अगर हम जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यंत्रोद्योगों या औद्योगिक केन्द्रों पर निर्भर रहेंगे तो युद्धकालीन स्थिति में हम अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त करने वाले होंगे। जनता के जीवन को प्रचंड हवाई तथा अन्य आधुनिक हमलों से सुरक्षित रखने का एक-मात्र उपाय यही है कि हमारे उद्योग-धंधे केन्द्रित न हों, क्योंकि औद्योगिक केन्द्रों में मिलों और कारखानों में बम वर्षा कर उन्हें एकदम नष्ट-भ्रष्ट किया जा सकता है। ग्रामोद्योग ही, एटम बम के युग में, डटे रहने का साहस कर सकते हैं।

ग्रामोद्योग और यंत्र—अकसर यह पूछा जाता है कि क्या ग्रामोद्योगों में बिजली या अन्य शक्ति से चलने वाले यंत्रों से काम लेकर उनमें लगने वाले श्रम और समय की बचत न की जाय। इस सम्बन्ध में हम याद रखें कि ग्रामोद्योगों का लक्ष्य गाँव वालों को स्वावलम्बी जीवन बिताने योग्य बनाना है। इसलिए किसी ग्रामोद्योग में कठोर श्रम बचाने वाले ऐसे साधारण छोटे यंत्र का उपयोग करने में हर्ज नहीं है, जो उसे चलाने वाले व्यक्ति या परिवार के अधिकार और स्वामित्व में हो, जो उसे चलाने वाले पर हावी न हो जाय, और जो श्रमियों को बेकार करने वाला अथवा उन्हें आलसी या परमुखापेक्षी बनाने वाला न हो। इस प्रकार किसी गाँव में बिजली से चलने वाले किसी यंत्र का उपयोग करना तभी ठीक होगा, जब उसका उत्पादन स्थानीय क्षेत्र में हो सके, और उसके लिए दूर-दूर के केन्द्रों पर निर्भर न होना पड़े।

यंत्रों के युग में ग्रामोद्योग क्यों ? ग्रामोद्योगी चीजें महंगी हैं !—ग्रामोद्योगों को लक्ष्य करके कहा जाता है कि 'पुराने जमाने की बातों में क्या धरा है ! अब विज्ञान और यंत्रों का युग है। जब कारखानों में बनी सस्ती चीजें मौजूद हैं तो ये महंगी चीजें खरीदना बेवकूफी है।' महंगाई के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें विचारणीय हैं—

(१) मिलों को कई प्रकार से सरकार द्वारा सहायता मिलती है; जैसे रूई को साफ और सुन्दर बनाने के लिए सरकार द्वारा अन्वेषण किये जाते हैं, उनके खर्च का भार जनता पर ही पड़ता है। रूई को उत्पत्ति-स्थान से मिलों तक पहुँचाने और फिर मिलों के बने कपड़े को जहां-तहां भेजने के लिए रेल (और डाक तार आदि) की व्यवस्था करने में जो खर्च पड़ता है, वह भी जनता से ही वसूल किया जाता है। मालिक तथा मजदूरों के झगड़े निपटाने के लिए भी सरकार काफी रुपया खर्च करती है। मिल-मालिकों को जमीन कम कीमत में, तथा पूंजी कम सूद पर मिलती है। ये सब सुविधाएँ ग्रामोद्योगों को मिलें तो वे कितने सस्ते हो जायं !

(२) कारखानों में तैयार होने वाले माल के लिए बाजार सुरक्षित रखने होते हैं, इसमें प्रतिस्पर्द्धा होने से युद्ध की तैयारी रखनी पड़ती है, अर्थात् संहारक अस्त्र बनाये जाते हैं। यह सब खर्च कारखानों पर डाला जाय तो साफ मालूम हो जाय कि उनका माल सस्ता नहीं होता।

(३) मिलों और कारखानों का सस्ता माल खरीद कर हम अपने अनेक भाई-बहनों का जीवन सस्ता बना देते हैं। कितने ही आदमी बेकारी से निराश होकर अपनी तथा अपने परिवार वालों की हत्या करते हैं और कितनी ही औरतें वेश्या-वृत्ति करने को मजबूदूर हो जाती हैं।

(४) कल-कारखानों में सौ आदमी काम करते हैं तो उनसे हजारों की आजीविका छिन जाती है। ये बेकार आदमी राष्ट्र के लिए भयंकर भार होते हैं। इनमें से कुछ लोग चोरी या लूट-मार करते हैं, इसलिए राज्य का पुलिस और जेल सम्बन्धी खर्च बढ़ जाता है। ये लोग अस्वस्थ और रोगी रहते हैं, इससे बस्ती में बीमारी फैलती है, इसकी रोक-थाम के लिए भी सरकार को प्रबन्ध और खर्च करना पड़ता है। जनतंत्री सरकारों का यह भी कर्त्तव्य होता है कि

राज्य में किसी को भूखा-नंगा न रहने दें। इसलिए राज्य में बेकारों की संख्या बढ़ने पर सरकार को उनके भरण-पोषण के लिए आर्थिक सहायता देनी होती है। यह सब खर्च सरकार जनता से करों या चन्दों के रूप में वसूल करती है।

जो लोग खादी और ग्रामोद्योगी वस्तुओं को महंगी समझ कर इस्तेमाल नहीं करते, वे इन सब बातों का विचार करें। अपने उपयोग के लिए वे जो कारखानों की 'सस्ती' चीजें खरीदते हैं, वे उन्हें वास्तव में कितनी महंगी पड़ती हैं। यह भी सोचना चाहिए कि ग्रामोद्योगों के द्वारा हम अपने भाई-बहिनों की भूख प्यास मिटाते हैं, उन्हें बेकारी से होने वाली बे-आयी मौत से बचाते हैं। मिल की चीज खरीदने हमें उसकी सीधी कीमत चाहे कम देनी पड़ती हो, परन्तु केन्द्रित एवं पूँजीवादी उत्पादन-पद्धति के कारण जो भ्रष्टाचार, अनैतिकता, रोग एवं असामाजिक प्रवृत्तियाँ आदि फैलती हैं उन सबका हिसाब लगाया जाय तो ग्रामोद्योगी वस्तुएँ हमारे लिए आर्थिक, सामाजिक और नैतिक सभी दृष्टियों से निश्चित रूप से अत्यधिक सस्ती पड़ेंगी।

ग्रामोद्योग का अर्थशास्त्र—खासकर गाँव वाले अपने-अपने गाँव की बनी चीजों का उपयोग करें तो वे आपस में प्रेम और सहयोग बढ़ाते हुए, गाँव के जीवन को अधिक मधुर और गतिशील बनाने में सहायक होते हैं। उनके लिए एक दूसरे की चीजें किसी प्रकार महंगी हैं ही नहीं। यह श्री विनोबा के आगे दिये कथन से अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगा—'गाँव में चमार है। वह जूता बनाता है तो उसका जूता हम नहीं खरीदेंगे और बाहर का खरीदेंगे तो गाँव का चमार मर जायगा। ....लेकिन हम कहते हैं कि हमारे गाँव के चमार का जूता, तेली का तेल, बुनकर का कपड़ा महंगा है। इस तरह अगर गाँव के चमार का जूता, तेली का तेल, बुनकर का कपड़ा, गाँव का गुड़ और गाँव की (अन्य) चीजें हमें महंगी लगेंगी तो हम जी नहीं सकेंगे। हम महंगा-महंगा कहते हैं, लेकिन वास्तव में वह महंगा नहीं है। गाँव के तेली का तेल उसी गाँव का चमार खरीदता है और चमार का जूता तेली खरीदता है तो इसका पैसा उसके घर में जाता है और उसका पैसा इसके घर में जाता है। हम अपने घर की लड़कियाँ दूसरों के घर देते हैं, और उनकी लड़कियाँ अपने घर

लेते हैं। क्या यह सौदा महंगा पड़ता है। इसी तरह अगर तेली का पैसा चमार के घर और चमार का पैसा तेली के घर जाता है तो किस का नुकसान होता है! इस तरह जिसे आप महंगा कहते हैं, वह महंगा नहीं है, बल्कि उस पर ही हमारे गाँव का जीवन चलता है।' *

अन्यत्र विनोबा ने कहा—'कोई पूछेगा कि क्या इस युग में तेलघानी चलेगी? अरे मूर्ख! हिन्दुस्तान में तेलघानी नहीं चली तो तिलहन के बदले यहाँ मजदूर ही पेरे जायंगे।' ×

इस लिए यदि हम चाहते हैं कि हमारे करोड़ों श्रमी भाई बहिनों का जीवन दुखमय न हो तो खासकर खाने पहनने आदि के रोजमर्रा काम आने वाले पदार्थ तो ग्रामोद्योगों से ही बने, उपयोग किये जाने चाहिएँ।

ग्रामोद्योगों से ग्राम-सुधार—गांवों की आर्थिक तथा अन्य उन्नति के विषय में नीचे लिखे तीन दृष्टिकोण हैं; इनमें से तीसरा अर्थात् ग्रामोद्योग और ग्राम-स्वावलम्बन ही सब से उत्तम है—

(१) गाँवों को शहरों में स्थित मिलों और कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा करने वाला समझ कर उनकी सारी अर्थव्यवस्था को नगर-निवासियों की आवश्यकताएँ पूरी करने की दृष्टि से ही बनाना। इस तरीके को काम में लाने से गाँवों को उन्नत करने की बात ही गौण पड़ जाती है, शहरों के हितों के लिए उनका बलिदान या शोषण होता है।

(२) गाँवों की आबादी को खासकर उपयोक्ता मान कर उन्हें नगरों के उत्पादन के लिए बाजार समझना। अंगरेजों के शासन-काल में विदेशी कल-कारखाने वालों ने गाँवों में अपना माल खपा कर भरसक नफा कमाया; अब उनकी जगह भारतीय कारखाने वाले ऐसा करें तो गाँव वाले अपने उद्योग चला कर स्वावलम्बी होने के अवसर से पहले की ही तरह वंचित रहें।

(३) गाँव को अधिक से अधिक स्वावलम्बी इकाई मान कर वहां के निवासियों को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने की सुविधाएँ देना। गांव में खेती तो होती

---

* 'सर्वोदय यात्रा'

× 'सन्त विनोबा की आनन्द यात्रा।'

ही है, वे अपने पैदा किये हुए कच्चे माल का वहां ही उपयोग करते हुए तरह-तरह के उद्योग धंधे चलायें तो वहां वालों को आजीविका के साधन भी मिल जायें, और उनके मन से आर्थिक परावलम्बन की बात दूर होकर वे हीनता की भावना से छुटकारा पायें। इस पद्धति से ही उनमें नये जीवन का संचार होगा, और वे स्वाभिमान पूर्वक अपना मस्तक ऊंचा रख सकेंगे।

ग्रामोद्योगों का क्षेत्र—ग्रामोद्योगों की उन्नति के लिए इनका क्षेत्र निर्धारित और सुरक्षित होना आवश्यक है। ग्रामोद्योग का मूल सिद्धान्त यह है कि उसके द्वारा बनने वाली चीजें ऐसी ही हों, जिनकी गाँव वालों को जरूरत हो, इसलिए ग्रामोद्योगों के वास्ते हमें जनता की प्रमुख या बुनियादी जरूरतों के विषय में विचार करना चाहिए। उदाहरण के लिए खेती, धान कूटना, आटा पीसना, गुड़ बनाना, तेल पेरना आदि खाद्य पदार्थों के लिए ग्रामोद्योगों को ही अपनाना और प्रोत्साहन देना चाहिए। उसी तरह कपड़ा भी चर्खे से कते और कर्घे से बुने सूत का बनाया जाना चाहिए। यदि रोजमर्रा के उपयोग की चीजों के उत्पादन में बिजली आदि का उपयोग करना ही पड़े तो उसका उत्पादन और नियंत्रण भी विकेन्द्रित ढंग से किया जाय। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वे धंधे गांवों के लिए सुरक्षित कर दिये जाने चाहिएं, जिनसे बनने वाली चीज़े मनुष्य की मूल आवश्यकताओं में से हों तथा जिनके लिए कच्चा माल गाँवों में मौजूद हो। गाँवों से उसी तथा उतने ही कच्चे माल का शहरों में निर्यात हो, जिसका तैयार माल वहां न बन सके या जिसके बने तैयार माल की उन्हें आवश्यकता न हो। श्री विनोबाने कहा है—

'देहातियों के जो उद्योग हैं, वे उनके हाथ में रखने चाहिए। देहात के कुछ उद्योग ऐसे हैं जो उनके हक के हैं। वे अगर उनसे कोई छीन लेगा तो उसके खिलाफ बगावत करनी चाहिए और कहना चाहिए कि ये हमारे उद्योग हैं, हम नहीं छोड़ेंगे। जिन उद्योगों का कच्चा माल देहात में होता है, उनका पक्का माल करने का उद्योग देहात में ही होना चाहिए।'*

---

*'सर्वोदय यात्रा'।

ग्रामोद्योग का संरक्षण; मिल-उद्योग का वहिष्कार—ग्रामोद्योगों की उपयोगिता और महत्व का विचार करके कहीं-कहीं कुछ आदमी इनका प्रचार करते हैं, और सरकार भी इनकी सहायता करके इन्हें प्रोत्साहन देती है परन्तु इससे इनका यथेष्ट संरक्षण नहीं होता। इसके लिए तो लोक-हितैषी सज्जनों को दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि कम से कम अपने खाने और कपड़े के मामले में मिल-उद्योग का वहिष्कार कर केवल ग्रामोद्योग की चीजों का ही उपयोग करेंगे और देश भर की जनता में ऐसा संकल्प करने का आन्दोलन चलायेंगे। जब तक देहाती जनता यंत्रोद्योगों का वहिष्कार नहीं करेगी, उसका उत्थान नहीं होगा; कहीं-कहीं कुछ फुटकर कार्य भले ही हो, ग्रामोद्योगों के संरक्षण में विशेष सफलता नहीं मिल सकती। जैसा कि श्री धीरेन मजूमदार ने कहा है, इस विषय में 'हमें मनुष्य की तात्कालिक मानसिक स्थिति का भी ध्यान रखना होगा। अगर बाजू के खेत में ट्रेक्टर चले तो जिसके पास साधन नहीं है, उसे हल चलाने में रुचि नहीं होगी, क्योंकि साधन-विहीन होने के साथ-साथ उसके मानस पर निराशा का असर पडेगा और इसलिए वह खाली रह कर भूखा रह सकता है पर हल नहीं चलायेगा'। जिस गांव में हजार गज कपड़े की आवश्यकता है, उसमें मिल का सस्ता कपड़ा ५०० गज पहुँच जाय तो तामसी वृत्ति होने के कारण गांव वाले उनके पास खाली समय होते हुए भी अर्द्ध-नग्न हालत में रहकर बीसों साल तक अधिक तादाद में मिल का कपड़ा आने की इन्तजार में बैठे रहेंगे, लेकिन श्रम करके कपड़ा पैदा नहीं करेंगे।'*

अस्तु, खासकर भोजन-वस्त्रादि की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमें यंत्रोद्योगों को ग्रामोद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा करने का अवसर न देना चाहिए और यथा सम्भव यंत्रोद्योगों के वहिष्कार की नीति अपनानी चाहिए। गांधीजी ने अब से आधी शताब्दी पूर्व (सन १६०८ में) अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में लिखा था—'देश में मिलें बढ़ने पर खुश होने की कोई जरुरत नहीं है। मिल मालिकों का हम तिरस्कार नहीं करते। यह तो सम्भव नहीं कि वे एकाएक मिल छोड़ देंगे, लेकिन उनसे यह प्रार्थना जरूर कर सकते हैं कि वे इन्हें और

---

* 'सर्वोदय' मार्च १६५१

न बढ़ावें। परन्तु मिल मालिक ऐसा करें या न करें लोग खुद ही कारखानों में बनी चीजों का इस्तेमाल करना बन्द कर सकते हैं। यह सम्भव नहीं कि ये बातें सभी आदमी एक साथ करने लगेंगे। पहले इरादा पक्का करने की जरुरत है, फिर उसके अनुसार काम होगा। पहले एक ही आदमी ऐसा करेगा, फिर दस, उसके बाद सौ, इस तरह बढ़ते जायंगे।'

ग्रामोद्योगों की सहायता के कार्य—ऊपर ग्रामोद्योगों के संरक्षण और मिल-उद्योगों के वहिष्कार की बात कही गयी है। ग्रामोद्योगों की सहायता के लिए खासकर नीचे लिखे कार्य किये जाने चाहिएँ—

१—उन्हें सहकारी संस्थाओं या सरकारी गोदामों से कच्चा माल मिलने की सुविधा हो, उसका भुगतान तैयार माल अथवा किस्तों में हो सके।

२—उन्हें अनुकूल शर्तों पर आवश्यक पूंजी दी जाय।

३—बिजली से चलने वाले उद्योगों के लिए बिजली देने की यथेष्ट और सुविधाजनक व्यवस्था हो।

४—उनके तैयार माल की बिक्री की सहकारी संस्थाओं या सरकारी गोदाम द्वारा यथेष्ट व्यवस्था हो।

५—उनके लिए अनुसंधान केन्द्र जगह-जगह खोले जायँ।

६—बड़े कारखाने उन्हीं वस्तुओं के खोले जायँ, जो ग्रामोद्योगी पद्धति से तैयार न हो सकें। उसका क्षेत्र सीमित तथा निर्धारित रहे।

७—राज्य अपनी विविध विभागों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ग्रामोद्योगी वस्तुओं को प्राथमिकता दें।

८—कारीगरों की औद्योगिक शिक्षा की यथेष्ट व्यवस्था हो; सर्वसाधारण की शिक्षा में इसे समुचित स्थान मिले।

ग्रामोद्योगों के अपने पावों पर खड़े होने की बात—ग्रामोद्योगों के संरक्षण और सहायता की बात कुछ लोगों को ठीक नहीं जँचती और सरकार जब उन्हें थोड़ा-बहुत संरक्षण देती है तो प्रायः अधिकारी यह कह दिया करते हैं कि आखिर तो ग्रामोद्योगों को स्वावलम्बी होना चाहिए। इस पर हमारा निवेदन है कि जनकोष से सरकार द्वारा बड़े कारखानों को करोड़ों रुपये की सहायता

बराबर मिलती रही है, उसके बिना वे विदेशी माल के मुकाबिले में नहीं टिक सकते थे। आज भी उन्हें कई प्रकार के संरक्षण या सहायता की जरूरत बतायी जाती है। उदाहरण के लिए उत्तर-भारत के चीनी उद्योग की बात लीजिये। पिछले वर्षों में इसे सरकार की भारी सहायता मिलती रही है तो भी इस उद्योग वालों का कथन है कि चीनी मिल चलाना कठिन हो गया है, चीनी के उत्पादन पर शुल्क तथा उप-कर में रियायत होनी चाहिए, और भी सहूलियतें तथा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। सरकार भी इस उद्योग को बनाये रखने के लिए उनकी बातों पर बहुत सहानुभूति से विचार करने को उत्सुक रहती है, और उन्हें भरसक सहायता देती रहती है। अभी हाल की बात है कि एक उद्योगपति को जो मिल खोलने के लिए लगभग एक करोड़ रुपया लगायेंगे, सरकार ने चालीस लाख रुपये तक ऋण देने और वित्तीय निगम से भी धन दिलाने का निश्चय किया है। इसके अतिरिक्त उनकी मिल को मिलने वाले ईख की कीमत मामूली कीमत से कम रहेगी।

जबकि सरकारी कोष से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इन बड़े-बड़े, करोड़ों रुपयों से चलने वाले शक्तिशाली कारखानों के लिए सरकार का अरबों का व्यय होता है तो कोई वजह नहीं कि करोड़ों व्यक्तियों के जीवन के आधार बने हुए ग्रामोद्योगों को, जो इन मिलों की होड़ में अधमरे हो रहे हैं पर्याप्त संरक्षण न दिया जाय।

ग्रामोद्योग और उत्पादन वृद्धि—कुछ आदमी कहते हैं कि उत्पादन का परिमाण बढ़ाने के लिए कल कारखानों को बढ़ाना चाहिए। यह ठीक है कि आदमी मशीन की सहायता से साधारण हाथ-श्रमी की अपेक्षा अधिक उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार मशीनों से प्रति व्यक्ति कार्य का अनुपात अधिक रहता है, परन्तु हमें तो प्रति व्यक्ति विचार न कर कुल देश की दृष्टि से विचार करना चाहिए। बड़ी जनसंख्या वाले देशों में यंत्रोद्योगों में तो बहुत थोड़ी ही जनता लगायी जा सकती है। पहले बताया जा चुका कि भारत में बहुत वर्षों के प्रयत्न के बाद भी केवल तीस लाख आदमी यंत्रोद्योगों में काम करते हैं। मानलो इनमें से प्रत्येक द्वारा होनेवाला उत्पादन हाथ-कारीगर की अपेक्षा तिगुना-चौगुना है परन्तु भारत में तो करोड़ों आदमी काम कर सकते

हैं, इन सब के लिए काफी कल-कारखाने तो स्थापित किये ही नहीं जा सकते। इसलिए इनके वास्ते ग्रामोद्योगों के साधन जुटाये जायँ तो यह स्पष्ट है कि उनसे उत्पादन का परिमाण यंत्रों से होनेवाले वर्तमान उत्पादन की अपेक्षा कई गुना अधिक हो। इस प्रकार भारत जैसे बड़ी जनसंख्या वाले देशों में उत्पादन बढ़ाने का उपाय निश्चित रूप से ग्रामोद्योग ही हैं, यंत्रोद्योग नहीं।

फिर यह भी विचारणीय है कि 'क्या उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक मनुष्यों को उद्योगहीन रखना आवश्यक है? जिस संयोजन में जीवनोपयोगी पदार्थों का निर्माण और मनुष्यों को उद्योग-प्रवीण बनाना, ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकतीं, वह संयोजन न केवल विवेकहीन ही है, अपितु अवैज्ञानिक भी है। उत्पादन की प्रक्रिया ऐसी होनी चाहिए, जिससे उत्पादक के व्यक्तित्व का विकास भी होता रहे। हमारे देश में गरीबी है और चीजों का अभाव है, इसलिए चीजों की इफरात करने की दृष्टि से संयोजन होना जरूरी है, लेकिन साथ-साथ मनुष्यों की उत्पादन-कुशलता का तथा साँस्कृतिक विकास का विचार भी उसी योजना में होना चाहिए। तभी वह संयोजन वास्तविक कल्याणकारी संयोजन होगा।'*

विशेष वक्तव्य—ग्रामोद्योगों में कई महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं—(१) ये शरीर की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, (२) इनकी पद्धति विकेन्द्रीकरण की है, जिससे श्रम का उचित और स्वाभाविक उपयोग होता है, (३) इनमें स्वावलम्बन और शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा का सिद्धान्त होता है, और (४) ये जनता जनार्दन की सेवा-पूजा की शिक्षा देते हैं। ग्रामोद्योगों के लाभ अमरीका और इंगलैंड आदि उद्योग-प्रधान देशों के विचारशील व्यक्ति उन देशों के लिए भी स्वीकार करने लगे हैं। भारत के लिए तो इनकी उपयोगिता और आवश्यकता में कोई सन्देह ही नहीं। तो भी यहाँ के अधिकांश पढ़े-लिखे आदमी इन्हें आशंका की दृष्टि से देखते हैं, और सरकार इन्हें स्थापित करने में बहुत हिचकती है। उन्हें श्री भारतन कुमारप्पा के निम्नलिखित लेखांश पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए—

* श्री दादा धर्माधिकारी ('राजस्थान', १८ जुलाई ५६)

'ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में, जहाँ उत्पादन की मात्रा स्थानीय आवश्यकताओं तक ही सीमित रहेगी, मनुष्य की इच्छा केवल उतना ही पाने की होगी, जितने की उसे आवश्यकता है। ऐसे प्राकृतिक जीवन में मनुष्य की बची हुई शक्ति और समय का मूल्यवान उपयोग होगा। भौतिक दृष्टि से मनुष्य का जीवन-स्तर उद्योग-प्रधान देशों की अपेक्षा भले ही हलके दर्जे का दिखलायी दे; लेकिन मनुष्य की आत्मा का विकास होगा, हिम्मत बढ़ेगी, विचार और आचार में वह स्वतंत्रता अनुभव करेगा तथा उसमें सहकारिता, बन्धुत्वभाव और स्थानीय सुख-दुःख के प्रति प्रेम की मात्रा बढ़ेगी। वास्तव में ये ही वे गुण हैं जिनसे मनुष्य को आत्मिक सुख मिलता है, न कि कल-कारखानों द्वारा उत्पादित तरह-तरह की वस्तुओं के ढेर से।'*

*'लोकसेवक', १५ दिसम्बर ५१.

बीसवां अध्याय

यंत्रोद्योग

मैं ऐसी मशीन का स्वागत करूंगा जो झोपड़ों में रहने वाले करोड़ों मनुष्यों के बोझ को हलका करती है। करोड़ों सजीव मशीनों के मुकाबिले, जो भारत के सात लाख गांवों में हैं, निर्जीव मशीनों को स्थान नहीं दिया जा सकता। ....अगर हिन्दुस्तान का अंधाधुंध उद्योगीकरण हो जाता है तो हमें शोषण के लिए संसार के अन्य भू-खंडों को खोजने के लिए एक नादिरशाह की जरूरत होगी।

—गांधीजी

औजार जरूरत के लिए होते हैं और मशीन पैसा बनाने के लिए। फैक्टरी का काम सिर्फ धन पैदा करना है; वह लोगों की जरूरतें पूरी करने के बजाय उन्हें बढ़ाना ही चाहती है।

—जी० भ० कृपलानी

पिछले अध्याय में ग्रामोद्योगों के बारे में विचार कर चुकने पर अब यंत्रोद्योगों की बात लेते हैं। स्मरण रहे कि यों तो चर्खा और चक्की आदि भी एक प्रकार के यंत्र ही हैं, यहां यंत्रोद्योगों से हमारा अभिप्रायः भाप बिजली आदि शक्ति से चलने वाले यत्रोद्योगों से है जिनमें बहुत से आदमी एक जगह काम करते हैं और केन्द्रित उत्पादन होता है। आजकल इनका प्रचार निरन्तर बढ़ता जा रहा है, और इस जमाने को मशीनों या यंत्रों का युग कहा जाता है।

यंत्र-युग की मुख्य बात, उत्पत्ति का केन्द्रीकरण—यंत्रोद्योगों का होना कहाँ तक उचित या लोकहितकारी है, इसका विचार करने से पूर्व यंत्र-युग की कुछ मुख्य-मुख्य बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। यंत्र के कारण समाज में एक ऐसे दल का निर्माण हो जाता है, जो मिलों या कल-कारखानों

का मालिक होता है। एक मिल आदि में हजारों मजदूर इकट्ठे काम करते हैं, ये भिन्न-भिन्न स्थानों के होते हैं। इन्हें केवल इनकी मजदूरी दी जाती है। कारखाने में दूर-दूर से कच्चा माल आता है, और उसका तैयार माल बनकर पहले कुछ खास-खास स्थानों में और वहां से विविध स्थानों में जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति और व्यापार कुछ थोड़े से स्थानों में केन्द्रित हो जाता है; ये स्थान बड़े-बड़े शहर या कस्बे होते हैं।

शहरों की वृद्धि और ग्राम-जीवन का ह्रास —यंत्रोद्योगों से उपज और व्यापार केन्द्रित हो जाने के कारण शहरी जीवन का विस्तार और इसकी समस्याओं की वृद्धि होती जाती है। शहरों की जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, जिसमें खासा हिस्सा बाहर गांवों से आये लोगों का होता है। आबादी घनी होती जाती है। अनेक लोगों के रहने के लिए साधारण मकान मिलने भी कठिन होते हैं, स्वास्थ्य-प्रद और खुली हवा वाले मकानों की तो बात ही क्या! जनता में शौकीनी बढ़ जाती है, लोगों को शराब या सिनेमा आदि के कृत्रिम मनोरंजन, और साबुन, आइस-क्रीम, बर्फ, सोडावाटर, आदि की जरूरत मालूम होती है। लाटरी, बेकारी, भिक्षा-वृत्ति, छल-कपट, तरह-तरह की बीमारियाँ, वेश्यावृत्ति आदि की वृद्धि शहरी जीवन के विस्तार का ही परिणाम है।

यह स्पष्ट ही है कि जिस सीमा तक शहरों और नगरों का निर्माण और वृद्धि होगी, उतना ही गांवों का ह्रास होगा और अन्न आदि कृषि-जन्य पदार्थों का क्षेत्र घट जायगा। फिर, यंत्रोद्योगों से गांवों के उद्योग धंधे नष्ट हो जाते हैं। वहाँ के आदमी अधिकाधिक खेती पर आश्रित रहने को बाध्य होते हैं, बेकारी के शिकार होते हैं, या गांव छोड़ कर शहरों में मजदूरी की तलाश में मारे-मारे फिरते हैं। जो आदमी शहरों में जाते हैं, वे बहुत समय तक वहाँ अस्थायी रूप से ही रहते हैं, घर बसा कर नहीं रह सकते। उनके स्त्री-बच्चे गांव में रहते हैं। इस प्रकार पारिवारिक जीवन भंग होता है, और सब व्यवस्था बिगड़ जाती है।

यंत्रोद्योगों के कारण कुछ देश तो प्राकृतिक ग्राम-जीवन से बहुत-कुछ वंचित हो चुके हैं, और अन्य देश उसी मार्ग पर बढ़े जा रहे हैं। भारत और चीन जैसे देश जिनमें अभी तक ग्राम-जीवन—बुरा-भला जैसा भी हो—कुछ बचा रह सका है, सोचें और आगे का कार्यक्रम गम्भीरता-पूर्वक निश्चित करें।

अन्य हानियाँ, आवश्यकताओं की वृद्धि—यंत्रोद्योगों के केन्द्रीकरण के कारण बहुत सी अनावश्यक आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं। उदाहरण के लिए जगह-जगह पैदा होने वाले धान को किसी केन्द्रीय कारखाने में कुटवा कर उसे फिर फैली हुई आबादी में वितरण करने में पैकिंग के सामान और यातायात के साधनों की जरूरत बढ़ जाती है। यातायात की समस्या से रेल और मोटर आदि की जरूरत इतनी बढ़ती जा रही है कि पूरी ही नहीं हो पाती।

हानिकारक 'उत्पादन'—यंत्रोद्योगों के संचालक, चीजों के उत्पादन में, जनता के जीवन-रक्षक पदार्थों को प्राथमिकता न देकर अपने नफे के लिए शौकीनी या विलासिता के पदार्थ तैयार करने में लगे रहते हैं। उदाहरण के लिए देश में अन्न की कमी होते हुए भी वे इसे बिस्कुट और मिठाइयाँ बनाने में खर्च करते रहते हैं, जिनमें अन्न के पोषक तत्व नष्ट हो जाते हैं। एक विज्ञापन की बात लीजिए—

'पूर्व की सब से बड़ी और सब से ज्यादा आधुनिक बिस्कुट-फेक्टरी चालू हो गयी। भारत की औद्योगिक प्रगति में एक बड़ा कदम, पूर्व की दुनिया में कोई दूसरी फेक्टरी उत्पादन की क्षमता में इसका मुकाबला नहीं कर सकती। प्रतिदिन ३० टन बिस्कुट और ६० टन मिठाइयाँ! एक भव्य प्रयास!' ('हिन्दुस्तान टाइम्स', १६ जुलाई १६५१)

ऐसे कारखाने में अन्न और शक्कर का कितना खर्च होता है! और, यह लोगों की भूख मिटाने के काम में न आकर सिर्फ नाश्ते की तरह और जीभ के स्वाद के लिए होता है? इससे कितने ही आदमी एक मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति से वंचित हो जाते हैं। इस दृष्टि से यह उत्पादन-कार्य न होकर विनाश-कार्य है, देश के लिए गौरव की बात न होकर लज्जा की बात है, प्रगति के बजाय ह्रास का सूचक है।

बेकारी—किसी मिल या कारखाने में एक ही जगह बहुत से आदमियों को काम करते देखकर साधारण बुद्धि वाले ही नहीं, बहुत से समझदार व्यक्ति भी यह कह दिया करते हैं कि यंत्रोद्योग से अनेक आदमियों को काम मिलता है। यह भुला दिया जाता है कि यदि उसमें हजार आदमी काम करते हैं तो उनसे पहले

जो लाखों आदमी उस काम को हाथ से करके अपनी आजीविका कमाते थे, अब बेकार हो जाते हैं। बेकारों की संख्या उसी अनुपात में बढ़ती जाती है, जिसमें मशीनें अधिक बढ़िया और नये ढंग की होती हैं। यंत्रोद्योग की सफलता ही इस बात में मानी जाती है कि वह कम से कम आदमियों से काम चला ले।

आर्थिक विषमता—फिर, कल-कारखानों में मजदूरों का शोषण होता है, (जो हिंसा का ही रूप है) और आर्थिक विषमता बढ़ती है। अगर मजदूर को दो-तीन रुपये रोज मिलते हैं तो इंजिनियर और मेनेजर आदि को कई-कई सौ रुपये महीना और बहुत-सी सुविधाएँ दी जाती हैं, और मालिक की आमदनी का तो कुछ हिसाब ही नहीं। दूसरों को बंधी हुई वेतनादि देकर सब बचत उसी की होती है। इस प्रकार अनेक दशाओं में उसे साधारण मजदूरों की अपेक्षा बीस-तीस गुनी ही नहीं, सैकड़ों गुनी आय होती है। ग्रामोद्योगों में यह बात नहीं। जब ये काम किसी संस्था या संगठन द्वारा किये जाते हैं तो भी ऊँचे से ऊँचे अधिकारी को नीचे के कार्यकर्ता से पाँच छह गुने से ज्यादा नहीं मिलता। इसके अलावा उनकी एक-दूसरे से बहुत घनिष्ठता रहती है, मालिक और मजदूर का सम्बन्ध नहीं रहता। बहुत-कुछ समानता होती है।

यदि मोटे तौर से विचार करें और कपड़े का उदाहरण लें तो हम देखते हैं कि यंत्रों से तैयार होनेवाले एक गज कपड़े की कीमत एक रुपया हो तो उसमें से केवल =)||| किसान को मिलता है, -)|| मिल में काम करने वाले मजदूरों के हाथ लगता है और शेष |||) आने मशीनों और उसके मालिकों के लिए होते हैं। पर उतनी ही (अर्थात् एक रुपये की) खादी खरीदने पर तेरह आने उन लोगों के पास पहुँच जाते हैं जो सीधे खादी के उत्पादन में लगे हुए हैं। वितरण का विवरण इस प्रकार है—

किसान को, रूई का मूल्य	=)|||
रूई धुनाई पर	-)
चरखे की कताई पर	|-)|||
बुनाई बुनकरों को	|)
योग	|||-)

शेष ≋) अन्य खर्चे होते हैं जैसे कपास की खरीद, धुनने, बुनने वालों के पास पहुँचाने और पुनः वहाँ से बिक्री केन्द्रों तक लाने के लिए व्यय। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि खादी की कीमत का एक रुपया भारत की जनता (किसान, धुनकर, बुनकर आदि) को तेरह आने देता है और मिल के बने एक रुपये का कपड़ा भारतीय जनता को केवल चार आने ही देता है, शेष बारह आने लोहे की मशीनें या मिल के चलानेवाले खा जाते हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यंत्रोद्योगों से समाज में भयंकर आर्थिक विषमता होती है।

वर्ग-विद्वेष—यंत्रोद्योगों से, समाज में दो परस्पर विरोधी वर्गों का निर्माण हो जाता है। पूंजीपति और मजदूर दोनों अपने-अपने स्वार्थ को देखते हैं। मजदूर निर्धन होने के कारण प्रायः दबे रहते हैं। कल कारखानों के मालिक उनसे अपनी शर्तें मनवाने के लिए समय-समय पर काम बन्द करने की धमकी देते हैं, और कभी-कभी द्वारावरोध या तालाबन्दी करके मजदूरों का काम पर आना रोक देते हैं। मजदूर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अपना संगठन करते हैं। वे असंतुष्ट तो रहते ही हैं; जहां उन्हें कोई उकसाने वाला या उनका नेतृत्व करने वाला मिल जाता है, वे हड़ताल कर बैठते हैं, कभी-कभी तोड़-फोड़ करके कल कारखाने को हानि पहुँचाते हैं। द्वारावरोध हो या हड़ताल, प्रत्येक दशा में उत्पादन घट जाता है और राष्ट्र को कष्ट और क्षति सहनी पड़ती है।

रचनात्मक भावना और स्वाभिमान का लोप—मनुष्य ऐसा प्राणी है, जिसमें हुनर प्राप्त करने की, कुछ रचनात्मक कार्य करने की, अपनी कार्य-कुशलता प्रकट करने की भूख रहती है। जब तक उसे अपने जीवन में इस भूख को शान्त करने का यथेष्ट अवसर नहीं मिलता, उसे कुछ अभाव मालूम होता है, यह उसे बहुत खटकता रहता है।

श्री डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने कहा है कि 'मनुष्य को तब तक सच्ची खुशी हासिल नहीं हो सकती जब तक कि वह जो कुछ बनाता है, उसका ही जिम्मेदार नहीं, बल्कि उसके साथ ही अपनी बनायी चीजों के गुणों और प्रकार का भी वह व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार न हो। कोई समाज सभ्य तभी कहा जा सकता है, जब उस समाज का हर एक सदस्य अपना भरण

पोषण ऐसे कार्य द्वारा करे जो रुचिकर है तथा जिसके सिवाय दूसरा कोई कार्य करना उसे अच्छा ही न लगता हो। ऐसी व्यवस्था उन्हीं समाज-रचनाओं में लाना सम्भव होता है जो धंधे के आधार पर. अर्थात् स्वधर्म पर कायम हुई हों।'

अब यंत्रोद्योगी पद्धति की बात लीजिए, इसमें आदमी की रचनात्मक शक्ति का विशेष उपयोग नहीं होता। वह प्रायः यंत्र के साथ और यंत्र की तरह कुछ क्रियाएँ करता रहता है, कभी वह कोई बटन दबाता है, कभी यंत्र के किसी भाग पर पानी या तेल डालता है या उसे हिलाता है, ढीला या तंग करता है, कभी कुछ चीजों को एक जगह से दूसरी जगह रखता है। इस प्रकार उसे बहुधा यह पता नहीं होता कि उसके श्रम से किस प्रकार कौनसी चीज बनेगी और वह क्या काम आयेगी।

अमरीका में एक आदमी जमीन के नीचे एक कारखाने में एक प्रकार के बटन को घिस-घिस कर तैयार करता था। चालीस वर्ष बाद उसे मालूम हुआ कि बटन ऐसी राइफल में लगाया जाता है, जिससे इसके दबाने से अनेक आदमी मारे जा सकते हैं। ऐसे आदमी को अपनी कृति के लिए कुछ स्वाभिमान नहीं होता। उसका मानसिक और सांस्कृतिक विकास रुका रहता है।

चरित्र ह्रास—यह कहा जाता है कि बड़े उद्योगों से उत्पादन जल्दी हो जाने से मनुष्य को आमोद-प्रमोद के लिए अधिक समय मिल जाता है, परन्तु कल-कारखानों में काम करने वालों का सिनेमा, जुआ, शराब और वेश्यालय से अधिकाधिक सम्बन्ध सर्व-विदित है। इससे उनके चरित्र की हानि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। फिर यंत्रोद्योगों में श्रमी बालकों और स्त्रियों से होने वाला दुर्व्यवहार भी छिपा नहीं। जब कि एक-एक व्यक्ति की अधीनता में सैकड़ों, हजारों आदमी काम करते हैं तो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव बढ़ना और चरित्र-नाश होना अनिवार्य है।

उत्पादक और उपयोक्ता में पारस्परिक सम्पर्क का अभाव—यंत्रोद्योगों में किसी वस्तु के उत्पादक और उपयोक्ता में सम्पर्क नहीं रहता। कारखाने में बना जूता और मिल में बुना हुआ कपड़ा खरीदते समय हम दुकानदार

शेष ≋) अन्य खर्चे होते हैं जैसे कपास की खरीद, धुनने, बुनने वालों के पास पहुँचाने और पुनः वहाँ से बिक्री केन्द्रों तक लाने के लिए व्यय। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि खादी की कीमत का एक रुपया भारत की जनता (किसान, धुनकर, बुनकर आदि) को तेरह आने देता है और मिल के बने एक रुपये का कपड़ा भारतीय जनता को केवल चार आने ही देता है, शेष बारह आने लोहे की मशीनें या मिल के चलानेवाले खा जाते हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि यंत्रोद्योगों से समाज में भयंकर आर्थिक विषमता होती है।

वर्ग-विद्वेष—यंत्रोद्योगों से, समाज में दो परस्पर विरोधी वर्गों का निर्माण हो जाता है। पूंजीपति और मजदूर दोनों अपने-अपने स्वार्थ को देखते हैं। मजदूर निर्धन होने के कारण प्रायः दबे रहते हैं। कल कारखानों के मालिक उनसे अपनी शर्तें मनवाने के लिए समय-समय पर काम बन्द करने की धमकी देते हैं, और कभी-कभी द्वारावरोध या तालाबन्दी करके मजदूरों का काम पर आना रोक देते हैं। मजदूर अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अपना संगठन करते हैं। वे असंतुष्ट तो रहते ही हैं; जहां उन्हें कोई उकसाने वाला या उनका नेतृत्व करने वाला मिल जाता है, वे हड़ताल कर बैठते हैं, कभी-कभी तोड़-फोड़ करके कल कारखाने को हानि पहुँचाते हैं। द्वारावरोध हो या हड़ताल, प्रत्येक दशा में उत्पादन घट जाता है और राष्ट्र को कष्ट और क्षति सहनी पड़ती है।

रचनात्मक भावना और स्वाभिमान का लोप—मनुष्य ऐसा प्राणी है, जिसमें हुनर प्राप्त करने की, कुछ रचनात्मक कार्य करने की, अपनी कार्य-कुशलता प्रकट करने की भूख रहती है। जब तक उसे अपने जीवन में इस भूख को शान्त करने का यथेष्ट अवसर नहीं मिलता, उसे कुछ अभाव मालूम होता है, यह उसे बहुत खटकता रहता है।

श्री डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी ने कहा है कि 'मनुष्य को तब तक सच्ची खुशी हासिल नहीं हो सकती जब तक कि वह जो कुछ बनाता है, उसका ही जिम्मेदार नहीं, बल्कि उसके साथ ही अपनी बनायी चीजों के गुणों और प्रकार का भी वह व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार न हो। कोई समाज सभ्य तभी कहा जा सकता है, जब उस समाज का हर एक सदस्य अपना भरण

पोषण ऐसे कार्य द्वारा करे जो रुचिकर है तथा जिसके सिवाय दूसरा कोई कार्य करना उसे अच्छा ही न लगता हो। ऐसी व्यवस्था उन्हीं समाज-रचनाओं में लाना सम्भव होता है जो धंधे के आधार पर. अर्थात् स्वधर्म पर कायम हुई हों।'

अब यंत्रोद्योगी पद्धति की बात लीजिए, इसमें आदमी की रचनात्मक शक्ति का विशेष उपयोग नहीं होता। वह प्रायः यंत्र के साथ और यंत्र की तरह कुछ क्रियाएँ करता रहता है, कभी वह कोई बटन दबाता है, कभी यंत्र के किसी भाग पर पानी या तेल डालता है या उसे हिलाता है, ढीला या तंग करता है, कभी कुछ चीजों को एक जगह से दूसरी जगह रखता है। इस प्रकार उसे बहुधा यह पता नहीं होता कि उसके श्रम से किस प्रकार कौनसी चीज बनेगी और वह क्या काम आयेगी।

अमरीका में एक आदमी जमीन के नीचे एक कारखाने में एक प्रकार के बटन को घिस-घिस कर तैयार करता था। चालीस वर्ष बाद उसे मालूम हुआ कि बटन ऐसी राइफल में लगाया जाता है, जिससे इसके दबाने से अनेक आदमी मारे जा सकते हैं। ऐसे आदमी को अपनी कृति के लिए कुछ स्वाभिमान नहीं होता। उसका मानसिक और सांस्कृतिक विकास रुका रहता है।

चरित्रह्रास—यह कहा जाता है कि बड़े उद्योगों से उत्पादन जल्दी हो जाने से मनुष्य को आमोद-प्रमोद के लिए अधिक समय मिल जाता है, परन्तु कल-कारखानों में काम करने वालों का सिनेमा, जुआ, शराब और वेश्यालय से अधिकाधिक सम्बन्ध सर्व-विदित है। इससे उनके चरित्र की हानि पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। फिर यंत्रोद्योगों में श्रमी बालकों और स्त्रियों से होने वाला दुर्व्यवहार भी छिपा नहीं। जब कि एक-एक व्यक्ति की अधीनता में सैकड़ों, हजारों आदमी काम करते हैं तो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव बढ़ना और चरित्र-नाश होना अनिवार्य है।

उत्पादक और उपयोक्ता में पारस्परिक सम्पर्क का अभाव—यंत्रोद्योगों में किसी वस्तु के उत्पादक और उपयोक्ता में सम्पर्क नहीं रहता। कारखाने में बना जूता और मिल में बुना हुआ कपड़ा खरीदते समय हम दुकानदार

को ही जानते हैं, जो क्रय-विक्रय करने वाला मध्यस्थ या दलाल मात्र है, जिस पर वस्तु के अच्छी या बुरी होने की कोई जिम्मेवारी नहीं, जो देश के उत्पादन में कोई भाग न लेकर केवल अपने नफे से मतलब रखता है। यंत्रोद्योग पद्धति में उत्पादकों से हमारा सीधा सम्बन्ध न होने से समाज में वह संगठन और स्नेह नहीं होता, जो ग्रामोद्योगों में होता है।

सैनिक संगठन और विदेशी आक्रमण का खतरा—यंत्रोद्योगों में केन्द्रीकरण के कारण सम्पत्ति थोड़े से मालदारों के पास इकट्ठी हो जाती है। उनके महलों, कोठियों और तिजोरियों की चोरों और डकैतों से रक्षा करने के लिए जवान चौकीदारों और सिपाहियों की जरूरत होती है, पुलिस और फौज का संगठन मजबूत करना होता है, जब कि मामूली हैसियत वाले नागरिकों के घरों की रखवाली के लिए इसकी प्रायः कुछ भी चिन्ता नहीं करनी होती। फिर, यंत्रोद्योगों से शहरों की वृद्धि होती है। उनमें सम्पत्ति जितनी अधिक केन्द्रित होती है, उतना ही वहाँ विदेशी आक्रमणकारियों को लूटमार और हमला करने का आकर्षण अधिक होता है। उनमें फौजी और हवाई ताकतें कितनी ही क्यों न हों, उन्हें बिखरे हुये गांवों की अपेक्षा बहुत जल्दी नष्ट किया जा सकता है।

साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध—उद्योगों के केन्द्रीकरण से सैनिक संगठन होने की बात ऊपर कही गयी है। सैनिक में स्वभाव से लड़ने की प्रवृत्ति रहती है, वह युद्ध का बहाना ढूंढ़ता रहता है—कभी 'सभ्यता के प्रचार' की बात कही जाती है, कभी 'बढ़ी हुई आबादी के लिए रहने की ठौर' प्राप्त करने की आवाज उठायी जाती है, और नहीं तो 'युद्ध समाप्ति के लिए युद्ध' का नारा लगाया जाता है। ये सब साम्राज्यवाद की प्रत्यक्ष या परोक्ष भूमिकाएँ हैं।

फिर, प्रत्येक राज्य के बड़े-बड़े उद्योगपति विदेशों से कच्चा माल मंगाने और अपना तैयार माल खपाने के लिए लालायित रहते हैं। इनका स्वार्थ आपस में टकराता है और क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र की सरकार अपने यहां के कारखाने वालों के पक्ष का समर्थन करती हैं, इसलिए विविध राष्ट्रों की सरकारों का आपस में मनोमालिन्य हो जाता है और वह उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। इससे थोड़े-बहुत समय में बड़े-बड़े राष्ट्रों में युद्ध होने की नौबत आती है। विविध राष्ट्रों के गुट बनने

या दलबन्दी होने से वह युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध का रूप धारण करता है। इस प्रकार विश्व-संकट की आशंका हर दम बनी रहती है।

अवकाश की समस्या—पहले बताया जा चुका है कि हाथ-उद्योगों में आदमी को आवश्यकतानुसार तथा उचित समय पर विश्राम करने की स्वतंत्रता होती है। उसके लिए अवकाश की समस्या नहीं होती। पर यंत्रोद्योगों की बात दूसरी है। इनमें तो आदमी को अपनी शारीरिक तथा मानसिक परिस्थिति के विचार को दूर रख कर मशीन के साथ चलना पड़ता है। इनमें जब निर्धारित समय होगा, तब सब को एक साथ ही विश्राम करना होगा, भले ही किसी को उस समय उसकी जरूरत हो या न हो। वास्तव में विश्राम प्रत्येक व्यक्ति की निजी आवश्यकता होती है, उसका सब के लिए एक ही समय निर्धारित करना अस्वाभाविक है। अस्तु, कल कारखानों में सामूहिक अवकाश की बात रहती है। मजदूरों के लगातार संघर्ष से, अब काम के लिए प्रायः आठ घंटे का दिन और छः दिन का सप्ताह माना जाने लगा है। रूस में अवकाश का समय संसार के अन्य देशों से अधिक है। अवकाश का समय बढ़ाने की मांग का सामाजिक, आर्थिक तथा स्वास्थ्य आदि के आधार पर समर्थन किया जाता है, परन्तु सांस्कृतिक पहलू की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। यदि कानून द्वारा अवकाश का समय बढ़ ही जाय तो श्रमी उस समय का उपयोग अपने हित के लिए ही करें, और उनका हित किन-किन बातों में है—क्या यह भी कानून से निश्चित किया जाय ? अस्तु, यंत्रोद्योगों में अवकाश की समस्या बनी ही रहती है।

केन्द्रीकरण—यंत्रोद्योगों का आधार केन्द्रीकरण है और इसका एक खास दोष है परावलम्बन। उत्पादकों को कच्चे माल के लिए दूर-दूर के क्षेत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है; फिर, वहां से माल लाने के लिए रेल आदि यातायात के बड़े-बड़े साधन चाहिए। मशीनों की जरुरत होती ही है, और भारत जैसे देशों में इनके लिए विदेशी कारखानों के आश्रित रहना पड़ता है। गरीब देशों के लिए पुँजी की भी समस्या होती है! इसके अतिरिक्त यंत्रोद्योगों में माल बड़े परिमाण में तैयार होने से उसे खपाने का सवाल आता है; इसके लिए दूर-दूर के बाजारों पर निर्भर रहना पड़ता है, तथा उन्हें हथियाने के प्रयत्न में

अन्य राष्ट्रों से संघर्ष होता है। इस प्रकार यंत्रोद्योगों से होने वाला केन्द्रीकरण कितना अनिष्टकारी है, यह स्पष्ट है।

यंत्रवाद और मनुष्य का विकास—इस प्रसंग में हमें एक बात का और विचार करना जरूरी है। वह यह कि यंत्रों का मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। यह तो अब सर्वमान्य ही है कि अपने काम का अर्थात् उसे करने की विधि का मनुष्य पर, उसके आनन्द, उसकी स्फूर्ति और विकास पर गहरा असर पड़ता है। इस प्रकार यह बात बहुत महत्व की है कि आदमी अपने उत्पादन कार्य में किस प्रकार के साधनों का उपयोग करता है। इस दृष्टि से विचार करें तो मालूम होता है कि मनुष्य विज्ञान का अर्थात् वैज्ञानिक आविष्कारों और यंत्रों का ठीक उपयोग नहीं कर रहा है। संसार-प्रसिद्ध डा० अलेक्सिस करेल जिन्हें शरीर-शास्त्र की खोजों पर नोबल पुरस्कार प्राप्त हो चुका है, अपनी पुस्तक 'मेन दि अननोन' (मानव, जिसके बारे में हम अनजान हैं) में मानव समाज के ह्रास के बारे में लिखते हुए कहते हैं—

'विज्ञान के भंडार में से हमने केवल कुछ चीजें चुन ली हैं। यह चुनाव करते समय हमने मानव समाज के विकास का कोई ध्यान नहीं रखा है, हम केवल अपनी स्वाभाविक वृत्तियों की ओर ही झुके हैं। हमने जो आविष्कार किये हैं, उनकी सफलता या श्रेष्ठता के लिए हमने अधिक से अधिक आराम और कम से कम काम का सिद्धान्त लागू किया है। हमने अपने आविष्कार तेजी, परिवर्तन और ऐशोआराम द्वारा मिलने वाले आनन्द तथा आत्म-प्रताड़ना से मुक्त रहने की आवश्यकता के आधार पर किये हैं। लेकिन क्या किसी ने कभी अपने आपसे यह भी पूछा है कि गति-पूर्ण यातायात के साधन, तार, टेलीफोन, आधुनिक व्यापार पद्धतियाँ, लिखने और हिसाब लगाने के यंत्र और ऐसी मशीनें जिनसे घर का सारा काम हो जाता है, आदि के द्वारा जीवन में जो जल्दबाजी आजाती है उसका हमारे ऊपर क्या असर पड़ता है।

'....औद्योगिक जीवन के संगठन में यह ध्यान नहीं रखा गया है कि कारखानों का मनुष्य के शरीर और मन पर क्या असर पड़ता है। आधुनिक उद्योगों का आधार है कम से कम खर्च में अधिक से अधिक उत्पादन करना, ताकि कोई व्यक्ति विशेष या व्यक्ति-समूह मनमाना धन कमा सके। यंत्रों को जटिल और

वृहत्तर बनाने में उन लोगों की प्रकृति का जरा भी विचार नहीं किया गया जो कारखानों में काम करते हैं।' *

श्री रस्किन के विचार—इन बातों की ओर सुप्रसिद्ध विचारक रस्किन अब से सौ वर्ष पहले ध्यान दे चुका था, जब कि इनकी केवल शुरुवात थी। उसने लिखा है:—

'हमने आधुनिक काल में श्रम विभाजन के शास्त्र को अच्छी तरह समझ लिया है, उसमें पारंगतता प्राप्त करली है; केवल उसको हमने नाम गलत दे रखा है। सच पूछा जाय तो आज की उत्पादन पद्धति में विभाजन श्रम का नहीं, मनुष्य का होता है। मानव के छोटे-छोटे टुकड़े कर डाले हैं—जीवन को ऐसे सूक्ष्म भागों में बांट दिया है कि एक आदमी की सारी कार्यकुशलता और बुद्धि-मत्ता एक पिन या कील भी पूरी नहीं बना पाती। अपना सारा हुनर खर्च करके वह सिर्फ पिन की नोक या कील का मत्था भर बना पाता है। यह तो ठीक है और होना भी चाहिए कि दिन भर में कई पिनें बनजायें, लेकिन साथ ही अगर हम यह भी देख पाते कि उनके सिरे घिसने में मानव आत्मा की कैसी महीन रेती काम में लायी जाती है!

'हम उन मिलों, कारखानों और बड़े शहरों में मनुष्य को छोड़कर बाकी सभी चीजों का सृजन करते हैं। हम कपास सफेद बनाते हैं, इस्पात को मजबूत बनाते हैं, शक्कर को साफ करते हैं, चीनी मिट्टी के बर्तन गढ़ते हैं, लेकिन एक भी जीवित आत्मा को सफेद बनाना या गढ़ना हमारे लाभ के तखमीने में नहीं आता।

'इसका तो सिर्फ एक ही हल है और वह यह कि सब वर्ग के लोगों में ऐसी समझ पैदा करना जिससे वे यह पहचान सकें कि किस प्रकार का श्रम मनुष्य के लिए अच्छा है, उसे ऊँचा उठाने वाला है और उसके लिए खुशहाली लायेगा। ऐसी हर सुविधा, ऐसी हर खूबसूरती और ऐसे हर सस्तेपन का हमें निश्चय-पूर्वक त्याग करना होगा जो केवल कारीगर के ह्रास द्वारा ही सम्भव है। साथ ही हमें स्वास्थ्य-वर्द्धक और ऊँचा उठाने वाले श्रम द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं के लिए उतने ही निश्चयात्मक रूप में मांग पैदा करनी होगी।'

---

* श्री देवेन्द्रकुमार का लेख, 'कस्तूरबा दर्शन,' अगस्त १९५०।

वैज्ञानिक 'प्रगति', भौतिक उन्नति, और भोग विलास के साधनों की चकाचौंध में यदि आदमी रस्किन जैसे मनीषियों की बात पर ध्यान न देगा तो वह अपने लिए अशुभ भविष्य को निमंत्रण देगा। आधुनिक युग में गांधीजी ने फिर इस ओर हमारा ध्यान दिलाया है। क्या मानव समाज अब भी चेतेगा और प्रेय को छोड़कर श्रेय को ग्रहण करके अपने विवेक का परिचय देगा?

यंत्रोद्योगों की मर्यादा—तो क्या यंत्रोद्योग बिलकुल न रहें? यदि रहें, तो किन दशाओं में? पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि हमारी मूलभूत आवश्यकताओं के पदार्थों की उत्पत्ति ग्रामोद्योग पद्धति से होनी चाहिए। भोजन-वस्त्र आदि की वस्तुओं का उपयोग प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग करता है, इनके उत्पादन के लिए हाथ से चलने वाले उद्योग ही ठीक हैं, इनमें मशीनों या बड़े यंत्रों की जरूरत नहीं, यदि कुछ विशेष दशाओं में बिजली आदि का उपयोग करना ही हो तो वह ग्राम या नगर के स्वावलम्बन के आधार पर हो।

यंत्रोद्योग पद्धति-सामूहिक उपयोग के पदार्थों के उत्पादन के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। ये चीजें परिमित ही हैं। इसलिए सामूहिक उत्पादन मर्यादित ही रहना चाहिए। इसके दो भेद किये जा सकते हैं:—(१) बिजली, नल के पानी आदि का प्रबन्ध उस गांव या नगर की स्थानीय संस्था (पंचायत या म्युनिसपेलटी) द्वारा होना चाहिए, जिससे इनका सम्बन्ध हो। इनके उत्पादन तथा वितरण में किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का अधिकार न रह कर, वहाँ की उक्त संस्था की प्रमुखता रहनी चाहिए, जिसमें उस बस्ती के सभी प्रौढ़ व्यक्ति भाग लें। कुछ दशाओं में दो-चार गाँव या कस्बे मिलकर भी व्यवस्था कर लें, पर ऐसा तभी होना चाहिए, जब इनकी पंचायतों के लिए मिल कर सम्मिलित रुप से कार्य कर सकना व्यावहारिक हो; किसी एक स्थान की पंचायत या म्युनिसपेलटी का उसमें प्रभुत्व न हो। (२) इन कार्यों के अतिरिक्त रेल, तार, डाक, कोयले आदि की खानें, सड़क, हवाई जहाज, या नहर आदि जल-मार्गों का कार्य ऐसा होता है, जिसका किसी एक नगर या प्रान्त से ही सम्बन्ध नहीं होता। इनका उपयोग राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय होता है। ऐसी वस्तुओं के उत्पादन और वितरण में यंत्रोद्योगों का उपयोग होना उचित है। इनका संचालन

राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा होना चाहिए। श्री जवाहिरलाल जैन का मत है कि इस तरह के उद्योगों का संचालन अर्द्ध-स्वतंत्र कारपोरेशनों के जरिये किया जाना चाहिए, जिन्हें द्वारा सरकार निश्चित पूँजी दे दी जाय और जिनकी व्यवस्था सीधे सरकार के हाथ में न रह कर सरकार, उद्योग के कर्मचारियों और उपयोक्ताओं के प्रतिनिधियों द्वारा हो।

सर्वोदय व्यवस्था का अच्छी तरह प्रचार और उपयोग होने, तथा संसार भर में इसके अनुसार व्यवहार होने तक राज्यों की सुरक्षा की व्यवस्था करने की आवश्यकता रहेगी। सैनिक उद्योग केन्द्रित और बड़े पैमाने पर होंगे। इनके लिए भी यंत्रोद्योग पद्धति ही ठीक रह सकती है। इनका संचालन देश की केन्द्रीय सरकार द्वारा हो।

ग्रामोद्योग और यंत्रोद्योगों में प्राथमिकता किसे दी जाय— ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि ग्रामोद्योग पद्धति भी रहे, और यंत्रोद्योग पद्धति भी। तो क्या दोनों प्रकार के उद्योग साथ-साथ चलें ? हाँ, एक सीमा तक दोनों को साथ चलने देना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि इनमें प्राथमिकता किसे दी जाय। हम याद रखें कि उद्योग-पद्धति और समाज-व्यवस्था का घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे पर बहुत निर्भर हैं। यांत्रिक या केन्द्रित उद्योग पद्धति के अमल में आने से समाज का ढांचा एक खास प्रकार का होगा, और ग्रामोद्योगी पद्धति पर जोर देने से समाज-रचना दूसरे प्रकार की होगी। इसलिए हमारे सामने दो रास्ते हैं (१) हमारी समाज-रचना बड़े-बड़े यांत्रिक उद्योगों को केन्द्र मान कर चलें, और जितना बहुत ही जरूरी हो उतना ही स्थान ग्रामोद्योगों को दिया जाय या (२) समाज-रचना का आधार ग्रामोद्योग होंगे, और कल कारखानों को उतना ही स्थान मिलेगा जितना लाचारी से देना होगा। इन दो रास्तों में से हमें निश्चित और स्पष्ट रूप से एक को पसन्द करना है; ढिलमिल नीति रखना ठीक नहीं। जैसा पहले कहा जा चुका है, खासकर भारत जैसे बड़ी आबादी वाले देश में ग्रामोद्योग पद्धति को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। हमारी अर्थव्यवस्था में केन्द्र ग्रामोद्योग ही होने चाहिएँ। बड़े-बड़े यंत्रोद्योग उस दशा में तथा उसी सीमा तक चलाये जायं, जब कि उन्हें ग्रामोद्योगों के हित में, इनके पूरक के रूप में चलना आवश्यक हो : वे इनके प्रतिस्पर्द्धी न बनने पायें।

औद्योगीकरण के सम्बन्ध में विचार—आज-कल औद्योगीकरण की बहुत चर्चा है। प्रायः आदमी इस कार्य के लिए यंत्रोद्योगों की ही बात सोचा करते हैं, ग्रामोद्योगों का रास्ता उन्हें अनुपयुक्त जंचता है। एक भाई ने गांधीजी से पूछा कि 'क्या आप हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण नहीं करेंगे!' इस पर गांधीजी ने कहा—

'जरुर करूँगा। पर अपने अर्थ में। हिन्दुस्तान तभी तबाह हुआ जब हमारे शहर विदेशी बाजारों के अड्डे बनाये गये और विदेशों की सस्ती और चटकीली चीजों को हमारे गांवों में लाद कर उनको चूसना शुरु कर दिया गया। मैं बड़ी से बड़ी मशीनों का स्वागत करूँगा अगर उन से हिन्दुस्तान की गरीबी मिटती है और लोगों को कार्य मिलता है।

इस सम्वाद से पता चलता है कि मशीनों के उपयोग के बारे में गांधीजी की तीन कसौटियाँ थीं:—(क) उनसे शोषण न हो। (ख) उनसे सामाजिक विषमता और असमान वितरण पैदा न हो। (ग) उनसे जीवन में कृत्रिमता न आये।

इस पर कोई कह सकता है कि तब तो हमें आज की बहुत सी मशीनों को ठुकराना पड़ेगा। जरुर। कौन नहीं जानता कि इंगलैंड या यूरोप और अमरीका की मशीनी प्रगति तभी हो सकी जब उन्हें एशिया और अफ्रीका के बाजार मिल गये, हिन्दुस्तान जैसे देश पर हुकूमत हासिल हो गयी और अपनी-अपनी सरकारों का पूरा बल मिल गया। आज जब दुनिया का हर देश अपने पैरों पर खड़ा होना चाहता है तो परदेश के बाजारमिलने की गुंजाइश नहीं जैसी है। फिर, जो दो महायुद्ध यूरोप ने देखे—और तीसरे का संकट जो सामने खड़ा है— वे इसी गलत औद्योगीकरण का परिणाम हैं। इन मशीनों के कारण आज इंगलैंड, अमरीका और रूस में असमानता है और जन-जन का राज नहीं स्थापित हो सका है।*

औद्योगीकरण नहीं, 'प्रत्येक को काम' चाहिए—स्पष्ट है कि खासकर भारत जैसे बड़ी आबादी वाले देश में अर्थनीति का आधार औद्योगीकरण न होकर, 'प्रत्येक को काम' होना चाहिए। देश के प्रत्येक नागरिक को

* श्री सुरेशराम भाई के लेख से, 'भारत' ६ मार्च १९५६।

अपने भरण-पोषण के लिए भोजन वस्त्रादि मिलना ही चाहिए। इसका सरल और न्यायोचित उपाय यही है कि जो आदमी जहां है, उन्हें साधारणतया वहाँ ही काम मिले। काम न मिलने से बेकार आदमी की आजीविका का सहारा नहीं रहता और वह देश का उत्पादन बढ़ाने में अपना योग देने से वंचित रहता है। वह तो स्वयं समाज पर भार होता है, इससे उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। इस प्रकार औद्योगीकरण के रूप में यहाँ सूत कातने, कपड़ा बुनने, आटा पीसने, तेल निकालने आदि की मिलें चलाना कतवारियों, बुनकरों, पिसनहारियों और तेलियों को भूखों मारना है। ग्रामोद्योगों और गृहोद्योगों को नष्ट करके बेकारी बढ़ाना और फिर बेकारी को दूर करने के उपायों का विचार करना कहाँ की बुद्धिमानी है! यह तो मानवता विरोधी दुष्कृत्य है।

विशेष वक्तव्य—इस समय यंत्रों के दुरुपयोग को देख कर मनुष्य यह सोचने लगता है कि क्या विज्ञान मनुष्य के लिए अभिशाप तो नहीं होता जा रहा है। ऐसा प्रसंग न आये और विज्ञान मनुष्य के लिए बरदान ही हो, इसके वास्ते आवश्यक है कि हम यह स्वीकार करें—यंत्र मनुष्य के लिए है मनुष्य यंत्र के लिए नहीं; मनुष्य यंत्र पर नियंत्रण रख सके, यंत्र मनुष्य पर हावी न हो; यंत्र को मनुष्य के शोषण का साधन न बनाया जाय। शरीर-श्रम और बौद्धिक कार्य को समान प्रतिष्ठा तो मिले ही, यथासंभव प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ उत्पादक शरीर-श्रम करना आवश्यक हो। समाज में इस प्रकार की मान्यताओं का प्रचलन होने पर ही, एक सिमित क्षेत्र में, यंत्रोद्योग कुछ कल्याणकारी हो सकते हैं।

इक्कीसवां अध्याय

जनसंख्या

ईश्वर की योजना ऐसी सुन्दर है कि एक मुंह के बढ़ते ही उसके साथ दो हाथ भी पैदा होते हैं। इसलिए संख्या-वृद्धि से न डरें।...प्रजा अगर वीर्यवती, कर्मयोगी, दक्ष हो तो जो संतान पैदा होगी, उसका भार वहन करने के लिए यह वसुन्धरा तैयार है--ऐसा मेरा विश्वास है।

—विनोबा

जो सरकार अपनी प्रजा से यह कहती है कि वह लोकहित-वर्द्धक राज्य तब तक कायम नहीं कर सकती, जब तक कि जनसंख्या कम न हो जाय, वह शासन के लिए उतनी ही अयोग्य है, जितनी कि वह दूसरी जो युद्ध तथा अपनी अन्य साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की सिद्धि के लिए जनता को जनसंख्या बढ़ाने के लिए मजबूर करती है।

—किशोरलाल मश्रूवाला

पिछले अध्यायों में इस बात का विचार किया गया है कि लोकहित की दृष्टि से विविध प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में जनता को किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए। उत्पत्ति के साथ जनसंख्या का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कल्पना करो एक देश में खाद्य पदार्थों आदि का उत्पादन जनता के लिए पर्याप्त है। पर यदि कुछ समय बाद खाद्य पदार्थों के परिमाण में दस प्रतिशत की वृद्धि हो जाय और उस समय तक जनसंख्या में पन्द्रह प्रतिशत की वृद्धि हो जाय, तो उक्त बढ़े हुए खाद्य पदार्थ भी अब अपर्याप्त हो जायेंगे। इस प्रकार उत्पत्ति के प्रसंग में जनसंख्या का विचार किया जाना आवश्यक है।

जनसंख्या की वृद्धि से चिन्ता—इस समय संसार की आबादी ढाई सौ करोड़ है और यह प्रति वर्ष एक प्रतिशत अर्थात् लगभग ढाई करोड़ के हिसाब से बढ़ रही है। आगे कुछ वर्षों के बाद जब आबादी अधिक हो जायगी

तो वार्षिक वृद्धि का परिमाण भी बढ़ जायगा, अर्थात् वह हर वर्ष ढाई करोड़ से अधिक होने लगेगी। आबादी प्रायः सभी देशों में बढ़ रही है। कुछ अर्थ-शास्त्रियों का मत है कि अगर यह वृद्धि रोकी न गयी तो दरिद्रता, बीमारी या महायुद्ध का संकट बढ़ेगा। इसलिए बहुत से आदमियों को आबादी की वृद्धि से बहुत चिन्ता है।

दूसरा पहलू—पिछले वर्षों के अनुभव से यह सिद्ध हो गया कि उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों ने खाद्य पदार्थों की कमी की जो आशंका प्रकट की थी, वह सत्य नहीं है। नयी भूमि में खेती की जाने से, तथा उन्नत तरीकों के काम में लाये जाने से खाद्य पदार्थों की पैदावार में आशातीत वृद्धि हुई है। ऐसा मालूम होता है कि बड़े-बड़े शहरों की घनी बस्तियों को देख कर यह अनुमान कर लिया गया था कि संसार में जनसंख्या आवश्यकता से अधिक बढ़ रही है। वास्तव में पैदायश बहुत अधिक नहीं है।

कुछ वैज्ञानिकों ने समय-समय पर यह हिसाब लगाया है कि इस धरती की पैदावार कितनी जनसंख्या के लिए पर्याप्त हो सकती है। ऐसे हिसाब से अलग अलग परिणाम निकलने स्वाभाविक हैं; कारण, कुछ महत्वपूर्ण बातों की व्याख्या आदमी अपने-अपने ढंग से करते हैं। कुछ का कथन है कि पृथ्वी की खेती-योग्य पूरी भूमि में काश्त होने लग गयी है, और खेती के तरीकों में उन्नति करने की सीमा आ पहुँची है। दूसरे सज्जन बहुत आशावादी हैं। इनमें से कुछ के हिसाब से पृथ्वी की पैदावार कम से कम ७०० करोड़ और अधिक से अधिक १६०० करोड़ जनसंख्या होने तक काफी होगी। अमरीकी स्टेट विभाग ने बहुत से तथ्यों और आँकड़ों के आधार पर अनुमान लगाया है कि आज भी बिना किसी विस्मयकारी अन्वेषण के मानव इस स्थिति में है कि यदि आबादी तिगुनी हो जाय तो भी भूख का इस धरती से नाम-निशान मिटा सके। और, यदि उत्पादन में वैज्ञानिक तरीकों से वृद्धि की जाय और उपयोग की विधि में यथेष्ट सुधार हो तो इससे भी अधिक आबादी का निर्वाह हो सकेगा। इस समय तो पूंजीवादी व्यवस्था में अनेक बार अन्नादि इसलिए नष्ट कर दिया जाता है कि उसके दाम न गिरने पायें। इसके अतिरिक्त अनेक आदमी कुछ उत्पादन कार्य न करके

भूमि पर भार बने हुए हैं। अस्तु, पृथ्वी की उत्पादन-शक्ति के कम होने के विषय में चिन्ता का अवसर नहीं है।

यह ठीक है कि इस समय सारा संसार खाद्य पदार्थों आदि की समस्या पर एक इकाई की तरह विचार नहीं करता, विविध राज्यों में गुटबन्दी और स्वार्थ का बोलबाला है। इसलिए तमाम संसार की उपज के परिमाण के आधार पर यह अनुमान लगाना ठीक नहीं कि इससे इतनी जनसंख्या का निर्वाह हो जायगा। पर यह स्थिति बहुत समय रहने वाली नहीं। और, यह तो स्पष्ट ही है कि मूल समस्या विशेषतया राजनैतिक् है।

सन्तान-वृद्धि की रोक—बहुत से आदमियों के लिए जनसंख्या की वृद्धि बहुत चिन्ता का विषय है। यूरोप अमरीका के कुछ भागों में कृत्रिम उपायों द्वारा इस वृद्धि को रोका जाता है। इस बात के समर्थकों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। भारत में भी इसका जोर बढ़ता जा रहा है। इसमें खासकर ये दोष हैं—

१—जब मनुष्य विषय-भोग के परिणाम अर्थात् संतान की ओर से निश्चिन्त हो जाता है तो उसका विषय-भोग में अधिक फंसना स्वाभाविक ही है। इससे वह कमजोर हो जाता है, और भावी पीढ़ी के भी निर्बल और तेजहीन होने की सम्भावना होती है।

२—कृत्रिम साधनों का विशेष उपयोग शिक्षित, शहरी और धनवान लोग करते हैं। इनकी संतान तो वैसे ही कम होती है।

३—इससे पुरुष स्त्रियों का अनुचित सम्बन्ध अर्थात् नैतिक दुराचार बढ़ता है।

अन्यान्य लेखकों में गांधीजी ने इस विषय पर गम्भीर चिन्तन किया और विस्तार से लिखा है। आपका कथन है कि—

'कृत्रिम साधनों से नुकसान नहीं होता—ऐसी गवाही तो कोई भी नहीं देगा। ऐसा मैं अपनी खोजों और अवलोकन के परिणाम-स्वरूप जोर देकर कह सकता हूँ।......जानकार मनुष्य कहते हैं कि स्त्रियों को होनेवाले कैन्सर जैसे रोगों का मूल इन कृत्रिम साधनों के उपयोग में है।...इसमें भयंकर बात तो यह है कि जहाँ एक बार ऐसे कृत्रिम साधनों का प्रचार बेधड़क होने लग गया कि फिर इस अत्यन्त हीन ज्ञान को

रोकने का एक भी उपाय नहीं किया जाता और उसके प्रचार को रोकने की किसी में भी शक्ति नहीं रहेगी, और ये बातें सब से पहले प्रजा के युवाओं में पहुँचती हैं ।'*

कृत्रिम निरोध की पद्धति ठीक नहीं है, पर सन्तान-वृद्धि को रोकने की जरूरत से इन्कार नहीं किया जा सकता; हाँ; अन्न की कमी के कारण नहीं, बल्कि अन्य कारणों से । बात यह है कि बच्चे ज्यादा और जल्दी-जल्दी होने से एक तो माँ का स्वास्थ्य गिरता है; दूसरे, बच्चों की सार-संभार, पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा अच्छी तरह नहीं हो सकती ।

संयम का उपयोग—चाहे जनसंख्या की वृद्धि को रोकना हो या दूसरा लक्ष्य सामने हो, संयम और इन्द्रिय-निग्रह की उपयोगिता हर दशा में है ! इस विषय में श्री विनोबा की यह बात भुलायी नहीं जा सकती कि 'साल में एकाध बार स्त्री-पुरुष सम्बन्ध हो जाने से भी पुत्रोत्पत्ति हो सकती है । इसलिए ऐसे व्यक्ति को असंयमी समझने का कारण नहीं है । इस दृष्टि से एकाध बीस बच्चों का बाप भी दो बच्चों के बाप से ज्यादा संयमी हो सकता है ।'

संयम की भावना बढ़ाने में सादा जीवन और लोकसेवा आदि के उच्च विचारों से बड़ी सहायता मिलती है । ऐसे विचार वाले व्यक्ति कम सन्तान से या बिना सन्तान के भी सन्तुष्ट रहते हैं । आवश्यकता है कि मनुष्य कोई महान् ध्येय रखे और उसकी प्राप्ति में अपनी सारी शक्ति लगाने का दृढ़ निश्चय करे ।

जनसंख्या वृद्धि और गरीबी—साधारण अनुभव की बात है कि अन्य बातों के समान होते हुए साधारणतया धनवानों या सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा गरीबों के परिवार में सन्तानोत्पत्ति अधिक होती है । अकसर धनवान दम्पति सन्तान का मुँह देखने को तरसते रहते हैं, जबकि गरीबों के यहाँ उसकी भरमार होती हैं, बच्चे उनकी जरूरत से कहीं ज्यादा होते हैं । श्री ब्रह्मदत्त बाजपेयी ने लिखा है—

* 'विवाह समस्या अर्थात् स्त्री-जीवन' से ।

'बढ़ती हुई जनसंख्या के विषय में कुछ अध्ययन करने से यह शीघ्र ही दीखने लगता है कि उसका भूख से बहुत निकट का सम्बन्ध है। जो राष्ट्र भूखे एवं गरीब हैं उनकी जनसंख्या भी बड़ी तेजी से बढ़ रही है, जैसे चीन और भारत इत्यादि। इन राष्ट्रों में जिन प्रान्तों और जिलों में भूखे और गरीब अधिक हैं उनमें जनसंख्या भी अधिक तेजी से बढ़ रही है। हमारे प्रान्त के पूर्वी जिले तथा बिहार, बंगाल और उड़ीसा इत्यादि इसकी मिसाले हैं। जो राष्ट्र, जातियाँ अथवा परिवार सम्पन्न हैं, भूख से मुक्त हैं उनमें प्रजनन भी कम होता है, जनसंख्या कम बढ़ती है। *

स्पष्ट है कि किसी प्रदेश की जनसंख्या बहुत अधिक बढ़ने का एक मुख्य कारण, अन्य बातों के समान होते हुये, वहाँ की आर्थिक हीनता होती है। इस लिए जनसंख्या की विशेष वृद्धि को रोकने का एक अच्छा उपाय वहाँ की निर्धनता दूर करना है।

जीवन-पद्धति सुधारने की आवश्यकता—इसके अतिरिक्त हम याद रखें कि सन्तान अच्छी होने के लिए जिन बातों की जरूरत होती है, उनसे ही सन्तान में कमी भी हो जाती है। आवश्यकता है जीवन-पद्धति में सुधार करने की। इसके लिए निम्नलिखित तरीके काम में लाये जाने चाहिएँ:—

(१) जनता में यह प्रचार किया जाय कि जीवन-स्तर ऊँचा करें; अच्छे मकान, तथा उत्तम भोजन वस्त्र आदि का उपयोग करें और सांस्कृतिक उन्नति की ओर ध्यान दें।

(२) नागरिकों की, अपना उत्तरदायित्व समझने और दूरदर्शी बनने की भावना विकसित की जाय। वे सन्तान के प्रति अपनी जिम्मेवारी का विचार रखें।

(३) सदाचार और संयम का वातावरण पैदा किया जाय, विवाह की उम्र बढ़ायी जाय और बहुत अधिक आयु वालों के विवाह बन्द किये जायँ।

(४) निर्बल, दरिद्र, वंशानुगत रोगी, पागल या विशेष शारीरिक या मानसिक विकार वाले आदमियों के विवाह सम्बन्ध बन्द होने चाहिएँ।

---

* 'अमृत पत्रिका' १८ मई १९५६.

(५) पुरुषों और स्त्रियों में ऐसी भावना भरी जानी चाहिए कि दूसरों के बालकों से भी यथेष्ट प्रेम करें, इस प्रकार जिनके कोई सन्तान न हो वे दूसरे बालकों से प्रेम करते हुए उनके पालन-पोषण और शिक्षण में सहायक हों।

(६) आदमी कृत्रिम, शहरी, आडम्बर-पूर्ण जीवन की अपेक्षा प्रकृति के अनुकूल चलें, और ग्राम-जीवन के मुक्त वायुमंडल में रहें।

विशेष वक्तव्य—परमात्मा ने मनुष्य को एक मुंह या एक पेट के साथ दो हाथ दिये हैं। यदि हम ऐसी योजना बना कर अमल में लायें कि सारे हाथों का पूरा उपयोग हो सके तो जनसंख्या की समस्या कुछ कठिन न रहे। ऐसी योजना के लिए 'श्रम बचाने वाले' यंत्रों को और दूसरों के श्रम-फल को हड़पने वाली जीवन-प्रणाली को समाप्त करना होगा। मानव श्रम को केवल उपयोगी और उत्पादक कार्यों में ही लगाना होगा, उत्पन्न सामग्री को फैशन या विलासिता में नष्ट होने से बचाकर उसका लोकहित की दृष्टि से बहुत मितव्ययितापूर्वक उपयोग करना होगा। अगर प्रत्येक व्यक्ति परिश्रमी, सुशिक्षित, स्वावलम्बी, सदाचारी और लोकसेवी हो तो ऐसी जनसंख्या से देश या संसार को डरने का कोई कारण नहीं। अस्तु, वास्तव में समस्या आबादी की संख्या की नहीं, बल्कि उसके सही और पूरे उपयोग की है। आदमी न तो आलस्य, अकर्मण्यता और विलासिता का जीवन बिताये, और न हिंसक और विनाशकारी कार्यों में अपनी शक्ति लगाये। माता-पिताओं को, शिक्षा-संस्थाओं को, तथा राज्याधिकारियों को इस दिशा में अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए।

व्यापारियों में दूषित प्रतिस्पर्द्धा चल रही है और उसके फल-स्वरूप धोखेबाजी, दगा, फरेब, चोरी आदि अनीतियाँ बढ़ गयी हैं। दूसरी ओर जो माल तैयार होता है, वह खराब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी चाहता है कि मैं खाऊँ, मजदूर चाहता है कि मैं ठग लूँ और ग्राहक चाहता है कि मैं बीच से कमालूँ। इस प्रकार व्यवहार बिगड़ जाता है, लोगों में खटपट मची रहती है, गरीबी का जोर बढ़ता है, हड़तालें बढ़ जाती हैं, महाजन ठग बन जाते हैं, ग्राहक नीति का पालन नहीं करते। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं। अन्त में महाजन, व्यापारी और ग्राहक सब दुःख भोगते हैं और नष्ट होते हैं।

—गांधीजी

चौथा खंड

विनिमय

२२—विनिमय की उपयोगिता की सीमा
२३—मुद्रा-व्यवस्था के दोष
२४—बैंक
२५—सही कीमत
२६—व्यापार और उसके साधन
२७—व्यापार नीति
२८—पैसे की प्रभुता से मुक्ति

बाइसवाँ अध्याय

विनिमय की उपयोगिता की सीमा

व्यापारी लोग अपने स्वार्थ के लिए लाखों रुपये खर्च करके जनता में अनावश्यक चीजें चलाने की कोशिश करते हैं। जब वे चल निकलती हैं तो उनको मांग का रूप दिया जाता है।

—श्रीकृष्णदास जाजू

शोषणहीन समाज स्थापित करने के लिए गांवों में शहरों के माल का वहिष्कार करना होगा, आवश्यकता हो तो सत्याग्रह और धरने की शरण लेनी होगी ; दूसरी ओर प्रबन्धकों से भी असहयोग करना होगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

विनिमय की आवश्यकता ; अदल-बदल और क्रय-विक्रय—किसी आदमी का काम केवल अपनी ही बनायी हुई वस्तुओं से नहीं चल सकता। उसे दूसरों की बनायी वस्तुओं की आवश्यकता होती है, और इन्हें लेने के लिए उसे बदले में दूसरों को ऐसी वस्तुएँ देनी होती है, जिनकी उन्हें जरुरत हो। इस प्रकार का व्यवहार बहुत प्राचीन समय से होता रहा है। इसे विनिमय कहते हैं, यह दो तरह का होता है— (१) जिसमें एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु दी जाती है, इसे अदल-बदल कहते हैं; अब इसका चलन खासकर गाँवों में रह गया है। (२) जिसमें वस्तु के बदले द्रव्य दिया जाता है। मुद्रा द्वारा खरीद-बेच या क्रय-विक्रय करने की पद्धति के लिए ही अब 'विनिमय' शब्द का प्रयोग होता है। यह उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

विनिमय का अनावश्यक विस्तार, भोजन में—ऊपर विनिमय की उपयोगिता बतायी गयी है, पर इसकी एक सीमा है। आजकल विनिमय का क्षेत्र बेहद बढ़ा हुआ है। अनेक आदमी अपने गांव में पैदा होने वाले अन्न का उपयोग न करके दूसरे प्रकार के अन्न खाने के इच्छुक रहते हैं, जो वहां पैदा

नहीं होता। इसलिए वहां पैदा हुआ अन्न बहुधा बोरों में भर कर, और बैल-गाड़ियों, मोटर और रेल द्वारा ले जाया जाता है; और दूसरे स्थानों से दूसरा अन्न इसी प्रकार लाया जाता है। इसमें कितनी शक्ति और समय खर्च होता है तथा लाने-लेजाने या लादने-उतारने आदि में कितना अन्न नष्ट हो जाता है!

दूसरा उदाहरण लें। कुछ स्थानों में धान पैदा होता है, पर आदमी वहाँ ही उसे हाथ से कूट कर चावल तैयार नहीं करते। वे उसे बेच देते हैं, और वह मिलों में ले जाया जाता है, वहां वह यंत्र से कूटा जाता है, और उस पर पालिश करके चमकीला किया जाता है। इस चमकीले चावल का खासा अंश उन गांवों या कस्बों में जाता है, जहां धान पैदा हुआ था, और बेचा गया था। मिल की उपर्युक्त क्रिया इसलिए की जाती है कि धान की अपेक्षा चावल को लाना-लेजाना आसान तथा कम व्यय-साध्य है, और पालिश किये बिना चावल जल्दी खराब हो जाता है। मिल की क्रिया से चावल का बहुत सा पोषक तत्व नष्ट हो जाता है, और उसके खाने से 'बेरीबेरी' रोग पैदा होता है। इस रोग को रोकने के लिए इस चावल पर पौष्टिक तत्वों का लेप चढ़ाने की दूसरी क्रिया निकाली गयी है। इससे उपयोक्ताओं पर दोहरे खर्च का भार पड़ता है। अस्तु, विनिमय के कारण होने वाली हानि स्पष्ट है।

एक और उदाहरण लीजिये। भारत के बहुत से गाँवों में गन्ना पैदा होता है, और उसका आसानी से गुड़ बनाया जा सकता है, जो बहुत स्वास्थ्यप्रद और पौष्टिक होता है। पर अनेक गांवों वाले गन्ने को दूर-दूर मिलों में ले जाकर बेचते हैं, वहां उसकी चीनी बनायी जाती है। (जिसे स्वास्थ्य के लिए हानिकर होने के कारण गांधीजी ने 'सफेद जहर' कहा था); उस चीनी को फिर विविध गांवों में ले जाया जाता है। वहां इसे वे लोग भी खरीदते हैं, जिन्होंने गन्ना पैदा किया था। गन्ने की खरीद-बेच से लेकर चीनी के क्रय-विक्रय तक लोगों को कितनी हानि और परेशानी होती है, इसका वर्णन करने की जरुरत नहीं।

भोजन के पदार्थों की बात छोड़ कर अब हम वस्त्र का विषय लेते हैं।

कपड़े की बात—आधुनिक काल में भारत में समय-समय पर कपड़े का संकट रहा है। इस समय भी यहां कपड़े की कमी की बहुत शिकायत है। आश्चर्य और खेद है कि जहां कपास पैदा होती है, वहां भी कपड़े का संकट हो। अस्तु,

यह संकट बहुत-कुछ विनिमय की अनावश्यक वृद्धि के कारण ही है। आदमी कपास को ओट कर तथा रुई का सूत कात कर अपने यहां कपड़ा बुनवा लिया करें तो उन्हें यथेष्ट वस्त्र सहज ही मिल जाया करे। पर यहां तो कपास ओटने से लेकर उसका कपड़ा बनाने तक विनिमय और यातायात की अनेक क्रियाएँ होती हैं। इन क्रियाओं से, कपड़े का उद्योग करने वालों पर मध्यस्थों की दलाली और मुनाफे आदि का बहुत भार पड़ता है, और कपास पैदा करने वाले किसानों को अर्द्ध-नग्न रहना पड़ता है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के विनिमय के हानिकारक प्रभाव का विचार किया जा सकता है।

विनिमय की वृद्धि से हानि—विनिमय से होने वाली पूरी हानि का अनुमान करने के लिए यह ध्यान में लाना होगा कि इस समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल लाने-लेजाने में कितनी शक्ति लग रही है। माल भरने के लिए एक छोटे से देश में भी कितने बोरों, संदूकों या टाट आदि का खर्च हो जाता है, कितने बैल, घोड़े, खच्चर, गधे, ऊँट, मोटर, रेल, जहाज और हवाईजहाज आदि इस काम में लगते हैं! उन्हें चलाने के लिए आदमियों की कितनी जरूरत होती है! उन सब चीजों का हिसाब-किताब रखने में कितने आदमियों का कितना समय लगता है! फिर, लाने-लेजाने में इन चीजों का कितना हिस्सा बिगड़ जाता है, या बिलकुल ही अनुपयोगी हो जाता है! हम इन बातों के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि इन्हें ध्यान देने योग्य ही नहीं समझते। तथापि समय-समय पर यातायात के साधनों की कमी आदि कुछ घटनाएँ ऐसी होती रहती हैं कि हमें इन बातों पर गम्भीरता पूर्वक सोचने को विवश हो जाना पड़ता है।

जो माल हमें दूसरे देशों से मंगाना होता है, उसके लिए महीनों पहले लिखा-पढ़ी होती है, भाव तय किये जाते हैं। पर अनेक बार माल से भरा कोई जहाज आदि रास्ते में ही नष्ट हो जाता है। फिर संसार में युद्ध का वातावरण बुरी तरह से बना हुआ है, न-मालूम कब कौन-सा देश युद्ध-ग्रस्त हो जाय और उसका प्रभाव दूर-दूर तक फैल जाय। उसके कारण एक ओर तो वह देश हमें कुछ माल देने में असमर्थ हो जाय, दूसरी ओर अगर हम वह माल किसी अन्य देश से भी मंगाना चाहें तो रास्ता सुरक्षित न होने की दशा में वह

देश उस माल को हमारे यहाँ भेजने की जोखम न उठाये। इस प्रकार यदि हम अन्न वस्त्रादि जीवन-रक्षक पदार्थ के लिए परावलम्बी रहते हों तो युद्ध-काल में हमारे संकट का क्या ठिकाना !

दलालों की सृष्टि, समाज-संगठन को आघात—विनिमय की इस पद्धति ने उत्पादक और उपयोक्ता के बीच में एक मध्यस्थ को अनिवार्य बना कर उनका पारस्परिक सम्बन्ध तोड़ दिया है। जुलाहे को किसान की, या किसान को जुलाहे की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है। जुलाहा अन्न खरीदने के लिए और किसान कपड़ा खरीदने के लिए एक दूसरे के पास नहीं जाते। ये दोनों ही एक तीसरे व्यक्ति के पास जाते हैं, जो इन दोनों के बीच मध्यस्थ या दलाल है, अथवा दुकानदार या आढ़तिया है। यह दलाल स्वयं कोई शरीर-श्रम न करके भी उत्पादकों से अधिक धनवान और प्रतिष्ठित बन जाता है। यह अपनी चातुरी और चालाकी से उत्पादकों का शोषक बन जाता है और बहुधा उपयोक्ताओं से भी अनुचित लाभ उठाता है। यह बात समाज के स्वाभाविक जीवन के लिए एक बड़ा संकट है।

विशेष वक्तव्य—इसलिए भोजन-वस्त्र जैसी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तो यथा-सम्भव गाँव-गाँव में या पाँच-सात गाँवों की इकाई में हो जानी चाहिए, जिससे आदमी विनिमय के दूषित चक्र से बचें। अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध में भी प्रत्येक बड़े गाँव या ग्राम-समूह का स्वावलम्बी होना ही अच्छा है। पर यदि उनके सम्बन्ध में ऐसा न भी हो तो इतना हानिकर नहीं; कारण, जब कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो कि दूसरे स्थान में वह पदार्थ अधिक पैदा या तैयार न हो अथवा वहाँ से आने में यातायात सम्बन्धी कोई बाधा उपस्थित हो जाय तो जनता का जीवन तो संकट में न पड़ेगा। साधारण परिस्थिति में, रोजमर्रा के जीवन में खासकर मूल आवश्यकताओं के पदार्थों के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गाँवों या नगरों में विनिमय-कार्य का बढ़ना परावलम्बन बढ़ाना है। इसका यथेष्ट नियंत्रण होना चाहिए, और एक देश से दूसरे देश का व्यापार तो और भी कम, तथा केवल कुछ खास दशाओं में ही रहने देना चाहिए।

तेइसवाँ अध्याय

मुद्रा व्यवस्था के दोष

आज लेनदेन एक मुनाफे की चीज बन गयी है, और महज लेनदेन का काम करने वालों ने संसार की सम्पत्ति पर अधिकार जमा रखा है। रुपये ने साधन को ही साध्य बना दिया है।

—जो० का० कुमारप्पा

साधन को साध्य समझ लेने का फल यह होता है कि हमारा सामूहिक जीवन, हमारा सामाजिक संगठन अब पारस्परिक श्रम और सहयोग पर अवलम्बित नहीं, पैसों के सहारे रोग, दुःख और अभाव के एक विचित्र गोरखधंधे में उलझा हुआ लड़खड़ा रहा है।

—रामकृष्ण शर्मा

आजकल विनिमय के माध्यम के लिए खासकर सोने चाँदी के सिक्के काम में लाये जाते हैं। नोट आदि कागजी मुद्रा का चलन बढ़ रहा है, उसका आधार धातु की मुद्रा ही है, और इसके एवजी या स्थानापन्न के रूप में ही उसका व्यवहार होता है। इस समय हमारे जीवन में मुद्रा का महत्व कितना बढ़ा हुआ है, तथा मुद्रा-व्यवस्था से क्या हानियाँ हैं—इन बातों का आगे विचार किया जाता है।

मुद्रा का बेहद महत्व—विनिमय की वर्तमान पद्धति से मुद्रा को असाधारण महत्व मिल गया है। पहले जब प्रत्येक गाँव अपनी रोजमर्रा की साधारण जरूरतें पूरी करने के लिए स्वावलम्बी था तो आदमी स्थानीय पदार्थों का अदल-बदल करके सहज ही अपना काम चला लेते थे। उन्हें पैसे की विशेष आवश्यकता नहीं होती। पैसा तो उन्हें खासकर उसी दशा में जरूरी मालूम होता था, जब उन्हें कोई ऐसी चीज लेनी होती थी जो दूर-दूर के स्थानों में मिलती थी। इस प्रकार पैसे का उपयोग बहुत कम ही होताथा।

भारत में सतरहवीं-अठारहवीं सदी तक ऐसी ही बात थी। श्री विनोबा ने कहा है—'अंग्रेजों के राज्य में यहाँ पर पैसे की कीमत बढ़ गयी। गाँव-गाँव के उद्योग टूट गये और गाँव के लोग शहर से चीजें खरीदने लगे। इस तरह से पैसे के गुलाम होने के कारण वे प्रेम को भूल गये। आजकल इन लोगों ने पैसे की विद्या बनायी है और उसको 'अर्थशास्त्र' नाम दिया है। अपने घर का पैसा कैसे बढ़ाना, इसकी वह विद्या है। लेकिन वह विद्या नहीं, अविद्या है।'

मनुष्य मुद्रा-जीवी हो गया है—पहले आदमी खाने पहनने आदि के काम में आने वाली चीजों का संग्रह रखता था। अन्न को धन मानने का प्रमाण 'धन-धान्य' शब्द के प्रयोग से मिलता है। 'गो-धन' शब्द भी यहाँ बहुत प्रचलित रहा है; गौ को धन की इकाई माना जाता रहा है। इस प्रकार मनुष्य पहले वस्तु-जीवी था। अब तो वह मुद्रा-जीवी है। धनवान कहे जाने वाले आदमियों के घरों में व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ बहुत मामूली परिमाण में ही होती हैं। लखपति या करोड़पति के यहाँ बहुधा साल भर के गुजारे लायक भी सामान नहीं होता। उसके यहाँ केवल सिक्के (या नोट) होते हैं। सिक्कों से आदमी का पेट नहीं भरता, न उसकी सर्दी गर्मी से रक्षा होती है। अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं, जब सिक्का बहुत बड़े परिमाण में होते हुए भी आदमी अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता।

पाठकों ने एक राजा की कथा पढ़ी होगी। उसे ऐसा वरदान मिला था कि वह जो चीज छूता था, वह सोने की बन जाती थी। वह खुश था कि मैं अपना सोने का भंडार मनचाहा बढ़ा सकता हूं। परन्तु जब उसका छुआ हुआ भोजन भी सोने में बदल गया और उसे भूखा रहना पड़ा तो उसे वरदान की तुच्छता मालूम हुई और वह उसे शाप समझने लगा। मुद्रा-व्यवस्था ने अब व्यक्तियों तथा देशों को कुछ वैसी ही हालत में ला दिया है, धन के लोभ के कारण हम भोजन-वस्त्र आदि की सामग्री को सिक्कों में बदल कर कष्ट पा रहे हैं।

श्रम और उत्पादन मुद्रा के लिए—इस समय हमारे समस्त लोक-व्यवहार का केन्द्र मुद्रा है; उसी के लिए हम श्रम करते हैं और उसी को लक्ष्य

में रख कर उत्पादन किया जाता है। इससे विविध प्रकार का श्रम और उत्पादन करने वालों का पारस्परिक मेल-जोल और घनिष्ठता नष्ट हो गयी है। जैसा कि श्री रामकृष्ण शर्मा ने लिखा है—'अब एक किसान दूसरे से यह कहता हुआ बहुत कम देखा जाता है कि भाई मेरे खेत में चार दिन सिंचाई करा दो, मैं तुम्हारे खेत में चार दिन गुड़ाई करा दूँगा। अब वह कहता है कि चलो हमारे खेत में पानी चला दो, दो आने पैसे दे दूँगा। श्रम ही नहीं, उत्पादन भी पैसों के लिए हो रहा है। कल वाला किसान जो गेहूँ, जौ या तूर की पैदावार करके अपनी तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व संभाले हुए था, आज वही जौ, गेहूँ या तूर की अपेक्षा गन्ने की फसल पर उतर आया है और चीनी की मिलें उसकी खड़ी फसल को लेकर तत्काल पैसे दे देती है; इस प्रकार वह अनेक झंझटों से बचने की तो सोचता ही है, पैसे भी उसे अधिक मिलते हैं। अब उसका लक्ष्य पैसों पर है, न कि जीवनावश्यकताओं पर।' *

मुद्रा-व्यवस्था से समाज के आर्थिक जीवन में अस्थिरता—पैसे का उपयोग वस्तुओं का मूल्य मापने वाली इकाई के रूप में है। यदि इस इकाई का ही मूल्य समय-समय पर बदलता रहे तो यह दूसरी वस्तुओं का मूल्य स्थिर रखने में सर्वथा असमर्थ होगी, यह स्पष्ट ही है। जब पैसे के मूल्य में अकस्मात या एक दम भारी उथल-पुथल हो जाती है तो जिस समाज की सारी अर्थव्यवस्था का आधार ही पैसा है, उसके जीवन में भयंकर अस्थिरता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। श्री विनोबा ने कहा है—'आज रुपये के एक सेर चावल, कल डेढ़ सेर, दस साल पहले १२ सेर थे; कौन जाने कब और कितना होगा। इस तरह इस झूठे पैसे को हम सिर्फ निबाह नहीं रहे हैं, हमारा कारोबार ही बना चुके हैं। अगर लफंगे को हम कारोबारी बनायें तो हम धोखे में नहीं आयेंगे तो और क्या होगा!'

मूल आवश्यकताओं की उपेक्षा और व्यापारिक वस्तुओं की भरमार—मुद्रा-व्यवस्था के कारण हम प्रायः ऐसी चीजों के उत्पादन की ओर अधिक ध्यान देते हैं, जिनसे मुनाफे आदि के रूप में हमें अधिक

---

* 'नवभारत'

से अधिक पैसा मिले। इससे विविध देशों में व्यापारिक वस्तुओं का परिमाण तो बढ़ गया है पर लोगों की मूल आवश्यकताओं की चीज़ें कम रहती हैं। व्यापारिक वस्तुओं को अनेक बार मध्यम श्रेणी के तथा निर्धन लोग भी खरीद लेते हैं, इससे उन्हें अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति में बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। इस प्रकार उनका जीवन संकटमय होने का एक मुख्य कारण व्यापारिक वस्तुओं की अधिकता है, जिसका मूल वर्तमान मुद्रा-व्यवस्था है। इस के चक्र में पड़ने से अब किसान केवल उपयोगी अनाज का उत्पादन नहीं करता, बल्कि वह कई ऐसी चीजों की खेती में लगा रहता है, जो समाज के लिए हानिकारक हैं। भूख से पीड़ित जनता के लिए अन्न पैदा करने के बजाय वह तमाखू आदि पैदा करता है, जिसे बेचने से उसे अधिक लाभ होता है। अस्तु, व्यापारिक दृष्टि से किया हुआ यह उत्पादन बहुत अनीतिमय और अनिष्टकारी है।

आदमी अपने पैदा किये हुए पदार्थों से वंचित—मुद्रा-व्यवस्था से हमें पद-पद पर 'समुद्र में भी मीन प्यासी' के उदाहरण मिलते हैं। अन्नदाता किसान प्रायः घटिया अन्न पर निर्वाह करते हैं, और वह भी उन्हें अनेक दशाओं में काफी नहीं मिलता। उनका बढ़िया अन्न उनके खाने के लिए नहीं होता, वह तो बिक्री के लिए होता है। किसान उसे बेच कर पैसा प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों के जिन ग्वालों के यहां मनों दूध होता है, उनके बच्चों को दूध नसीब नहीं होता। वे लोग अपनी गाय भैंस का अधिक से अधिक दूध निकालते हैं; यहाँ तक कि बछिया बछड़े और पड्डे को भी यथेष्ट दूध नहीं पीने देते। कुछ दशाओं में तो वे गाय के बच्चों को थोड़े दिन का होने पर ही कसाई को बेच कर उसके दाम उठा लेते हैं, और फिर गाय को धोखा देने के लिए, उसका दूध निकालते समय उसके सामने एक नकली बच्चा खड़ा कर देते हैं, जिससे गाय दूध देने लगे। इस प्रकार वे अधिक से अधिक दूध निकाल कर उसे बाजार में ले जाकर हलवाइयों के हाथ बेच देते हैं, अथवा उसे अपने घरों में जमा कर उससे घी निकाल कर पैसा प्राप्त करने की फ़िक्र में रहते हैं। उनके बच्चों को सिर्फ मट्ठा या छाछ मिलती है। माली या बागवान अपने यहाँ की सब अच्छी बढ़िया साग-भाजी और फलों को बेच डालते हैं। उनके बालकों को यह सिखाया

जाता है कि ये चीजें हमारे खाने की नहीं हैं, ये बेचने की हैं, इनके दाम उठाने हैं। इस तरह के अनेक उदाहरण हमारे चारों ओर मौजूद हैं और मुद्रा-व्यवस्था के दोषों की घोषणा कर रहे हैं।

परिग्रह और स्वार्थ-भावना की वृद्धि—वर्तमान मुद्रा-व्यवस्था में यह गुण समझा जाता है कि इससे आदमी को उसे बचा कर रखने, उसका संग्रह करने की सुविधा है। पर इसके दूसरे पहलू का विचार नहीं किया जाता। अब आदमी को परिग्रह के लिए अच्छा साधन मिल गया है। वह निन्यानबे के फेर में रहता है। अधिकाधिक मुद्रा-संग्रह करने की फिक्र करता है। उसकी तृष्णा की सीमा नहीं। पहले जब मुद्रा का चलन न था तो आदमी अन्य पदार्थों का संग्रह तो करता था, पर उसकी सीमा रखता था। अन्न आदि का संग्रह कोई कितना कर सकता है! उसके लिए पहले तो स्थान ही बहुत चाहिए। फिर, यह भी आशंका रहती थी कि वह कुछ समय में—वर्ष, दो वर्ष में—खराब हो जायगा। इसलिए आदमी उसमें से काफी हिस्सा आवश्यकता होने पर, दूसरों को देकर उनकी सहायता कर देता था। पर अब मुद्रा-व्यवस्था होने की दशा में वह बात नहीं रहीं। मुद्रा रखने के लिए स्थान नाम मात्र का चाहिए और उसके खराब हो जाने का डर है ही नहीं। आदमी उसे अपनी आवश्यकता से कहीं अधिक जोड़ता रहता है; उसके स्वार्थ और परिग्रह पर अब कोई अंकुश नहीं।

हिंसा, चोरी और लूट—स्वार्थ और परिग्रह की भावना बढ़ जाने की दशा में, समाज में जो आदमी शान्तिपूर्वक सरल सीधे उपायों से धन-संग्रह नहीं कर पाते उनमें से बहुत से नीति अनीति का विचार छोड़कर चाहे जैसे उपायों को काम में लाने लगते हैं। इस प्रकार हिंसा, चोरी और लूट का मार्ग प्रशस्त हो जाता है, और इसमें मुद्रा-व्यवस्था बहुत सहायक सिद्ध होती है। आदमी के लिए अनाज आदि तो दस-बीस रुपये का (मन दो मन वजन वाला) भी चुरा कर ले जाना बहुत कठिन है, पर वह सैकड़ों रुपये सहज ही इस तरह छुपा कर ले जा सकता है कि दूसरों को मालूम न हो। नोटों की तो बात ही क्या, वह तो बहुत ही बड़ी-बड़ी रकमों के आसानी से चुराये जा सकते हैं। अमीरों के यहाँ सौ-सौ वा हजार-हजार रुपये के नोट रहते हैं, वे कितनी बड़ी कीमती तक के ले जाये जा सकते हैं, यह पाठक सहज ही अनुमान करलें। अस्तु; हिंसा,

चोरी और लूट बड़े परिमाण में होने में मुद्रा-व्यवस्था विलक्षण रूप से सहायक है, यह स्पष्ट है।

[नोटों की चोरी तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं, यद्यपि इनसे उनका कुछ भला नहीं होता। उपर्युक्त पंक्तियाँ लिखते समय (२ अगस्त ५६) समाचार मिला कि छपरा मुफस्सिल थाने के शेरपुर गाँव में एक व्यक्ति जो अपने भीगे हुए ५-५ रुपये के दो नोट सुखा रहा था, उन्हें दो चिड़ियों ने चुरा लिया। वे दोनों नोट कुएँ में गिर गये थे और कठिनाई से बाहर निकाले गये थे। नोटों को चिड़ियों ने उससे अधिक जरूरतमन्द व्यक्ति को दिया था क्या किया, पता नहीं चला।]

लोक-जीवन में सरकार का हस्तक्षेप—मुद्रा का महत्व बहुत बढा हुआ होने से तथा उसे चलाने, उसका रूप और परिमाण निर्धारित करने का कार्य सरकार के सुपुर्द होने से हमारे सामाजिक जीवन में सरकार का हस्तक्षेप बहुत ही बढ़ गया है। हमें अपने रोजमर्रा के व्यवहार में अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सरकार का सहारा अनिवार्य प्रतीत होता है। हमारे जीवन की बागडोर उसके हाथ में चली गयी है। हम स्वयं सरकारी हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं और समय आने पर अपनी इस भयंकर भूल के दुष्परिणाम को भुगतते हैं। दूसरे महायुद्ध (१६३६-४५) के समय जनता को बाजार में अपने उपयोग की चीजें लेने में जो कठिनाई उपस्थित हुई, वह सर्वविदित है।

मानवता का ह्रास—विशेष खेद और लज्जा की बात यह है कि अब हम आदमी का मूल्य मुद्रा या धन में आंक रहे हैं, जो जितना अधिक धनवान है, वह उतना ही अधिक गुणवान और योग्य समझा जाता है। हम यह नहीं सोचते कि उन धनवानों में मानवी गुण कहाँ तक है, उन्होंने अपने सामाजिक जीवन में लोकसेवा क्या की है, उनमें नैतिकता कितनी है। इसका परिणाम यह है कि आदमी नेकचलन और अच्छे गुणों वाला बनने की परवाह न करके, जैसे भी हो धनवान होना चाहते हैं; और इसके लिए भले-बुरे सभी उपायों को काम में लाते रहते हैं। ऐसी विचारधारा और ऐसे व्यवहार से व्यक्ति का तथा समाज का पतन होना स्वाभाविक ही है। इससे बचने के तरीकों का विचार इस खंड के आखिरी अध्याय में किया जायगा।

कागजी मुद्रा—जो बातें रुपये-पैसे या धातु-मुद्रा के बारे में कही गयी हैं, वे कागजी मुद्रा अर्थात नोटों आदि के सम्बन्ध में भी लागू होती हैं; हाँ, अनेक दशाओं में, कहीं अधिक परिमाण में। नोटों को संग्रह करके रखना, रुपये-पैसे की अपेक्षा और भी अधिक सुविधाजनक है। फिर, बहुत सी मुद्रा सरकारी मोहर के कारण ही चलती हैं, उसका वास्तविक मूल्य (धातु मूल्य) उसके चलन-मूल्य से बहुत कम, यहाँ तक कि कुछ दशाओं में तो तिहाई-चौथाई ही होता है। कागजी मुद्रा में तो वास्तविक मूल्य कुछ होता ही नहीं। सौ रुपये का नोट हो या हजार रुपये का, उनका यह चलन-मूल्य केवल सरकारी मोहर से ही होता है। अन्यथा उस कागज का मूल्य एक पैसा भी न मिले। सिक्कों की तरह नोटों का मूल्य तत्कालीन सरकार की मोहर के कारण होता है। यह मूल्य तभी तक रहता है जब तक सरकार उसे मान्य करती है। किसी देश की सरकार के बदल जाने पर नयी सरकार उस मूल्य को अस्वीकार कर सकती है, फिर इससे चाहे उसे कुछ नैतिक क्षति ही उठानी पड़े। एक देश के नोटों का दूसरे देश में तो कोई मूल्य होता ही नहीं। अनेक बार जब किसी राज्य में नोट आवश्यकता से अधिक जारी कर दिये जाते हैं, और इनके लिए यथेष्ट धातु (सोना-चाँदी) नहीं रखा जाता तो वे अपने ही देश में अपना मूल्य बहुत-कुछ खो बैठते हैं। खासकर महायुद्ध आदि के समय इसका कटु अनुभव होता है। तो भी आदमी इन्हें प्राप्त करने और जोड़ कर रखने को बहुत उत्सुक रहते हैं, यद्यपि इनसे उनकी भूख-प्यास या सर्दी-गर्मी नहीं मिटती। उनकी कोई शारीरिक जरूरत पूरी नहीं होती।

विशेष वक्तव्य— पिछले समय में आदमी में सिक्कों या नोटों को जोड़-जोड़ कर रखने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रही है। बैंकों ने उसे इस कार्य में विलक्षण सुविधा प्रदान कर दी है। किसी आदमी की अधिकतम जमा कितनी (कितने हजार, लाख या करोड़ रुपये) होगी, इसकी अब कोई सीमा ही नहीं रही है। बैंकों के विषय में आगे लिखा जायगा, तभी यह भी विचार किया जायगा कि इनकी वर्तमान पद्धति में क्या दोष हैं, और वास्तव में इन्हें किस प्रकार चलाया जाना चाहिए।

चौबीसवां अध्याय

बैंक

पूँजी या धन के कुछ लोगों के हाथ में संचित हो जाने से भारत की आवश्यकता की पूर्ति न होगी; वह तो तभी होगी, जब उसका वितरण १६०० मील लम्बे और १५०० मील चौड़े इस भूखंड के सात लाख गाँवों में इस प्रकार हो कि वह गाँव वालों को सुलभ हो जाय।

— गाँधीजी

आम तौर से धन चाँदी और सोने के सिक्कों के रूप में ही जमा किया जाता है, और जमा करने का यही तरीका ज़हरीला है; हाँ बैंकों में जमा करना तो बेहद ज़हरीला है।........सचमुच सुख पैसे के जमा करने में नहीं है, उसके छितराने और बिखराने में ही है।

—भगवानदीनजी

मुद्रा तथा नोट आदि के बारे में लिख चुकने पर अब हम इनसे सम्बन्ध रखने वाली संस्था अर्थात् बैंकों के विषय में विचार करते हैं। अकसर हम बैंकों के फायदों की बात किया करते हैं और बैंकों के बढ़ने को देश की आर्थिक उन्नति का लक्षण समझते हैं। इनसे होने वाली बुराइयों की ओर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है।

बैंकों से हानि; पूँजी का केन्द्रीकरण—बड़े-बड़े यंत्रोद्योगों और कल-कारखानों में श्रम का केन्द्रीकरण होने की बुराइयाँ पहले बतायी जा चुकी हैं। बैंकों में पूँजी का केन्द्रीकरण होता है, इन में बहुत से आदमी अपनी-अपनी रकम जमा करते हैं; इससे जो पूँजी पहले बिखरी हुई होती है, वह एक-एक स्थान पर इकट्ठी हो जाती है। और, यह तो साधारण अनुभव की बात है कि जितने आदमी बैंकों में रुपया जमा करते हैं, उनकी अपेक्षा बैंकों से उधार लेने वालों की संख्या बहुत कम होती है। इस प्रकार जिस पूँजी का उपयोग पहल

बहुत से आदमी करते, बैंकों के कारण उसका केन्द्रीकरण हो जाता है, और उसका उपयोग थोड़े से ही आदमी करने लगते हैं ! ये लोग उसे ऐसे काम में लगाते हैं, जिससे इन्हें अधिक से अधिक आय हो; दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि इनके द्वारा पूँजी जनता का अधिक से अधिक शोषण करने में लगायी जाती है; इनके इस दुष्कर्म का सहायक साधन बैंक हैं।

बैंकों की दूषित व्यवस्था—बात यह है कि आजकल बैंक मुख्यतया मुनाफा कमाने में लगे रहते हैं। जो भी व्यक्ति या संस्था इन्हें अधिक ब्याज दे सकती है, उसे ही ये रुपया उधार दे देते हैं, फिर चाहे वह आदमी या संस्था उस रुपये को किसी भी लोकहित-विरोधी या जनता का शोषण करने वाले काम में लगाये। प्रायः प्रत्येक बैंक पर एक व्यक्ति अथवा कुछ इने-गिने व्यक्तियों का प्रभुत्व होता है, और वे ही उसके अधिकांश प्रबन्ध और मुनाफे के अधिकारी होते हैं। वर्तमान काल में अनेक आदमी बैंकों में रुपया जमा करके सिर्फ उसके सूद से खूब मौज उड़ाते हैं और बेकारी का जीवन बिताते हैं। सूद के बारे में खुलासा विचार अगले खंड में किया जायगा। यहां तो खासकर इस बातकी ओर ध्यान दिलाना है कि बैंक अपनी सफलता इसी में समझते हैं कि खूब रुपया जमा करके उससे अधिक से अधिक लाभ उठायें। अपनी आमदनी बढ़ाना ही वे अपना लक्ष्य मानते हैं, चाहे उनके द्वारा सर्वसाधारण का हित न हो कर, उलटा अहित ही क्यों न हो।

मिश्रित पूँजी के बैंकों का व्यवहार—उदाहरण के लिए मिश्रित पूँजी के बैंकों की बात लें, जो प्रायः परिमित देनदारी के होते हैं। इनके अनेक हिस्सेदार बैंक के कारोबार की ओर असावधान हो जाते हैं, और संचालक अनाप-शनाप खर्च कर डालते हैं। फिर, हिस्सेदारों (पूँजीपतियों) का श्रमियों से सम्पर्क नहीं रहता और वे उनके सुख दुःख का समुचित ध्यान नहीं रखते। अमरीका आदि कुछ देशों में बड़ी-बड़ी बैंक-कम्पनियाँ राजकर्मचारियों और प्रभावशाली व्यक्तियों को अपने पक्ष में करके मनचाहे कानून बनवाने में सफल हो जाती हैं। कुछ कम्पनियाँ अपने प्रतिद्वन्द्वियों को व्यवसाय-क्षेत्र से हटाकर पदार्थों को घटिया बनाकर अथवा महंगा बेचकर मनमाना मुनाफा लेने की

चिन्ता में रहा करती हैं। इन कम्पनियों में नैतिक आदर्श नहीं रहता। संचालक प्रायः अपने मित्रों तथा रिश्तेदारों को बड़े-बड़े वेतन पर नियुक्त करा देते हैं, और अपने मिलने वालों से कच्चा माल महंगे दामों में लाकर उसे कम्पनी के नाम लिखा देते हैं। बनावटी हिसाब के द्वारा वे मुनाफा अधिक दिखा देते हैं और इस प्रकार हिस्सों की कीमत बढ़ जाने पर अपने हिस्से बेचकर लाभ उठाते हैं। संचालकों की ऐसी बेईमानी तथा छल-कपट से सर्वसाधारण को बहुत धोखा और हानि होती है। राज्य के कानूनों द्वारा उन पर कुछ नियंत्रण किया जाता है, पर वे बहुधा कानून से बचने के नये-नये उपाय निकाल लेते हैं।

बैंकों से हमारे रुपये का हमारी भावना के विरुद्ध उपयोग—बैंकों से आजकल अनेक दशाओं में हमारा रुपया ऐसे काम में लगाया जाता है, जहाँ हम कभी लगाना न चाहते। प्रायः जब किसी आदमी के पास कुछ काफी बचत होती है तो वह उसे बैंक में जमा करा देता है। इसी प्रकार जब किसी संस्था के पास कुछ बड़ी रकम जमा हो जाती है तो यही समझा जाता है कि वह मंत्री या सभापति आदि किसी पदाधिकारी के काम न आकर किसी बैंक में जमा करा दी जाय, जिससे वह अधिक सुरक्षित रहे और ब्याज भी मिले। बैंक हम ऐसा ही पसन्द करते हैं, जो हमें सब से अधिक ब्याज दे। हम यह नहीं सोचते कि वह बैंक हमारी रकम का उपयोग कैसे काम में करेगा, और वह काम हमारी भावना के कहाँ तक अनुकूल या प्रतिकूल होगा। इस प्रकार यह सर्वथा सम्भव है कि गोरक्षा और ग्रामोद्योगों के लिए संचित निधि बैंकों द्वारा गोहत्या और यंत्रोद्योगी कार्यों में काम आये। श्री विनोबा ने कहा है—

'चर्खा संघ का पैसा बैंक में पड़ा रहता है, जिसका ब्याज उन्हें मिलता है। सोचने की बात है कि ब्याज मिलता कहां से है। वह पैसा दूसरे धंधों में लगाया जाता है, इसलिए ब्याज मिलता है। चर्खे के लिए दिया हुआ 'इयर-मार्क' (निश्चित परिमाण का) पैसा गोसेवा जैसे अच्छे काम में लगाया जा सकता है। यह मर्यादा हम मानते हैं और वह ठीक भी है। लेकिन बैंकों द्वारा दूसरे धंधों में वह लगाया जा सकता है और लगाया जा रहा है। यह एक महान आपत्ति है। यह धन-लोभ ही है, चाहे संस्था के नाम से ही क्यों न हो। इसी तरह हमने कस्तूरबा कोष में फंड इकट्ठा किया है और अब गांधी जी

के स्मारक में किये जा रहे हैं। इतने पैसे की जरूरत क्यों होनी चाहिए? और अगर पैसे की जरूरत है और उसे इकट्ठा किया गया है तो साल दो साल में वह खत्म करना चाहिए। पर वह बनता नहीं और बैंक में पैसा रख कर ब्याज लेने की बात चुभती नहीं। उसमें हम दोष नहीं देखते; कारण, हम रहते ही ऐसे समाज में हैं, जहाँ ब्याज न लेना मूर्खता माना जाता है।' *

अमानुषिक व्यवहार—बैंकों के कारण अब आदमी लाखों करोड़ों रुपये आसानी से उनमें जमा कर सकता है। लोभी व्यक्ति अपनी बैंक की जमा बढ़ाने में लगा होता है। उसके लोभ की कहीं सीमा नहीं। दस हजार रुपये जमा हो गये तो ग्यारह हजार करने की इच्छा है। अगर दस लाख हो जायं तो ग्यारहवें लाख के लिए प्रयत्न जारी रहेगा, चाहे उसके पास पड़ोस के आदमी या रिश्ते-दार आदि घोर आर्थिक कष्ट सहते हों। पहले जब आदमी के पास अन्न का भंडार होता था तो वह जब दूसरों को भूखा-नंगा देखता तो उसका हृदय सहज ही पिघल जाता और वह उनकी सहायता के लिए अपना भंडार खोल देता, पर अब आदमी अपनी बैंक की जमा में सहज ही कमी करना नहीं चाहता, उसे हमेशा यह फिक्र लगी रहती है कि अगर वह करोड़पति है तो कहीं लखपति न रह जायं।

बैंकों का उद्देश्य क्या हो?—बैंकों को चाहिए कि जनसाधारण की रोजमर्रा की आर्थिक समस्याएं हल करने में सहायक हों, खेती और उद्योग धंधों की उन्नति के लिए आवश्यक सुविधाएं प्रदान करें, खासकर गांवों की जनता के मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ दूर करें। पहले कहा जा चुका है कि किसी देश की आर्थिक उन्नति का माप यह नहीं है कि उसकी नकदी या पूंजी का परिमाण बहुत अधिक हो, वरन् यह है कि उससे आम निवासियों की मूल आवश्यकताएँ पूरी हों, और उन्हें अपने सांस्कृतिक विकास का अवसर मिले। बैंकों को इस दिशा में महत्वपूर्ण भाग लेनेवाला होना चाहिए।

बैंकों की कार्य-प्रणाली का सुधार—इस समय बैंकों का मुख्य काम

---

* सर्वोदय सम्मेलन, राऊ, के खुले अधिवेशन में दिये गये भाषण से।

लोगों का रुपया जमा करके उस पर साधारण सूद देना और दूसरे आदमियों को उधार देकर उनसे अधिक सूद लेना है। इस प्रकार वे सूद लेते हैं,और देते भी हैं। 'सूद' के अध्याय में आगे बताया जायगा कि सूद लेना सर्वोदय भावना के विरुद्ध है, और सूद की आमदनी वसूल करने के लिए सूद पर रुपया जमा करना भी अनुचित है। व्यक्तियों की भांति संस्थाओं की कार्य-प्रणाली में सर्वोदय दृष्टि रहनी चाहिए। इस प्रकार बैंक ऐसे होने चाहिए जो लोगों का कष्ट या संकट हटाने में सहायता करें, और अपना स्वार्थ सिद्ध करने का लक्ष्य न रखें। उन्हें तो लोकहित के लिए यथा-सम्भव त्याग करने का ही आदर्श रखना है। ऐसे बैंक सूद आदि की आमदनी के साधन न होकर घाटे का ही कारोबार करेंगे।

जब कि बैंकों को अपनी पूंजी बढ़ाने का लोभ नहीं होगा, तो ये हर किसी को उधार देने की बात नहीं सोचेंगे। ये तो ऐसे ही व्यक्तियों को उधार देंगे, जिन्हें उसकी आवश्यकता वास्तव में अपने भरण-पोषण या विकास के लिए है, न कि नशेखोरी, विलासिता, ऐश्वर्य और बाहरी आडम्बर के लिए।

यह कहा जा सकता है कि ऐसी कार्यपद्धति वाले बैंक चलेंगे कैसे। उनमें रुपया कहाँ से आयेगा! इस विषय में हमें जानना चाहिए कि परोपकार भाव से काम करने वाले, दूसरों के लिए त्याग करने या घाटा उठाने वाले थोड़े-बहुत व्यक्ति सभी जगह सभी समय में होते रहे हैं। ऐसे व्यक्तियों को खोज कर उनका संगठन किया जाय। यदि स्वार्थी धनिकों का संगठन हो सकता है, तो क्या परोपकारी धनिकों का संगठन नहीं हो सकता, जब कि वे भी समाज में निश्चित रूप से हैं। हाँ, ऐसा संगठन करने वाले में साहस, धैर्य और लगन चाहिए। अस्तु, यह कोरी कल्पना नहीं है कि परोपकारी व्यक्ति परोपकारी बैंकों के हिस्सेदार बनें और उसमें रुपया जमा करें। यह रकम क्रमशः बढ़ने के बजाय घटेगी; पर इसके साथ परोपकारी भाई बहनों की नयी रकमें आती रहेंगी। इस प्रकार बैंकों का कारोबार चलता रहेगा। परन्तु यदि पूंजी खर्च हो जाय और नयी पूंजी जमा न हो तो भी घबराने की कोई बात नहीं। जब तक जो बैंक रहेगा, उससे लोक-कल्याण होगा। स्वार्थी बैंक भी तो अजर अमर नहीं होते। *

* 'व्याज वट्टयात्रा निषेध' (ले०—श्री अप्पा पटवर्धन) के आधार पर।

सहकारी समितियों की नीति और कार्य—बैंकों का एक भेद सहकारी बैंक हैं, उनका संचालन सहकारी समितियों द्वारा होता है। इनकी नीति भी रुपया कमाने या अपनी पूंजी बढ़ाने की न होनी चाहिए। इन्हें परोपकारी भावना से काम करना है। इसलिए इन्हें उन बातों का विचार रखना है,जो बैंकों की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में बतायी गयी हैं। इस प्रकार इनके सदस्यों को चाहिए कि जिस भाई की फसल अच्छी हो, वह ऐसे गल्ले को जो उसकी जरूरत से अधिक हो, ऐसे लोगों के उपयोग के लिए समिति में जमा करे जिनकी फसल अच्छी नहीं होती, या जिनकी फसल उस वर्ष खराब हो गयी हो। जो गल्ला आदि गाँव भर की जरूरत से अधिक हो वह पास पड़ोस के गाँव के काम आ जाना चाहिए।

अगर किसी साल, किसी गाँव में सभी किसानों की फसल खराब हो जाय या कोई अन्य संकट उपस्थित हो तो उस गाँव की सहकारी समिति से यथेष्ट सहायता मिलनी चाहिए।

ऐसी नीति रखते हुए, प्रत्येक बड़े गांव या ग्राम-समूह में बहु-उद्देश्य सहकारी समिति स्थापित होनी चाहिए, जिसके कुछ कार्य ये हों—

१—वह गाँव वालों के लिए आवश्यक और अच्छे अन्न का, तथा ग्रामोद्योगों के वास्ते कच्चे पदार्थों का यथेष्ट संग्रह करे।

२—वह गाँव की अतिरिक्त-पैदावार की बिक्री का प्रबन्ध करे, तथा उसके बदले में गाँववालों की अन्य आवश्यकताओं का सामान मंगाने और उसे गाँवों में वितरण करने की व्यवस्था करे।

३—वह खेती के लिए बढ़िया बीज तथा कुदरती खाद आदि का संग्रह रखे और किसानों को आवश्यकतानुसार दे। इसी प्रकार वह उद्योग धन्धों में काम आने वाले औजार आदि उपकरणों की समुचित व्यवस्था करे।

४—वह सरकार और जनता के बीच में मध्यस्थ रूपसे रहती हुई सरकारी मालगुजारी वसूल करने का प्रबन्ध करे।

आजकल फसल के दिनों में अनाज दूर-दूर की केन्द्रीय मंडियों में बिक्री

के लिए ले जाया जाता है, और पीछे जब गाँव वालों को जरूरत होती है तो वे उन मंडियों से ही बहुत मंहगे भाव से लाने के लिए वाध्य होते हैं। इसे लाने-लेजाने में काफी खर्च पड़ता और बहुत बर्बादी होती है। सहकारी समितियों के प्रयत्न से अनाज-बैंक खोले जाकर इसमें रोक-थाम होनी चाहिए।

अनाज-बैंक—इस समय बैंक प्रायः नकद रुपया ही जमा करते हैं। इससे किसानों को बहुत असुविधा और हानि होती है। कल्पना करो, किसी किसान को फसल के समय तीन मन अनाज बेचना है, जिसका भाव तीन सेर फी रुपया है, तो उसे उसके चालीस रुपये मिलते हैं, इसमें से किराया, चुंगी दस्तूरी, दलाली आदि के दो-तीन रुपये और निकल जाते हैं। पीछे किसान जब इस रुपये से अन्न खरीदना चाहता है तो अन्न का भाव चढ़ा हुआ होता है, सम्भव है, वह दो सेर का ही हो; फिर उसे मंडी से लाने में खर्च भी पड़ेगा। इस प्रकार उसे पौने दो मन से भी कम अन्न मिल पायेगा। इससे किसान को होने वाली हानि स्पष्ट है। पहले की अपेक्षा उसकी क्रय-शक्ति लगभग आधी ही रह गयी। सहकारी समितियों का काम है कि अन्न आदि वस्तुओं के बैंकों की पद्धति चला कर किसानों को इस अपार हानि से बचाये। ऐसे बैंक में किसान फसल के समय अपना अतिरिक्त अन्न जमा कर सकते हैं इस अन्न-कोष में से कोई किसान आवश्यकता होने पर निर्धारित नियमों के अनुसार अन्न ले सकता है। यह कार्य मुनाफे के लिए नहीं होगा, वरन् किसानों में सहकारिता की भावना बढ़ाने और उन्हें एक-दूसरे को सहायता करने की क्रियात्मक शिक्षा देने के लिए होगा। कुछ स्थानों पर इस तरह की योजना अमल में आ रही है। आवश्यकता है, स्थान-स्थान पर ऐसी व्यवस्था हो; हां, अनाज को अच्छी दशा में रखना और समय-समय पर बदलते रहना चाहिए।

वस्तु-विनिमय बैंक—अनाज-बैंको के अतिरिक्त, जगह-जगह वस्तु-विनिमय बैंकों की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इन बैंकों में मनुष्य के काम आने वाली प्रमुख वस्तुओं का संग्रह रहे, और आदमियों को कोई वस्तु जमा करके, उसके जदले में दूसरी वस्तु लेने की सुविधा हो। एक गांव या ग्राम-समूह के आदिमियों को अपनी पैदावार बेचने तथा अपनी अन्य मूल आवश्यकताओं के पदार्थों को खरीदने के लिए दूर-दूर जाने की जरूरत न

हो। उनका काम वहाँ का वहाँ ही हो जाय; और वे क्रय-विक्रय की जटिलता से तथा इससे होने वाली आर्थिक हानि से बचें।

श्रम-बैंक—ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए कि आदमी अपने श्रम के बदले भी जीवन की प्रमुख आवश्यकताओं के पदार्थ प्राप्त कर सकें। श्रम करने का इच्छुक कोई व्यक्ति अपनी आजीविका की खोज में इधर-उधर भटकता फिरे, यह हमारे सामाजिक जीवन की दूषित पद्धति का जीता-जागता प्रमाण है। इस का अन्त होना ही चाहिए, और, इसका उपाय उपर्युक्त श्रम-बैंक ही है। प्रत्येक ग्राम या ग्राम-समूह की पंचायत को यह जानते रहना चाहिए कि वहाँ किस प्रकार के कैसे-कैसे काम की आवश्यकता है, और कौन-कौन व्यक्ति उसे पूरा करने योग्य हैं। इस प्रकार वह व्यक्ति और श्रम का सामंजस्य बैठाये। ऐसा होने से लोगों को पैसे की वर्तमान दासता से छुटकारा मिलेगा और वे अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अच्छा नागरिक जीवन बिता सकेंगे।

राष्ट्रीय बैंक—प्रत्येक राज्य में एक राष्ट्रीय बैंक होना चाहिए, जिसकी शाखाएं देश के खास-खास केन्द्रों में हों। इस बैंक का कार्य बड़े पैमाने पर हो; यह अन्य बैंकों को आवश्यक होने पर सहायता दे। साधारणतया ऐसी सहायता का अवसर कम ही आयेगा, जब कि देश भर में सहकारी बैंक, अनाज-बैंक और वस्तु-विनिमय बैंकों का जाल सा बिछा हुआ होगा और ये सब बैंक एक दूसरे के सहायक होंगे। हां, कभी संयोग से किसी बड़े क्षेत्र में अकाल आदि पड़ जाय तो राष्ट्रीय बैंक उसका कष्ट-निवारण करेगा। यह बैंक किसी ऐसी फसल की खेती को या ऐसे उद्योग धंधे को कोई सहायता न देगा, जिसके द्वारा केवल मुट्ठी भर लोगों को खूब मुनाफा, और थोड़े से आदमियों को आजीविका मिले, परन्तु बहुसंख्यक श्रमी बेकार हो जायँ।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में प्रत्येक ग्राम या ग्राम-समूह अपनी मूल आवश्यकताओं के सम्बन्ध में स्वावलम्बी होगा तो देश के स्वावलम्बी होने में कोई शंका ही नहीं है। तथापि विशेष परिस्थितियों में ऐसा सम्भव है कि किसी ऐसी वस्तु की आवश्यकता हो जो दूसरे देश से लेनी पडे। इस प्रकार कुछ विदेशी विनिमय

की आवश्यकता होगी, यह कार्य राष्ट्रीय बैंक द्वारा किया जायगा, और जैसा आगे बताया जायगा, अनेक दशाओं में वस्तु-विनिमय द्वारा ही हो सकेगा।

विशेष वक्तव्य—भारत में तथा और भी बहुत से स्थानों में बैंक सर्वसाधारण की संस्था नहीं हैं। इनका अधिकांश कारोबार कुछ धनी लोगों तक सीमित होता है, उन्हें ये और अधिक धनवान बनाने में सहायक होते हैं। इन बैंकों में करोड़ों, अरबों रुपये जमा होते हुए भी देश के असंख्य गरीबों के लिए इनका होना न होना बराबर है। उन्हें इनसे कोई राहत नहीं मिलती। इन बैंकों का आधार पूंजी है, श्रम या जिन्स नहीं। आवश्यकता है कि ये श्रम और जिन्स के आधार पर चलाये जायँ, और यदि इनमें कुछ द्रव्य हो, वह भी सर्व साधारण के हित में काम आये।

———

पचीसवां अध्याय

सही कीमत

जीवन के लिए ज्यादा महत्व की चीजों की कीमत ज्यादा आंकी जाय और कम महत्व की चीजों की कीमत कम।

—किशोरलाल मश्रूवाला

सामाजिक आवश्यकता से ही किसी चीज की कीमत आंकी जानी चाहिए। आज हमारी शिक्षा तो हमें हर चीज को पैसे से तोलने का सबक सिखा रही है।

—जो. का. कुमारप्पा

अर्थशास्त्र में मूल्य या कीमत का बड़ा महत्व है, यहाँ तक कि इसे अर्थशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है। वास्तव में हमारे जीवन में मूल्यांकन का विषय बहुत विचारणीय है।

मूल्य के दो भेद—जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु बहुत मूल्यवान या कीमती है तो इसके आगे दिये दो अर्थों में से कोई एक या दोनों ही हो सकते हैं—(१) इसकी उपादेयता बहुत है, यह बहुत उपयोगी है, और (२) इससे दूसरी वस्तुएँ बड़े परिमाण में खरीदी जा सकती हैं या इसके खरीदने के लिए दूसरी वस्तुओं की काफी परिमाण में आवश्यकता है। इस तरह मूल्य के दो भेद हुए—उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य। बहुत-सी चीजों का उपयोग-मूल्य अपेक्षाकृत बहुत अधिक होने पर भी उनका विनिमय-मूल्य नहीं के बराबर होता है; इसके विपरीत, अनेक वस्तुओं का उपयोग-मूल्य प्रायः कुछ भी नहीं या बहुत कम होने पर भी उनका विनिमय-मूल्य बहुत बढ़ा-चढ़ा रहता है।

उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य में अन्तर—कितनी ही चीजों के उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि कुछ चीजें (जिनमें मनुष्य के जीवन-रक्षक पदार्थ भी हैं) बहुत बड़ी मात्रा में मिल जाती हैं, वे प्रकृति-दत्त हैं और प्रकृति ने उन्हें खूब उदारता से दिया है। आदमी उनका नित्य काफी परिमाण में उपयोग करता है और उपयोग करते-करते वह यह भूल सा गया है कि उनकी उपयोगिता कितनी अधिक है। इसके विपरीत, दूसरी कुछ चीजें ऐसी हैं जो बहुत परिमित परिमाण में ही मिल पाती हैं। यद्यपि मनुष्य के लिए उनकी उपयोगिता विशेष नहीं है, पर उसके मन में उनके वास्ते खास आकर्षण है, वह उनको संग्रह करके रखना चाहता है। वर्तमान अर्थशास्त्रियों की भाषा में उनकी मांग बहुत है, और पूर्ति कम है। लोगों में उन्हें लेने के लिए प्रतिस्पर्द्धा या चढ़ाऊपरी है। इस से उनके दाम अस्वाभाविक रूप से बढ़ जाते हैं। एक हीरे आदि का उपयोग-मूल्य नहीं के बराबर होने पर भी उसका विनिमय-मूल्य हजारों और लाखों रुपये होता है।

पैसे को प्रतिष्ठा देना और अन्न की कीमत कम समझना गलत—आज हम पदार्थों के उपयोग-मूल्य का विचार न कर विनिमय के विचार से ही उसका मूल्यांकन करते हैं। यह सरासर अनुचित है। श्री विनोबा ने कहा है 'इन दिनों लक्ष्मी का रूपांतर पैसे में किया जाता है। हम बाजार में चावल बेचने के लिए ले जाते हैं तो व्यापारी एक भाषा बोलता ही नहीं। कभी कहता है चार आने सेर तो कभी छः आने सेर। इस तरह दाम बदलते रहते हैं। किसान समझता ही नहीं कि दाम क्यों बढ़ने-उतरने चाहिएँ। एक सेर चावल का मूल्य यह है कि उससे एक मनुष्य को एक दिन का पोषण मिलता है। एक सेर अनाज की यह जो कीमत है वह न कम होती है, न बढ़ती है। पिछले साल एक सेर अनाज से जितना पोषण मिलता था, उतना ही इस साल भी मिलता है, लेकिन फिर भी बाजार में उसके दाम गिरते-बढ़ते हैं। समझने की बात है कि चावल की कीमत न बढ़ती है न गिरती है, बल्कि पैसे की कीमत बढ़ती है और गिरती है क्योंकि उस पैसे की कोई कीमत ही नहीं है। उसे काल्पनिक

कीमत दी गयी है। चावल की कीमत तो तब बढ़ेगी-गिरेगी, अगर कहीं ऐसा होजाय कि एक सेर चावल से जितना पोषण मिलता था, उतना ही पोषण सवा सेर या ७० तोले चावल से मिले। आपको खेत में जाकर मेहनत करनी पड़ती है तब चावल पैदा होता है, लेकिन पैसा तो नासिक के छापाखाने में पैदा होता है। उस पैसे की बराबरी चावल से कैसे होगी? चावल है लक्ष्मी, वह पोषण देता है; और पैसा है कागज या धातु। क्या पांच रुपये का नोट चबाकर खाने से पोषण मिलेगा? इसलिए पैसे को प्रतिष्ठा देना और अन्न की कीमत कम समझना बिलकुल गलत है।

कीमत सम्बन्धी वर्तमान धारणा से अनिष्ट—आजकल सेर भर रोटी की अपेक्षा पाव भर लोहा और पाव भर लोहे की अपेक्षा एक तोला सोना तथा सेर भर दूध की अपेक्षा छटांक भर शराब अधिक कीमती मानी जाती है। हम 'कीमती' चीजों के संग्रह और संचय में लगे हैं। धनी कहे जाने वाले आदमियों के घरों में उनके उपयोग के विविध सामान के अलावा जो धन होता है, वह सोना, चांदी, सिक्के या नोट आदि के रूप में होता है, जिसे वे अपने दूसरे भाइयों की सहायता के लिए खर्च करने में काफी कंजूस होते हैं। हमारा धनवान होना दूसरों के क्या काम का! अनेक बार हमारा गांव या नगर अर्थशास्त्रियों के हिसाब से धनी गिना जाते हुए भी भूखे मरने वालों का निर्दय साक्षी होता है।

आमूल परिवर्तन की आवश्यकता; सर्वोदय दृष्टि—कीमत सम्बन्धी वर्तमान विचार-धारा को आमूल बदलने से ही नीति और मानवता की रक्षा होगी। हमारा व्यवहार ऐसा होने की आवश्यकता है कि जीवन के लिए जो चीज जितने अधिक महत्व की हो, उतनी ही उसकी कीमत अधिक मानी जाय। इस विषय में श्री किशोरलाल मश्रूवाला के कुछ सुझाव ये हैं*—

१—प्राणों की, खासकर के मनुष्य के प्राणों की, कीमत सबसे ज्यादा आंकी जानी चाहिए। किसी भी जड़ पदार्थ और स्थान की प्राप्ति को मनुष्यों के प्राणों से ज्यादा महत्व नहीं देना चाहिए।

---

* 'जड़-मूल से क्रान्ति' पुस्तक से

२—अन्न, जलाशय, कपड़े, घर सफाई व तन्दुरुस्ती वगैरह से सम्बन्ध रखने वाली चीजें और उन्हें सिद्ध करने वाले धंधे दूसरी सब चीजों और धंधों की अपेक्षा पैसे के रूप में ज्यादा कीमत उपजाने वाले होने चाहिएँ।

३—देश की महत्व की सम्पत्ति उसकी अन्न पैदा करने की शक्ति और मानव संख्या के आधार पर निश्चित की जानी चाहिए, उसकी खनिज सामग्री, विरल सम्पत्ति या यंत्रों के आधार पर नहीं। अगर एक आदमी के पास सोना या पेट्रोल पैदा करने वाली पाँच एकड़ जमीन हो और अन्न पैदा करने वाली पाँच सौ एकड़ की खेती हो और उसे इन दोनों में से एक को छोड़ना पड़े तो आज के अर्थशास्त्र के मुताबिक वह पांच सौ एकड़ की खेती को छोड़ देगा। सच्ची कीमत-गणित के मुताबिक उसे पाँच एकड़ की खदान छोड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए; यानी ऐसा तरीका काम में लाना चाहिए जिससे सम्पत्ति की कीमत स्वर्णपट्टी से नहीं, अन्नपट्टी से और उपयोगिता की शक्ति से आँकी जाय।

४—'सोने का भाव अमुक रुपये तोला है और चावल का भाव अमुक रुपये मन है'—इस भाषा में अब कोई अर्थ नहीं रह जाना चाहिए। सच पूछा जाय तो इसमें कोई अर्थ रहा भी नहीं, क्योंकि रुपया खुद ही स्थिर माप नहीं है। 'सोने का भाव फी तोला अमुक मन गेहूं या चावल है', ऐसी भाषा काम में लानी चाहिए।

सामाजिक न्याय और कीमतें—सामाजिक न्याय की मांग है कि किसी पदार्थ की कीमत मांग और पूर्ति के निर्दयी नियम से निश्चित न होकर उसके उत्पादक के भरण-पोषण की आवश्यकता के अनुसार तय होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, जैसा श्री जो० का० कुमारप्पा ने कहा है—कल्पना कीजिए कि एक खजूर का रस निकालने वाले को अपने संतुलित आहार, स्वास्थ्यप्रद मकान आदि के लिए आज की कीमतों के अनुसार १५० रुपया प्रति माह की आवश्यकता है तो जितना रस वह ईमानदारी और होशियारी से एक माह में निकाल सके, उसके लिए उसे १५० रुपया प्रति माह मिलना चाहिए। हो सकता है कि इसके लिए हमें गुड़ की कीमत आज की बनिस्बत ज्यादा ऊँची रखनी पड़े। यदि हमारा उद्देश्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना है तो ऊँची कीमतों से डरना नहीं चाहिए।

छब्बीसवां अध्याय

व्यापार और उसके साधन

आपके गांव में सब तरह की शक्ति है, तोभी आप भिखारी हैं...आप अपनीं चींजो को बेचना चाहते हैं। और बेचते क्यों हैं ? पैसे के लिए। और, पैसा क्यों चाहिए ? बाहर से सारा पक्का माल खरीदने के लिए। अपना कच्चा माल आप बेचते हैं और पक्का माल मोल लेते है; इस तरह से आप लोग स्वराज्य का अनुभव नहीं कर सकेंगे।

—विनोबा

समाज की अर्थव्यवस्था में व्यापार का स्थान—आरम्भ में आदमी का मुख्य कार्य उत्पादन था; समाज में अदल-बदल, पदार्थ-विनिमय या व्यापार का स्थान बहुत समय तक गौण था। उत्पत्ति में तो सब आदमी भाग लेते थे और व्यापार में थोड़े से ही; और जो आदमी व्यापार करते थे, वे अकेले इसी काम में न लगे रहकर उत्पादक कार्य अवश्य करते थे। समाज का कोई वर्ग ऐसा न था, जो केवल व्यापार ही करे। अब तो व्यापारियों का एक अलग और बहुत बड़ा वर्ग है। वे उत्पादक न होकर केवल खरीद-बेच करने वाले रह गये हैं। वे उत्पादकों और उपयोक्तातों के बीच में मध्यस्थ बने हुए हैं। इसलिए ये समाज के उक्त दोनों वर्गों को अधिक से अधिक दूर रखने में अपना हित मानते हैं। वे उत्पादकों के आश्रित हैं; अगर उनसे उन्हें कुछ माल मिल जाता है तो वे उसे उपयोक्ताओं के पास पहुँचा देते हैं, अन्यथा उन्हें कुछ काम नहीं रहता। इसलिए वे चाहते हैं कि उत्पादक ऐसा माल बनावें जिसकी उपयोक्ताओं में अधिक से अधिक और जल्दी से जल्दी खपत हो और वे (व्यापारी) खूब मुनाफा ले सकें।

व्यापार एक सेवा-कार्य है—असल में व्यापार वह है जिसमें आदमियों की ऐसी चीजों को, जो उनकी जरूरत से ज्यादा हों, उन आदमियों के

पास पहुँचाया जाय, जिन्हें उनकी अनिवार्य आवश्यकता हो। इस प्रकार व्यापार का अर्थ केवल अतिरिक्त वस्तुओं का ही विनिमय है; अपने मुनाफे के वास्ते लोगों को उनके लिए आवश्यक भोजन-वस्त्र से वंचित करके उन्हें कुछ फैशन, शृंगार, भोगविलास की वस्तुएं देना नहीं। इस प्रकार असली व्यापार के एक सेवा-कार्य होने में कोई सन्देह नहीं है। व्यापारियों को जानना चाहिए कि स्थानीय जनता की मूल आवश्यकताओं की कौन-कौनसी वस्तुओं की कमी है, और कौनसी वस्तुएँ ऐसी हैं जो उनकी आवश्यकता से अधिक हैं। फिर उन्हें मालूम करना चाहिए कि ऐसे स्थान कौनसे हैं जहाँ वे अपने यहाँ की अतिरिक्त वस्तुओं को लेजाकर या भेजकर वहाँ से ऐसी वस्तुएँ ला सकते हैं या मंगा सकते हैं, जिनका वहाँ तो उपयोग न होता हो, पर जो यहाँ (व्यापारियों के स्थान में) बहुत आवश्यक हों। इस प्रकार व्यापारी दोनों स्थानों के निवासियों का हित-साधन कर सकते हैं, और करना चाहिए।

सेवा का पारिश्रमिक—पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान लाने-लेजाने में जो खर्च हो, उसे तो व्यापारी अपने ग्राहकों से लेगा ही, इसके अतिरिक्त वह अपने श्रम का उचित प्रतिफल या मेहनताना भी ग्राहकों से ले सकता है। इस प्रकार पदार्थों को खरीदने की कीमत से एक निर्धारित सीमा तक ऊँचे भाव से बेचने में कोई हर्ज़ नहीं है; हाँ, उसका कार्य जनता को सुविधाएं पहुँचाना है, और सेवा-भाव से ही किया जाना चाहिए। स्पष्ट है कि व्यापारी के सेवा-कार्य के पारिश्रमिक की एक मर्यादा रहनी चाहिए। उसे उन लोगों की हैसियत का ध्यान रखना जरूरी है, जिनकी वह सेवा करता है। मामूली किसान और मजदूर के मेहनताने से अधिक लेने का उसे कोई नैतिक अधिकार नहीं। वर्तमान दशा में व्यापारी के मेहनताने की कोई सीमा ही नहीं, उसकी एक दिन की आमदनी इतनी हो सकती है जितनी किसी साधारण किसान की एक महीने में या कई-कई महीनों में भी नहीं होती।

सेवक श्रीमान बन गया!—इस प्रकार आधुनिक काल में व्यापारी श्रीमान बन गया है। वह अपने स्वामी से कहीं अधिक धनवान है जो सरासर अनुचित और अन्यायमूलक है! इस विषय में श्री विनोबा ने कहा है—

'मालिक गरीब बन गया है और सेवक श्रीमान बन गया है। और वह श्रीमान कैसे बना! मालिक को लूट कर। आज अगर उन सेवकों को कोई उनका धर्म सिखाये तो वे नहीं सीखेंगे। इसलिए अब मालिक को ही जाग जाना चाहिए। मालिक के जागने का मतलब यह है कि वह अपना आधार बाजार पर न रखे। मेरा तो विश्वास है कि अगर गाँव वाले अपनी जरूरत की चीजें गाँव में बना लेंगे तो हर गाँव बादशाह बन सकता है।' *

इस समय व्यापार कैसा होता है, और उसमें क्या नीति वर्ती जाती है, तथा सर्वोदय की दृष्टि से उसमें क्या परिवर्तन होना चाहिए, इन बातों का विचार अगले अध्याय में किया जायगा; यहाँ व्यापार के मार्ग और साधनों के सम्बन्ध में लिखा जाता है।

व्यापार के मार्ग और साधन—व्यापार के तीन मार्ग हैं—स्थल-मार्ग, जल-मार्ग और वायु-मार्ग। स्थल-मार्ग में कच्ची या पक्की सड़कों पर ठेलों, पशुओं, मोटरों (मोटर-लारियों) आदि से या लोहे की पटरी पर रेल से माल ढोया जाता है। कहीं-कहीं रेलें जमीन के नीचे भी जाती हैं। जल-मार्ग में नदियों, नहरों और समुद्र की गिनती होती है; इनमें नाव, स्टीमर और जहाज आदि चलते हैं। पनडुब्बियों से भी माल ढोया जाता है। वायु-मार्ग से हवाई जहाजों द्वारा माल लाया-लेजाया जाता है। सभी प्रकार के व्यापार में डाक, तार, टेलीफोन, बेतार का तार आदि सहायक होते हैं।

इनके उपयोग में ध्यान देने की बात—वर्तमान अर्थव्यवस्था में व्यापार को बहुत अधिक महत्व दिया जाने के कारण प्रत्येक देश उपर्युक्त साधनों की उन्नति और वृद्धि की ओर खूब ध्यान देता है और इस मद में काफी खर्च करता है। हम पहले कह आये हैं कि आधुनिक व्यापार अधिकांश में निजी मुनाफे के लिए किया जाता है। सर्वोदय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से यह सेवा के लिए किया जाना चाहिए; उस दशा में इसका परिमाण स्वभावतः बहुत कम रह जायगा। तब इन साधनों के उपयोग की भी इतनी आवश्यकता न रहेगी, तथापि कुछ तो रहेगी ही। इसके अतिरिक्त यातायात के वास्ते भी ये

---

* 'सर्वोदय यात्रा'

साधन जरूरी हैं। और, संसार के विविध देशों के आदमी एक दूसरे से सम्पर्क बढायें और भ्रातृभाव स्थापित करें—यह आवश्यक और उपयोगी है। इसलिए इन साधनों की उन्नति और वृद्धि होना भी उचित है। परन्तु इसमें एक बात का ध्यान रखना बहुत जरूरी है। इन साधनों का निर्माण तथा उपयोग इस प्रकार होना चाहिए कि वे कुछ थोड़े से आदमियों के लिए न रह कर सब के काम आयें, खासकर जनता के उस हिस्से के लिए उपयोगी हों, जो नीचे स्तर वाला माना जाता है। साथ ही इसमें समाज का व्यापक हित ,अर्थात् भावी पीढ़ियों की भलाई की उपेक्षा न की जानी चाहिए। हम यहाँ प्रत्येक साधन के सम्बन्ध में अलग-अलग न लिखकर, केवल ऊपर कही हुई बात को साफ करने के वास्ते उदाहरण-स्वरूप सड़क, मोटर और रेल के बारे में ही विचार करते हैं।

सड़कें—प्रायः गाँवों में जाने वाली सडकों की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। बड़े-बड़े शहरों की सड़कों पर, मोटरों की सुविधा का ख्याल करके सड़कें कितनी बढ़िया बनायी जाती है, और उन पर कितना अधिक व्यय किया जाता है! फिर, उन पर बहुधा बैलगाड़ियों को चलने का निषेध रहता है, वैसे भी इन तारकोल या सिमेंट की सड़कों पर बैलों को चलने में बहुत कठिनाई होती है; उन पर उनके पाँव रपट जाते हैं। हम सोचें कि शहरों की इन बढ़िया सड़कों का उपयोग कितने थोड़े से व्यक्तियों के हित के लिए होता है, हमारी अधिकांश जनता गाँवों में रहती है, उन्हें माल ढोने के लिए बैलगाड़ी, टट्टू, खच्चर, गधे, ऊंट, भैंसे आदि का उपयोग करना होता है। हमारी सड़कों के निर्माण में यह बात ध्यान में रखी जानी चाहिए। वर्तमान अवस्था में तो अनेक गाँवों में किसी भी प्रकार की सड़कें नहीं हैं, केवल कुछ रास्ता या गली सी बनी रहती है, जो कहीं ऊँची, कहीं बहुत नीची होती है, जिसमें जगह-जगह गड्ढे होते हैं, और जो बरसात के मौसम में बिलकुल बेकाम हो जाती हैं। अनेक स्थानों में आदमियों को गांवों में जाने के लिए खेतों के बीच में से जैसे-तैसे रास्ता निकालना होता है। इसमें बहुत परेशानी उठानी पड़ती है। बैल-गाड़ियों आदि का जाना-आना प्रायः बन्द ही होता है। यह ठीक है कि हम गांवों के एक दूसरे से बहुत व्यापार करने के पक्ष में नहीं हैं, हम उन्हें अधिक

से अधिक स्वावलम्बी देखना चाहते हैं; पर यातायात की समुचित सुविधा रहना आवश्यक है तो उसके लिए सड़कों की यथेष्ट उन्नति होनी चाहिए। प्रत्येक गाँव को देश के दूसरे गांवों से जोड़ने वाली ऐसी सड़कों का जाल होना आवश्यक है, जो खासकर बैलों के लिए सुविधाजनक हो।

मोटर—आजकल मोटरों (मोटर लारियों या ट्रकों) का प्रचार बढ़ता जा रहा है। शहरों और कस्बों में ही नहीं, गाँवों से माल लाने-लेजाने के लिए भी और अनेक दशाओं में तो आधी-चौथाई मील के वास्ते भी, आदमी इनसे ही काम लेते हैं। अथवा लेना चाहते हैं। इस प्रकार बैलों का काम छीना जा रहा है। अब सवाल यह है कि क्या हम अपनी अर्थव्यवस्था में, खासकर ग्राम्य क्षेत्र में, इन दोनों को बनाये रख सकते हैं। यदि दोनों को नहीं और केवल एक को ही रखना है तो किस को? यह स्पष्ट है कि खेती आदि की दृष्टि से हमारा काम बैल के बिना नहीं चल सकता, बैल रखना जरूरी है। फिर उसके साथ यदि मोटर रहे तो बैल के लिए काफी काम नहीं रहता और किसान के लिए उसे रखना भार हो जाता है। ऐसी दशा में बैल का निर्वाह नहीं हो सकता। गाँवों में माल-ढुलाई के लिए मोटरों का उपयोग करना परोक्ष रूप से बैल की आजीविका छीनना और उसे भूखा मारना है। इसलिए ग्रामीण क्षेत्रों में मोटरें साधारणतया न चलायी जानी चाहिएँ। केवल ऐसे ही अवसर पर इनका उपयोग होना चाहिए, जब लोकहित की दृष्टि से ऐसा बहुत ही जरूरी हो; जैसे कि अकाल, महामारी, बाढ़, भूकम्प आदि की दशा में लोगों को जल्दी ही राहत पहुँचाने के लिए।

यह भी ध्यान रखा जाना जरूरी है कि मोटर चलाने के लिए पेट्रोल की जरूरत होती है, और भारत में यह पदार्थ बाहर से मँगाना होता है; इस प्रकार इसमें परावलम्बन है। यदि यह प्रश्न न भी हो तो भूमि में इस पदार्थ का भंडार सीमित है; इसका उपयोग बहुत सोच-समझ कर किफायत से ही होना चाहिए, जिससे भावी पीढ़ियों के हित की अवहेलना न हो। इस प्रकार मोटर का चलन नियंत्रित ही रहना ठीक है।

रेल—रेलें हमारी सभ्यता और प्रगति की सूचक मानी जाती हैं ; इनके द्वारा हजारों आदमियों की एक-साथी दूर-दूर की यात्रा जल्दी हो जाती है, और देश में लाखों मन अन्न आदि प्रतिदिन एक स्थान से दूसरे स्थान भेजा जाता है। यह सोचकर हम इन पर इतने मुग्ध हैं कि इनके दोषों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम इनके कारण केन्द्रित सत्ता पर निर्भर रहने वाले तो होते ही हैं। इसके अतिरिक्त हमारी यात्रा आज हमारे सामाजिक ज्ञान में बहुत कम सहायक होती हैं, और हम अपने भाइयों के सम्पर्क में भी बहुत कम आते हैं। हम कई-कई बार रेल से अपने देश की यात्रा करने का अभिमान करते हुए भी अनेक दशाओं में यह नहीं जान पाते कि हमारे से थोड़ी ही दूर रहनेवाले आदमियों के आचार-विचार, रहन-सहन आदि कैसा है, उन्हें किन आवश्यक वस्तुओं का अभाव है, उनके क्या कष्ट हैं, और हम उनकी किस प्रकार या कहाँ तक सेवा-सहायता कर सकते हैं। ये बातें तो पैदल यात्रा से ही मालूम हो सकती हैं। पर हम तो, अगर हमारा वश चले, तो चार-पाँच मील की यात्रा के लिए भी रेल का आसरा लेते हैं। इस दशा में हम अपने बैलों, घोड़ों आदि का यथेष्ट उपयोग नहीं कर पाते, और वे बहुधा हमारे लिए भार होते हैं। अच्छा हो, हम कम से कम पाँच-सात मील की यात्रा के लिए तो रेलों के उपयोग की बात न सोचें; पर इस बात के लिए हमें किसी कानून के बनने की प्रतीक्षा न कर, स्वयं अपने ऊपर प्रतिबन्ध लगाना बेहतर है।

विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन युक्त अर्थव्यवस्था में रेलों के लिए विशेष काम नहीं रहता। ये केवल आपत्कालीन साधन के रूप में ही बनायी और रखी जा सकती हैं। देश के बहुत बड़े भाग में अकाल पड़ रहा हो तो खाने के पदार्थ दूसरी जगह से जहाँ वे अधिक हों, जल्दी ही लाये जाकर बहुत से आदमियों को भूखा मरने से बचाया जा सकता है। परन्तु इसका दुरुपयोग भी बहुत हो सकता है, और वर्तमान अवस्था में हो ही रहा है। आज रेलों से जितनी माल-ढुलाई होती है, इसमें बहुत सी अनावश्यक है, व्यापारी लोग अपने फायदे के लिए यह काम कर रहे हैं; इसमें लोकहित की भावना नहीं, गाँवों का स्वावलम्बन नष्ट किया जा रहा है। इस समय हमारे नगरों और कस्बों में ही नहीं, गाँवों

तक में कितना ही फैशन या शौकीनी आदि का सामान पहुँच रहा है, यद्यपि मूल आवश्यकताओं के पदार्थ भोजन और कपड़ा यहाँ पर्याप्त मात्रा में नहीं है। इस शोचनीय परिस्थिति के निर्माण में रेलों का बड़ा हाथ है। इस प्रकार रेलों के उपयोग के सम्बन्ध में हमें बहुत सतर्क रहने की जरूरत है। हमें तेज गति वाले यातायात के ऐसे साधनों पर कम से कम निर्भर रहना चाहिए, जो केन्द्रीय सत्ता के हाथ में हों, और जो सर्वसाधारण के शोषण में सहायक हों।

मोटर और रेलों के उपयोग में जो दृष्टि रहना हमने आवश्यक बताया है, वह व्यापार और यातायात के सभी साधनों में रहनी चाहिए।

सत्ताइसवां अध्याय

व्यापार नीति

व्यापारी सेवा का भाव रखें। व्यापार एक धर्म है; धर्म का मतलब लूटना नहीं होता, बल्कि सेवा करना होता है।

—विनोबा

एक चतुर विक्रेता ने मुझे कहा था कि ग्राहक को जो चीज चाहिए वह मेरी दुकान में न हो तो भी उसे मेरी दूसरी कोई न कोई चीज खरीदने को लगाये बिना मुझे चैन नहीं पड़ती।......बड़े पैमाने के उत्पादक और विक्रेता दोनों का स्वार्थ इसी में है कि ग्राहक को ज़रूरत हो या न हो, उसके पल्ले चीज बांध दी जाय।

—श्री कृष्णदास जाजू

व्यापार की दूषित पद्धति—पिछले अध्याय में बताया गया है कि व्यापार एक सेवा-कार्य होना चाहिए। पर वर्तमान दशा में आदमी इस बात को व्यवहार में प्रायः भूल जाते हैं। वे जैसे भी बने इस कार्य से अधिक से अधिक धन प्राप्त करना चाहते हैं, इस लिए खूब मुनाफेखोरी करते हैं, जुदा-जुदा ग्राहकों से वस्तुओं के दाम जुदा-जुदा लेते हैं, अनजान ग्राहकों के अज्ञान से अनुचित लाभ उठाते हैं, अपना माल खपाने के लिए भले-बुरे उपायों को काम में लाने से संकोच नहीं करते, यहां तक कि अनेक बार सरकारी नियमों की भी अवज्ञा करते हैं, अथवा उस सीमा तक ही उनका पालन करते हैं, जहां तक कानून की पकड़ में न आयें। इस प्रकार व्यापार एक सेवा-कार्य न रहकर लूट, शोषण और धोखा-धड़ी का काम रह गया है।

कृत्रिम मांग पैदा करना और बढ़ाना—व्यापारी जानते हैं कि साधारणतया किसी वस्तु की मांग जितनी अधिक होती है, उतनी ही उसकी कीमत

अधिक हो जाती है; और उन्हें उसके बेचने में लाभ अधिक रहता है। इसलिए व्यापारी इस प्रयत्न में रहते हैं कि लोगों में उनकी वस्तु के लिए अधिक से अधिक मांग हो। माल का तरह-तरह का आकर्षक और झूठा-सच्चा तथा जनता को धोखे में डालने वाला विज्ञापन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त, चतुर चालाक व्यापारी आरम्भ में अपनी चीजों को मुफ्त में बांट कर और पीछे कुछ समय तक नाममात्र के मूल्य पर देकर भी जनता में उन चीजों की मांग बढ़ा देते हैं। क्रमशः वे चीजें चल निकलती हैं। लोगों में उनकी 'मांग' पैदा हो जाती है। पर यह मांग उनकी स्वाभाविक मांग न होकर कृत्रिम रूप से बढ़ायी हुई होती है। हमने देखा है कि चाय-कम्पनियों के एजन्ट गांवों में गये हैं, जहाँ पहले एक भी आदमी को चाय का नाम या 'गुण' ज्ञात न थे, और इस प्रकार उनमें इस चीज की मांग का कोई प्रश्न ही नहीं था। इन एजन्टों ने ग्रामोफोन सुना कर और मुफ्त में गर्मागर्म चाय पिला कर लोगों को चाय पीने की लत लगा दी। जब उनको चाय पीने की आदत पड़ गयी तो चाय की पुड़िया कुछ कीमत से दी जाने लगी। पीछे तो चाय की 'मांग' इतनी बढ़ गयी कि आदमी उसकी पूरी कीमत देकर खरीदने लगे। बीड़ी-सिग्रेट आदि के लिए ऐसा ही प्रचार किया जाकर जनता में 'मांग' पैदा की गयी और बढ़ायी गयी है।

महंगे-सस्ते का विचार—अनेक आदमी अपने माल को अधिक से अधिक महंगा बेचने और दूसरे के माल को सस्ते से सस्ता खरीदने को बड़ी चतुराई समझते हैं। जरा सोचिए, इसका परिणाम! मिल का सस्ता कपड़ा पहनने से कत्तिनों और जुलाहों का रोजगार मारा जाता है, कारखानों में बने सस्ते जूते पहनने से चमारों में बेकारी आ रही है, मिल में सस्ते दर पर पिसा हुआ आटा काम में लाने से पिसनहारियों का काम मारा गया है, जनता की स्वास्थ्य-हानि की बात रही अलग। इस तरह सस्ती चीजें खरीदने की हमारी आदत गरीबों का कष्ट बढ़ाती रहती है।

इस विषय पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार होना चाहिए। यदि किसी गाँव का जुलाहा उसी गाँव का चमार का बनाया जूता पहनता है, और चमार जुलाहे का बुना कपड़ा काम में लाता है तो जुलाहे का पैसा चमार के घर, और चमार का पैसा जुलाहे के घर जाता है। इस प्रकार गाँव का पैसा

गाँव में ही रहता है। हमजो पैसा खर्च करते हैं, वह हिरफिर कर फिर हमारे पास आ जाता है। इसमें चीजों का महंगी-सस्ती होने का सवाल ही कहाँ रहता है! यदि हम एक दूसरे के माल को महंगा कह कर उसे न खरीदें तो विविध कारीगरों का गरीब और बेरोजगार रहना स्पष्ट ही है। इस प्रकार मँहगे-सस्ते की हमारी विचारधारा बहुत अनिष्टकारी है।

व्यक्ति के लिए सस्ता पदार्थ समाज के लिए बहुत महँगा हो सकता है—वास्तव में जब हम किसी पदार्थ के महँगे-सस्ते होने का विचार करें तो केवल अपनी व्यक्तिगत दृष्टि न रखकर सामाजिक या राष्ट्रीय दृष्टि से भी उसका विचार कर लेना चाहिए। कारण, जो चीज एक व्यक्ति के लिए सस्ती हो वह समाज या राष्ट्र के लिए महँगी हो सकती है। जैसे फर्ज कीजिए एक व्यक्ति यदि किसी बच्चे का गला घोंट कर लाये हुए गहने आधी कीमत में ही खरीद लेता है तो वह निस्संदेह उसके लिए सस्ता है, पर समाज वराष्ट्र के लिए अत्यन्त महंगा है। इसी प्रकार मिल की वस्तुएँ दिखने मेंभले ही सस्ती हैं पर उनके लिए अप्रत्यक्ष रूप में राष्ट्र की ओर से होने वाले सेना के व्यय, प्रचार, शिक्षण, प्रशासन के व्यय के साथ-साथ बेकारी की हानि को जोड़ा जाय तो वह कितनी महंगी पड़ेगी— यह स्पष्ट है।

मानवीय दृष्टिकोण की आवश्यकता—वर्तमान अर्थशास्त्री मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करते हुए आर्थिक मूल्यों को प्रधानता देते हैं, इसीलिए महंगा बेचने और सस्ता खरीदने की बात कहते हैं। परन्तु यह भौतिकवाद बहुत अनिष्टकारी है। रस्किन ने इसकी अलोचना करते हुए लिखा है—

'सब से सस्ते बाजार में खरीदो!—ठीक है; लेकिन तुम्हारा बाजार सस्ता किससे बना? आग लगने के बाद छत की शहतीरों का कोयला सस्ता हो सकता है और भूचाल के बाद आप की सड़कों पर पड़ी ईंटे भी सस्ती हो सकती हैं—किन्तु इसीलिए ही तो अग्निकांड और भूकम्प राष्ट्रीय लाभ नहीं बन सकते। बेचो सबसे मँहगे बाजार में?—हाँ, बिलकुल ठीक, लेकिन तुम्हारा बाजार महंगा किससे बना? तुमने आज

रोटी अच्छी बेचीं। क्या यह एक मरते हुए आदमी को दीं, जिसने उसके लिए अपना रहा-सहा सब पैसा दे डाला और जिसको अब फिर कभी रोटी की जरूरत ही नहीं होगी ?'

आवश्यकता है, हम यह समझें कि धन मनुष्य से बढ़कर नहीं; धन के कुछ लाभ के बदले यदि हमें चरित्र की हानि उठानी पड़ती है तो असल में हम घाटे में ही रहते हैं। हमारा कारोबार, हमारा व्यापार सब ऐसा होना चाहिए, जिससे हमारा विकास हो; समाज का, देश का, मनुष्यमात्र का हित हो।

मुनाफेखोरी रोकी जाय—वर्तमान व्यापार में जो अनीति है, उसका मूल कारण मुनाफेखोरी की भावना है। इसे रोकना बहुत ही जरूरी है। इसके लिए पहले तो यथा-सम्भव स्थानीय माल का उपयोग करके, व्यापार-कार्य को ही कम कर दिया जाय। इसके विषय में पहले लिखा जा चुका है। दूसरा उपाय यह कि समाज में ऐसा वातावरण पैदा किया जाय कि व्यापारी अपनी आजीविका के लिए कोई उत्पादक कार्य करें। ऐसा होने पर वे एक मात्र व्यापार से होने वाली आय या मुनाफे पर निर्भर न रहेंगे, और इस कार्य को सेवा-भाव से कर सकेंगे। कुछ लोग सोचते हैं कि मुनाफेखोरी रोकना सरकार का काम है, परन्तु सरकारी कार्यवाही का परिणाम अकसर बहुत हानिकर होता है। वास्तविक सफलता पाने के लिए ग्राहकों को संयम, त्याग और दृढ़ता रखने की जरूरत है; जब दुकानदार न्यायनीति छोड़कर मनमाने दाम लेने लगे तो ग्राहकों को उसके माल का वहिष्कार करने, और कुछ समय उस माल के अभाव में कष्ट सहने के वास्ते तैयार रहना चाहिए। आखिर, व्यापारी को झुकना और रास्ते पर आना ही पड़ेगा, क्योंकि उसे माल बेचना तो है ही।

मुनाफेखोरी रोकने के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यापारी एक गांव या एक कस्बे के भीतर होने वाले स्थानीय व्यापार को ही निजी तौर पर करें। इसे छोड़कर शेष व्यापार के लिए ऐसी व्यवस्था की जाय कि उस पर समाज का यथेष्ट नियंत्रण रहे और उसका लाभ भी समाज को मिले; अर्थात् कोई व्यक्ति उसे अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन न बना सके। इस प्रकार एक गाँव या नगर के दूसरे गाँव या नगर से (जो चाहे उसी प्रान्त में हो, या किसी

दूसरे में, अथवा देश से बाहर, किसी दूसरे राज्य में हो) होने वाले व्यापार से कोई व्यक्ति मालामाल न हो सकेगा।

विदेशी व्यापार की वर्तमान नीति—आजकल विदेशी व्यापार-नीति के खासकर दो भेद किये जाते हैं:—(१) मुक्त या बेरोक-टोक व्यापार करने की नीति और (२) संरक्षण नीति। इनके सम्बन्ध में विविध व्योरेवार बातों में न जाकर हमें यही विचार करना है कि इस समय विदेशों से व्यापार करने में खासकर क्या लक्ष्य रखा जाता है और क्या रखा जाना चाहिए।

प्रायः आजकल जब हमें अपना व्यापार बढ़ाना होता है तो मुक्त द्वार व्यापार का नारा लगाते हैं, लेकिन अगर हमारे देश को दूसरे देश के व्यापार से हानि की आशंका हो तो हम संरक्षणवादी बन जाते हैं, और लोगों को स्वदेशी की भावना अपनाने, अपने यहाँ की चीजें मंहगी होने पर भी खरीदने, और विलायती (दूसरे देशों का) माल सस्ता होने पर भी उसका वहिष्कार करने का उपदेश देने लगते हैं। हमारी कोई निश्चित नीति या सिद्धान्त नहीं होता।

व्यापार-वृद्धि का भ्रम—आजकल प्रायः जब किसी देश के निवासी यह देखते हैं कि पहले की अपेक्षा हमारा व्यापार अब बढ़ रहा है तो उन्हें बहुत हर्ष और अभिमान होता है। परन्तु असल में आयात-निर्यात के अंकों के बढ़े हुए होने से किसी देश की सुख-समृद्धि साबित नहीं होती। कुछ दशाओं में उससे उसकी माली हालत का गिरना ही जाहिर होता है। कम से कम यह आवश्यक नहीं कि जिस अनुपात से व्यापार बढ़े, उसी अनुपात से देश की आर्थिक प्रगति हो। उदाहरण के लिए भारत की बात लें। अब से सौ वर्ष पहले भारत का विदेशी व्यापार (आयात तथा निर्यात) कुल मिला कर लगभग पच्चीस करोड़ रुपये के माल का होता था। विगत वर्षों में इसके मूल्य का परिमाण चौदह-पन्द्रह सौ करोड़ अर्थात् चौदह-पन्द्रह अरब रुपये तक पहुँच चुका है। यह ठीक है कि अब रुपये की कीमत पहले की अपेक्षा कम है, परन्तु हम पदार्थों के परिमाण का विचार करें तो भी इसमें सन्देह नहीं कि अब हमारा विदेशी व्यापार पहले की अपेक्षा कई गुना है। इसे अनेक आदमी भारत की आर्थिक उन्नति और संसार के अन्य भागों से सम्पर्क की वृद्धि के रूप में देखते हैं और बहुत खुश होते हैं।

पर कौन यह कहने का दुस्साहस करेगा कि आज दिन भारतवासी पहले से इतने गुने अधिक सुखी हैं !

तैयार माल के निर्यात की प्रतियोगिता और संसार-संकट— आज कल औद्योगिक कहे जाने वाले देशों में हरेक की यह इच्छा रहती है कि वह अन्य देशों में अपना तैयार माल अधिक-से-अधिक भेजे। इस प्रकार औद्योगिक देशों में आपस में इस बात की होड़ लगी रहती है कि किस क्षेत्र में किस का माल अधिक खपता है। बात यह है कि तैयार माल अधिकांश में यंत्रों द्वारा बनाया जाता है और इसमें वर्तमान अर्थव्यवस्था के अनुसार मिल-मालिकों और कारखानेदारों को खूब मुनाफा होता है और ये अपने यहां की सरकारों को प्रभावित करके औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों को अपना बाजार बनाने और उनका शोषण करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। इस प्रकार विविध औद्योगिक देशों की सरकारों का आपस में मनोमालिन्य और तनाव बना रहता है, और गुटबन्दी के कारण इनका संघर्ष बढ़कर विश्वव्यापी होने की सम्भावना रहती है। इस तरह संसार पर हर दम महायुद्ध का संकट छाया रहता है !

आयात-निर्यात नीति में सुधार की आवश्यकता— इस संकट को हटाने का उपाय यही है कि कोई देश आयात तथा निर्यात करने में स्वार्थ या खुदगर्जी की बात न सोचे, बल्कि सब के हित की दृष्टि रखे। निर्यात के सम्बन्ध में प्रत्येक देश की नीति यह होनी चाहिए कि अपना माल खपाने के लिए वह कोई जोर-जबरदस्ती, छल-कपट, प्रलोभन आदि से काम न ले और न दूसरे देशों में विलासिता की वस्तुएं भेज कर मुनाफा कमाने की इच्छा रखे। हम निर्यात् उसी वस्तु की करें जो दूसरों के लिए बहुत हितकर हो, जिससे उनका शोषण न हो।

अब आयात की बात लें। जैसा पहले कहा गया है, खासकर भोजन-वस्त्रादि रोजमर्रा की जरूरतों के लिए हमें स्वावलम्बी होना चाहिए और शरीर-श्रम को प्रतिष्ठा देते हुए अपनी कृषि तथा ग्रामोद्योगों की उन्नति करनी चाहिए, जिससे हमें अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशों से आयात न करनी पड़े। फैशन या विलासिता आदि की वस्तुओं की आवश्यकता हमें हो ही नहीं।

वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संसार और समाज का विषम विभाजन—आजकल साधारण विचार यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हमारी प्रगति का मापक है, यह अधिकाधिक बढ़ना चाहिए। पर इससे विविध देशों का धनी और निर्धन या उन्नत और अवनत ऐसे दो भागों में विभाजन हो गया है, और आर्थिक विषमता ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर रखा है। ये बातें श्री झवेर भाई पटेल के आगे दिये हुए लेखांश से स्पष्ट हो जायंगी।

'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अर्थशास्त्र के दो रहस्य छिपे हुए हैं—(१) सामान्यतया प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजों के उत्पादन में जो कमाई होती है, उससे कई गुनी अधिक कमाई विलास की चीजों के उत्पादन में होती है, क्योंकि आदमी विलास की चीजों के मुंहमागे दाम देने के लिए तैयार हो जाते हैं। (२) कच्चे माल के उत्पादन में जो कमाई होती है, उससे कई गुनी अधिक कमाई पक्के माल के उत्पादन में होती है। अपने उपयोग के लिए नहीं, किन्तु लाभ कमाकर धनवान बनने की महत्वाकांक्षा से यूरोप और अमरीका के देशों ने अर्थशास्त्र के इन दोनों रहस्यों का पूरा लाभ उठाने की व्यवस्थित योजना बनायी थी। इस उपक्रम से दुनिया के मानों दो हिस्से हो गये—लाभ की चीजें उत्पन्न करने वाली और आवश्यक चीजें उत्पन्न करने वाली। कारखानों में अपने एकाधिकार के बल पर पश्चिम के राष्ट्रों ने दुनिया को ऐसे दो कृत्रिम हिस्सों में बांट दिया। इससे पहले हर एक देश आवश्यकता और विलास दोनों प्रकार की चीजें उत्पन्न करता था। उस समय भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो होता था पर वह कुछ खास चीजों तक ही सीमित था। प्राथमिक आवश्यकताओं का व्यापार उस समय लोगों की कल्पना में भी नहीं था।

लाभ के लिए जो व्यापार इतना बढ़ गया, उसका सारे समाज पर परोक्ष किन्तु दूरगामी प्रभाव पड़ा है। जिस आधार पर दुनिया दो हिस्सों में बँट गयी है, उसी से समाज भी दो भागों में बंट गया। एक लाभ के धंधे करने वालों का वर्ग और दूसरा बेगार करने वालों का वर्ग। लाभ कमाने वाले राष्ट्रों के पथ पर चल कर समाज के महत्वाकांक्षी लोग उपयुक्त कामों को छोड़ कर अनुपयुक्त या समाज-घातक कामों का आश्रय लेते हैं। ऐसी प्रवृत्ति के कारण समाज में

उपयुक्त चीजों का उत्पादन घटता रहता है और अनावश्यक चीजों का उत्पादन बढ़ता रहता है। इसके अतिरिक्त एक नतीजा जो सामने आया है, यह है कि उपयुक्त कामों की कमाई कम और अनुपयुक्त की कमाई अधिक।

अतः लोग अपनी प्रेरणा से समझ जाते हैं कि दूसरों की मेहनत का फल छीनकर मुनाफाखोरी करने में अथवा ऐसा ही और व्यापार करने में, जिनमें कोई जीवन के लिए उपयुक्त और आवश्यक चीज उत्पादन करने का परिश्रम न करना पड़े, अधिक कमाई और अधिक प्रतिष्ठा मिलती है। इसी तरह धंधों का सामाजिक मूल्य तय होता है। परन्तु इससे समाज का सही नैतिक दृष्टिकोण नहीं रहता। *

विशेष वक्तव्य—इस लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को यथा-सम्भव बहुत सीमित ही रखना चाहिए। यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाना है। स्वदेश में किये जाने वाले व्यापार की तरह विदेशी व्यापार में भी व्यापारियों को मानवता की भावना रखनी चाहिए। दूसरे देशों से जैसे भी बने धन कमाकर लाने की नीति गलत है। हमें किसी देश में वही निर्यात करनी चाहिए, जो उस देश के निवासियों के लिए हितकर हो। इसी प्रकार बाहर से माल मंगाने में हमारी नीति दोनों देशों का हित करने की हो। अवश्य ही इसके लिए त्याग और संयम की आवश्यकता है, पर यह किया ही जाना चाहिए। इस प्रसंग में श्री आर्थर ई. मार्गन का यह कथन हमेशा ध्यान में रखने योग्य है—

'अगर हम ऐसी ही जगहों से माल खरीदें, जहाँ आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना हो और राजनैतिक तथा सामाजिक गुलामी का अन्त कर दिया गया हो तो हमें कई चीजों के बिना काम चलाना पड़ेगा। ऐसे व्यवहार से हम सारी दुनिया के आदर और प्रशंसा के पात्र बनेंगे, और पशुबल इस हद तक भूखा मरेगा कि उसकी आक्रामक शक्ति बिलकुल घट जायगी।'

---

* 'अर्थसंदेश' नवम्बर–जनवरी, १९४७–४८, से

अट्ठाइसवां अध्याय

पैसे की प्रभुता से मुक्ति

उद्योग के माने हैं उन चीजों को मुहैया करना जो हमारे पास नहीं हैं। व्यवसाय माने दूसरों की मदद करना। मैं नहीं समझता कि इनकी बुनियाद में शोषण या प्रतियोगिता क्यों हो। अगर आज का आर्थिक ढांचा बदल दिया जाय और इस में पैसा प्रधान न होकर, इन्सान प्रधान हो, तो शकल बहुत काफी बदल जायगी।

—विनोबा

देश को आर्थिक दुर्दशा से मुक्त करने के लिए सरकारी सिक्कों की नहीं, धनधान्य की आवश्यकता है। इसके लिए 'सर्क्यूलेशन-आफ-मनी' (रुपये का चक) नहीं, 'सर्क्यूलेशन आफ कमोडिटीज' (पण्यों का चक्र) की आवश्यकता है, जो केवल अधिक श्रम, अधिक उत्पादन और सरल उत्पादन के द्वारा ही सम्भव है।

—रामकृष्ण शर्मा

पहले बताया जा चुका है कि मुद्रा का चलन होने और पीछे बैंकों की परिपाटी चल निकलने से आदमी उपयोग के पदार्थों की अपेक्षा मुद्रा के पीछे पड़ गया है। एक प्रकार से वह मुद्राजीवी हो गया है। इससे समाज को कैसी क्षति पहुँची है, इसका परिचय 'मुद्रा-व्यवस्था' अध्याय में दिया गया है। अब इससे राहत पाने के विषय में विचार करना है।

विनिमय का माध्यम, सोने चांदी की जगह श्रम—विनिमय के माध्यम के लिए खासकर सोने चांदी की मुद्रा काम में लायी जाती है। परन्तु प्रथम तो सर्वसाधारण के रोजमर्रा के जीवन में इन धातुओं का कोई महत्व नहीं है। इनका उपयोग-मूल्य नहीं के बराबर है; फिर इनका जो विनिमय-मूल्य है, वह इनके खान से निकालने और साफ करने के ही आधार पर नहीं है,

उसमें अन्य व्यय और कर आदि मिले हुए हैं, जिनका हिसाब बड़ा जटिल है। इस प्रकार धातुओं को या इनके सिक्कों को विनिमय का माध्यम बनाना अनुचित है। इनकी जगह श्रम को ही माध्यम मानना ठीक है; हाँ, वह श्रम ऐसा ही होना चाहिए, जिससे सब परिचित हों, जिसके परिमाण का हिसाब आसानी से लग सके। ऐसे श्रम का स्थूल रूप कोई जीवनोपयोगी वस्तु ही हो सकती है। कहां किस वस्तु को प्राथमिकता दी जाय, यह देश-काल का विचार करके निश्चय किया जा सकता है।

इस प्रसंग में गांधी जी का कथन है कि—

'धातु के सिक्के या कागज के नोट मूल्य का सच्चा माप नहीं है, क्योंकि उनकी कीमत कृत्रिम है। फिर भी बड़े पैमाने पर व्यापार करने के लिए यह माप आवश्यक है। ग्रामोद्योग के पीछे उलटी कल्पना है। हम बड़े पैमाने का व्यापार नहीं चाहते, हम देहात की स्वतंत्रता और स्वावलम्बन चाहते हैं। देहातों में पारस्परिक व्यवहार के लिए धातु की या अन्य किसी कृत्रिम माप की आवश्यकता नहीं हो सकती। हमारा माप तो कोई ऐसी देहाती चीज होनी चाहिए, जिसे हर कोई बना सकता है, जिसका आसानी से संग्रह हो सकता है, और जिसका दाम हर रोज बदलता नहीं है। ऐसी वस्तु क्या हो सकती है? साबुन नहीं, तेल नहीं, तरकारी नहीं। इस तरह गिनते-गिनते खाली सूत रह जाता है, उसे सब उत्पन्न कर सकते हैं, उसकी हमेशा जरूरत रहती है। अगर सूत-माप हम देहात में दाखिल कर सकें तो देहात की बहुत उन्नति कर सकेंगे, और शीघ्रता से स्वावलम्बी बन सकेंगे।

'इस योजना में प्रत्येक घर टकसाल बन जाता है, और जितने चाहिएँ उतने पैसे (सूत) बना सकता है। साफ है कि ऐसी दुकानों में मादक पदार्थ, विदेशी पदार्थ, नुकसान-कारक पदार्थ आदि नहीं बिक सकते। इसलिए सूत का सम्बन्ध जहाँ तक बन सके, पवित्र रहेगा।'

मूल्य-माप के लिए सूत की गुंडी, इसकी विशेषता—सूत के द्वारा मूल्य-माप किस प्रकार हो और उसकी क्या विशेषता होगी, यह आगे स्पष्ट किया जाता है। कल्पना करो, १० के अंक की ६४० तार की (प्रति तार

४ फीट लम्बा) एक गुण्डी कातने का श्रम मापदंड माना जाय। यह माना जाय कि एक औसतन कुशल व्यक्ति दो घंटे में एक गुंडी कात सकता है। एक कताई-श्रमिक का काम आठ घंटे के दिन का चार गुंडी श्रम हुआ। आज की पैसे की परिभाषा में मान लीजिए, यह आठ आना हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि आज आप जिस वस्तु के मूल्य का माप एक रुपया कहते हैं, उसका इस नये हिसाब के अनुसार ८ गुंडी-श्रम होगा।

सूत की गुंडी को विनिमय का माध्यम मानने से आर्थिक जीवन की सारी दिशा और गति ही बदल जाती है। आज रुपया, पौंड, डालर सोने या चांदी के सिक्के के प्रतीक हैं जो भारत, इंगलैन्ड या अमरीका के खजाने में सुरक्षित है; जबकि गुंडी-श्रम उस सामान्य गाँव में रहने वाले कतवारी भाई या बहिन के श्रम का प्रतीक है, जो करोड़ों की संख्या में सारे देश में, देश के गाँव-गाँव में, फैले हुए हैं। हम अपनी सारी आवश्यकता और सुविधा की चीजों को उससे नापकर उसके साथ समरस होते हैं। गुंडी का विचार करने से हमारे सामने जो तसवीर आती है, वह हमारे ही जैसे हाड़मांस वाले गरीब ग्रामवासी की होती है, जो चरखे के सरल और सामान्य साधन के जरिये संभवतः अपने खेत में पैदा हुई रूई को कातता है और उसके कपड़े से अपनी लज्जा निवारण करता है, और सर्दी से बचता है।

गुण्डी-श्रम को विनिमय का माध्यम स्वीकार कर लेने से स्पष्ट है कि लोगों में इसके प्रचलन की शुरूआत होगी, गुंड़ियों की कताई स्वतः बढ़ेगी, उससे रूई के उत्पादन में वृद्धि होगी और कपड़े की आवश्यकता की पूर्ति जनता स्वयं अपने श्रम से कर लेगी। इसका प्रभाव यह भी होगा कि सोने-चांदी के सिक्कों का महत्व घट जायगा और श्रम तथा वस्तुओं का ही विनिमय होने की परंपरा बढ़ेगी। श्रम और वस्तुओं का संग्रह सोने-चांदी के सिक्कों की तरह बड़े परिमाण में तथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं किया जा सकता। इसलिए आज की धन-लिप्सा में कमी होगी। श्रम की प्रतिष्ठा होने पर श्रम का शोषण भी नहीं हो पायेगा।*

सूत की गुंडी का चलन' इससे लाभ—सूत माप की बात केवल

* श्री जवाहिरलाल जैन की 'सर्वोदय अर्थव्यवस्था' से संकलित।

कहने की नहीं है; इसका चलन, कुछ परिमित क्षेत्रों में ही सही, समय-समय पर हुआ है और उसमें खासी सफलता भी मिली है। 'गरीबों की टकसाल' शीर्षक, श्री कृष्णदास गांधी के लेख से (जो 'सर्वोदय' अक्तूबर १९४९ में प्रकाशित हुआ) स्पष्ट है कि नालवाड़ी (वर्धा) में सूत-चलन की दुकान का प्रयोग ग्राम-सेवा-मंडल की ओर से सन् १९४२ के आन्दोलन से भी पहले से चल रहा था। उसे देख कर बाबा लाभसिंह जी ने जालंधर में सेंट्रल रिलीफ़ कमेटी की ओर से सूत-चलन की दुकान चलायी। इसमें ग्राहकों के साथ पैसे से कोई व्यवहार नहीं किया गया; सब चीजें—पूनी, चर्खा, सरंजाम, खादी, निर्वासितों के केन्द्र में बना हुआ हाथ-बुनाई का कपड़ा, चप्पल-साबुन और अनाज आदि—केवल सूत के ही बदले बेची गयीं। दुकान के साथ स्त्रियों और लड़कियों का तालीम-वर्ग भी चलाया गया जिसकी फीस भी सूत के रुप में ही ली गयी।

इसी लेख में कहा गया था कि 'पहले जो स्त्रियाँ रिलीफ-केन्द्र से मुफ्त सहायता चाहती थीं, वे अब सूत कात कर अपने परिश्रम के बदले में चीजें खरीदने लगी हैं। उनमें भिक्षा-वृत्ति की भावना बढ़ रही थी, वह रफा होकर कताई के रूप में ज्यादा से ज्यादा परिश्रम करने का हौसला बिना किसी उपदेश के इस दुकान ने उनमें पैदा कर दिया है। यह दुकान केवल निर्वासितों की न रहकर आम जनता के लिए खुली रखी गयी है। अब ऐसी ही और दो दुकानें लुधियाना और अम्बाला में भी सेन्ट्रल रिलीफ कमेटी की ओर से खोल दी गयी हैं। जालंधर में रोजाना करीब ३०० और अम्बाला में इससे कुछ बेशी गुंडियों का माल बिकता है। अब इस सूत से बनी खादी भी इन ग्राहकों को सूत-गुंडी लेकर दी जाने लगी है। सूत-दुकान का यह तरीका पुरानी 'बदलौत (अदल-बदल) पद्धति का स्मरण दिलाता है। निर्वासितों में परिश्रम-प्रेम बढ़ाने का काम तो इसने किया ही है, पर इसने गरीबों की टकसाल का भी काम किया है। *

---

*'प्रलोभन के कारण हाथ-सूत के नाम पर मिल-सूत न लाया जाय, यह देखना होगा। जो सूत आये उसकी खादी बेचने का ठीक इन्तजाम करना होगा और खासकर पैसे के हिसाब से सूत हिसाब रखने के लिए विशेष प्रामाणिक और कुशल कार्यकर्त्ता लगेंगे।

पैसे की प्रभुता से मुक्ति पाने के कार्य—यदि हम यह निश्चय कर लेंगे कि हमें पैसे की प्रभुता से होने वाली भयंकर हानियों से अपना पिंड छुड़ाना है तो हमें इसका रास्ता भी मिल जायगा, और वह रास्ता क्रमशः सुगम भी हो जायगा। मुख्य बात यह है कि जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के सम्बन्ध में लोगों का, खासकर गांव वालों का स्वावलम्बन हो। भोजन, वस्त्र और मकान की सामग्री के लिए बाहर वालों के आश्रित न रहा जाय। भारत में बहुत से ऐसे भागों के आदमी चावल खाने लग गये हैं, जहां धान पैदा नहीं होता। कुछ लोग दूसरे स्थानों से बिस्कुट और चीनी आदि मंगाते हैं तथा अपने यहां की मोटी रूई बेचकर दूर-दूर से महीन रूई या उसका कपड़ा खरीदते हैं। इस खरीद-बेच से पैसे के चक्र में पड़ना ठीक नहीं है। इससे बचने के वास्ते हमें संयम और सादगी से काम लेना चाहिए। हाँ, इसके लिए अनाज-बैंक, वस्तु-विनिमय-बैंक और श्रम-बैंकों की जरूरत होती है। इनके बारे में पहले लिखा जा चुका है।

पैसे की प्रभुता मिटाने की बात बहुत से पाठकों को अजीब और हँसी-मजाक की सी लगेगी। पर यह गम्भीरता से विचार करने की है। विविध स्थानों पर इसका प्रयोग हो रहा है, भले ही वह अभी छोटे-छोटे पैमाने पर हो। उदाहरण-स्वरूप सेवाग्राम (वर्धा) आश्रम की बात लीजिये। यहाँ मार्च १९५१ को निश्चय किया गया कि १ जनवरी १९५२ से आश्रम पैसे से मुक्त हो जायगा, आश्रमवासियों द्वारा खेती आदि में किये हुए परिश्रम और लोगों से मिलने वाले श्रम-दान पर ही आश्रम चलेगा। इस निश्चय के अनुसार कार्य किया गया। [अब आश्रम के कार्यकर्त्ता भूदान-आन्दोलन में लगे हुए हैं।]

इसी तरह श्री विनोबा के परमधाम आश्रम (पवनार, वर्धा) की बात है। इसके कार्यकर्ता भी, जो अब भूदान के काम में जुटे हुए हैं, यह दिखला चुके हैं कि किस तरह आदमी अपने जीवन से पैसे का प्रभुत्व हटा सकता है। ये अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ भूमि पर श्रम करके उत्पन्न कर लेते थे, और उन्हीं चीजों पर निर्वाह करते थे जो ये वहां पैदा कर सकते थे। अवश्य ही इसमें उन्हें कुछ संयम से काम लेना पड़ता था, क्योंकि एक ही भूमि में सभी प्रकार के अन्न, दाल, शाक-भाजी, फल, नमक, मसाले, तेलहन, आदि उत्पन्न

नहीं हो सकते। पर आदमी को तरह-तरह के अनेक पदार्थों की जरूरत भी तो नहीं है। उसका काम थोड़ी सी चीजों से अच्छी तरह चल सकता है। अस्तु, आश्रमवासी अपनी भूमि में कुछ खास-खास अन्न, फल, शाकभाजी पैदा करते थे; दूध, दही, घी के लिए गाय रखते थे, और कपड़े के लिए कपास उत्पन्न कर लेते थे। इस प्रकार उन्हें साधारणतया पैसे की जरूरत ही नहीं होती थी। हाँ, कुछ काम ऐसे अवश्य थे जो बिना पैसे के नहीं हो सकते थे, जैसे रेल की यात्रा, डाक-व्यवहार, रेडियो, टेलीफोन का खर्च। आश्रमवासी इस काम को भी अपने श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुए अनाज को बेचकर ही पूरा कर लेते थे।

मार्च १९५१ में श्री विनोबा ने सर्वोदय सम्मेलन हैद्राबाद, में आने का निश्चय किया। यद्यपि अर्थोच्छेद की उनकी कल्पना में रेल आदि का परित्याग अनिवार्य नहीं था, तथापि उन्होंने यह लम्बी यात्रा पैदल और बिना पैसे के ही की। इसके बाद तो तैलंगाना, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आंध्र आदि की यात्रा होती रही है और अब (सितम्बर १९५६) तक चौदह हजार मील हो चुकी है।

श्री विनोबा के विचार—पैसे से मुक्ति के सम्बन्ध में श्री विनोबा के कुछ मुख्य विचार इस प्रकार हैं—

'देहातों को हम पैसे से प्रथम छुड़ा देना चाहते हैं; और शहर अगर पूरी तरह न बदलें, लेकिन ग्रामों के साथ सहकार करें, पूरी तरह उनके अनुकूल बन जाएँ, तो भी बहुत है। तो इस तरह यह समाज-रचना बदलने का काम हम शीघ्र करना चाहते हैं। उसी तरह से पैसे पर आधारित समाज-रचना बदलना चाहते हैं और श्रम के आधार पर समाज-रचना करना चाहते हैं। जब हम ऐसा कहते हैं, तब लोग समझते हैं कि हम पुरानी 'बारटर' (वस्तु-विनिमय) की व्यवस्था लाना चाहते हैं। लेकिन मुझे 'वस्टर' की व्यवस्था मकसूद नहीं है। 'बारटर' की व्यवस्था एक बहुत प्रथम अवस्था में हुई थी। उसमें कई अड़चने हैं। मैं उसे फिर से लाना नहीं चहता, बल्कि मैं तो पेपर-करेन्सी (कागजी सिक्का) ही पसन्द करता हूँ।

'गांव के लिए मैं ऐसी करेन्सी नहीं चाहता, जिस पर आज की तरह पैसे के अंक छपे हों, बल्कि ऐसी जिस पर श्रम के घंटों के अंक लिखे हों; और वह करेन्सी किसी सुलतान या बादशाह की मर्जी से नासिक के प्रेस में नहीं छपी हुई होगी, बल्कि जितने घंटे प्रत्यक्ष परिश्रम किया होगा, उसकी नोट करने वाली करेन्सी होगी, और उस कागज पर जो नकद परिश्रम हुआ होगा, वह लिखा जायगा। जो उधार परिश्रम होगा वह नहीं लिखा जायगा। इस तरह का चलन चलेगा; और बाकी गांव की उपयोग की चीजें, जिनका कच्चा माल गाँव में ही उपलब्ध है, गांव में ही बनेगीं। यह हमारी योजना है।' *

पैसे का सीमित उपयोग, निर्दोष—इस समय पैसा मनुष्य का साध्य बना हुआ है। वह जोड़ कर रखा जाता है, और दूसरों का शोषण करने में लगाया जाता है, वह मनुष्य-मनुष्य में भेद भाव पैदा करता है। यदि इसके ये दुर्गुण न रहें तो वह अब भी उपयोगी हो सकता है। उदाहरण के लिए छोटे सिक्के (भारत में पैसे, इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी, अठन्नी आदि; इंगलैंड में पैंस या अर्द्ध-शिलिंग आदि) अधिकतर रोजमर्रा के ही काम में आते हैं; इन्हें कोई जमा करके नहीं रखता, और इनके द्वारा व्यापार व्यवसाय में एक दम उथल-पुथल नहीं मचती। फिर, इन सिक्कों से छोटा-छोटा भुगतान भी आसानी से हो सकता है। कल्पना करो कि एक आदमी ने पन्दह मिनट या आधा घंटा हमारे लिए श्रम किया, इसके लिए उपर्युक्त सिक्कों में उसका हिसाब तुरन्त ही चुकाया जा सकता है।

कुछ लोगों का मत है कि रेल-किराया, मोटर किराया, डाक महसूल आदि के चुकाने के लिए रुपये या नोट की जरूरत है।* इन्हें जमा करने के लिए लोगों में आकर्षण या प्रलोभन न हो, इसके लिए ह्रासमान मूल्य वाले नोटों का प्रस्ताव किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि एक या दो-तीन माह आदि की निर्धारित अवधि के बाद रुपये को अथवा एक रुपये के नोट को चलाना हो तो वह एक आना कम कीमत में चले। इस प्रकार हर बार उपर्युक्त अवधि बीतने पर उसकी कीमत एक-एक आना कम होती जाय, अथवा इतने मूल्य का

* 'हरिजन सेवक', २६ दिसम्बर १९५१

टिकट लगाने पर नोट पूरी कीमत का माना जाय। इस योजना से प्रत्येक व्यक्ति अपने नोट को जल्दी से जल्दी खर्च करेगा; नोट चलते रहेंगे, कहीं जोड़कर न रखे जायेंगे। नोटों के मूल्य में जो कमी होगी, अथवा उन पर जो टिकट लगाये जायेंगे, उनसे होने वाली आय सार्वजनिक हित में लगायी जाय या उससे सरकारी मुद्रा-विभाग का खर्च चले। इस प्रस्ताव के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए नोट एक-एक रुपये तथा दस-दस रुपये के ही हों, अधिक कीमत के नहीं।

विदेशी व्यापार के लिए स्वर्णपत्र—सर्वोदय व्यवस्था के अनुसार विदेशी व्यापार का परिमाण निश्चय ही बहुत कम रहेगा। तथापि यह स्वीकार करना होगा कि वह कुछ न कुछ तो रहेगा ही और उसे बिलकुल हटाने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। अस्तु, जब कि विदेशी व्यापार होगा—वह परिमाण में कितना ही कम क्यों न हो—तो उसके लिए विनिमय-माध्यम की व्यवस्था भी रखनी होगी। यह कार्य राष्ट्र-सभा के नियंत्रण में जारी किये हुए 'स्वर्ण-पत्रों' से हो सकेगा। इसके सम्बन्ध में श्री रामकृष्ण शर्मा के निम्नलिखित विचार जानने योग्य हैं—

'विदेशी व्यापार में हमारे घटोत्तर (ह्रासमान मूल्य वाले) नोटों का प्रयोग सफल न हो सकेगा। इसके लिए हम अमरीका के समान 'स्वर्ण सनद' का प्रस्ताव करेंगे। हमारा वैदेशिक व्यापार राष्ट्र-सभा के 'अनुमति-पत्र' (लैसन्स) पर निर्भर होगा। राष्ट्र-सभा आवश्यक जांच-पड़ताल, और देशीय आवश्यकताओं तथा अपने स्वर्णकोष को ध्यान में रखकर ही वैदेशिक व्यापार की आज्ञा देगी। इस प्रकार सर्व-प्रथम हम मुद्रा के विनिमय-दर की उलझनों से बच जायेंगे, क्योंकि ये सनदें 'रूपक' नहीं, वास्तविक होंगी; हुँडियों की परेशानी भी न रहेगी और इन सब की रही-सही कमी को हम आवश्यकतानुसार 'वैदेशिक व्यापार डिपो' द्वारा पूरी करेंगे, जहाँ प्रमाणानुसार हमारा स्वर्ण कोष * रहेगा और आवश्यकतानुसार उसका उपयोग हो सकेगा। हमारे इस प्रस्ताव का यह अर्थ नहीं कि सोना या चांदी देकर ही हम बाहर से व्यापार करेंगे। जहाँ तक

---

* सोने के स्थान में चांदी भी रख सकते हैं। यह ठीक है कि सोने या चाँदी का भी भाव चढ़ता-उतरता है, परन्तु कम से कम हमारा विधान एक निश्चित धातु से बंधा तो रहेगा।

सम्भव होगा, हमारा वैदेशिक व्यापार भी वस्तु-विनिमय के आधार पर चलेगा, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर हम एक धातु का सहारा लेने के लिए तत्पर तो रहेंगे। हमें यह न भूलना चाहिए कि हम या तो वस्तु-विनिमय या अपनी निश्चित धातु के आधार पर ही व्यापार करेंगे, बाह्य मुद्रा को न हम स्वीकार करेंगे, न उनसे या उनकी उलटफेर से हमें कोई वास्ता होगा। साथ ही हमारी इन सनदों का स्वयं हमारे अपने देश के आन्तरिक व्यवहार में कोई उपयोग न हो सकेगा। विदेशों में भी इनका केवल व्यवसायिक लेन-देन में ही उपयोग होगा। यदि कोई चाहे कि विदेशों में उन्हें जुटा कर सोना-चांदी लेले और फिर उसे देश में लाकर गाड़ रखे, तो इस बला से बचने के लिए उस निश्चित धातु का गैर-सरकारी आयात-निर्यात वर्जित कर देना होगा। *

राष्ट्रीय कूपन और रेल वारंट—अच्छा, विदेश यात्रा आदि का शुल्क चुकाने के लिए क्या व्यवस्था होगी! इसके लिए श्री रामकृष्ण शर्मा के शब्दों में 'हमें नेशनल कूपन (राष्ट्रीय चिट्ठी) का विधान करना पड़ेगा; उसी प्रकार जैसे रेलों में टिकट लेने के लिए माइलेज कूपन या पुलिस और सेना के वारंट चलते हैं अथवा कुछ कम्पनियों का अन्तर्राष्ट्रीय चेक चलता है। बाहर से आने वाले उनके ही देशीय दूतावासों से हमारी राष्ट्र-सभा का कूपन प्राप्त हो जायगा। उनके बदले हमारा देश सम्बद्ध देश से उक्त मूल्य की वस्तु पदार्थ, सोना, चांदी या अपने देश वालों के लिए उनके देश में उतनी ही सुविधा का हकदार होगा।'

ऐसे विविध प्रयत्नों के द्वारा मुद्रा के प्रयोग को बहुत कुछ हटाया जा सकता है और हटाया जाना चाहिए।

पैसे की प्रभुता से मुक्ति पाने से मानव कल्याण—पहले बताया जा चुका है कि वर्तमान अवस्था में पैसे की कितनी प्रभुता है। पैसे की ही अर्थव्यवस्था (मनी-इकानोमी) चल रही है। आदमी पैसे का गुलाम हो गया है। इससे उसका सहज ही शोषण और दमन हो सकता है। यदि

---

* यह कोई अव्यावहारिक या नयी बात नहीं है। विश्व का इतना बड़ा युद्ध अमरीका के 'लेंड एंड लीज' के बल पर ही चला, जिसे शुद्ध रूप में हम वस्तु-विनिमय ही कहेंगे। भिन्न-भिन्न देशों के बीच बहुत सी लेनदेन इसी प्रकार हो रही है। श्री नेहरूजी ने अमरीका से इसी आधार पर दस लाख टन गेहूँ मांगा था।

समाज से पैसे की प्रभुता हटाया कर श्रम को उचित प्रतिष्ठा दे दी जाय तो समाज का विलक्षण कायाकल्प होगा, इसमें सन्देह नहीं। श्री वासुदेव विट्ठल दास्ताने ने कहा है—

'रुपये और धन का जितना सम्मान किया जाता है, उससे कई गुना अधिक सम्मान शरीर-श्रम का है, अगर यह सीधी-सादी बात एक दफा गांव वालों के दिलों में जम जाय तो बड़ी भारी क्रान्ति हो जायगी। तब वे अपनी शक्ति और सामर्थ्य को समझ जायँगे। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उनको दबाकर रखना या उनका शोषण करना दुश्वार हो जायगा। वैसी हालत में यदि कोई सशस्त्र या हिंसक आक्रमण होगा तो वे उसके प्रतिरोध के लिए तुरन्त तैयार हो जायेंगे और यह समझ जायेंगे कि मृत्यु का सामना करके भी अपनी स्वाभिमानी जिन्दगी कायम रखनी चाहिए। एक दूसरी महत्वपूर्ण बात समझने की योग्यता भी उनमें आजायगी, वे जान जायेंगे कि शस्त्रों से आक्रमण करने वाला सब लोगों को मार डालना नहीं चाहता, लेकिन चन्द लोगों को मार कर बाकी को डरा धमका कर अपनी सेवा में लगाना चाहता है। यह बात समझ में आजाने पर तो उनके अन्दर से मौत का डर कतई निकल जायगा। ऐसी आत्म-प्रतीति होजाने पर अगर—ऐटम बम का आक्रमण होगा तो भी वे नहीं डरेंगे और स्वाभिमान—शून्य दीन-हीन जिन्दगी के बदले मृत्यु का स्वागत करना श्रेयस्कर समझेंगे। वैसी अवस्था में हार उनकी नहीं, एटम-बम की ही होगी।'*

विशेष वक्तव्य—ऐसा है पैसे के प्रभुत्व से मुक्ति का फल! इसे ध्यान में रखकर विचारकों को इस दिशा में दृढ़ता पूर्वक आगे बढ़ते रहना चाहिए। आदर्श तो यह है कि पैसे की माया बिलकुल न रहे, कांचन-मुक्ति ही हो; पर व्यावहरिक दृष्टि से हमने अपने विवेचन का विषय पैसे की प्रभुता से मुक्ति ही रखा है। इसके लिए भी वर्तमान समाज-व्यवस्था में कुछ कठिनाई तो उपस्थित होगी, पर जहां चाह है, वहां राह निकल ही सकती है।

---

*'कस्तूरबा दर्शन', अगस्त १६५०.

पाँचवाँ खंड

वितरण

२९—वितरण की समस्या
३०—लगान
३१—मजदूरी
३२—सूद
३३—मुनाफा
३४—आर्थिक समानता

धनवानों से

तुम कहते हो, हम धनवान हैं, हमने अपने पराक्रम से धन पैदा किया है। पर यह समझ रखो कि अगर रात न होती, तो दिन न होता। सैकड़ों दरिद्र हैं, इसी लिए तुम धनवान हो। तुम्हारे पास दो रुपये हैं, तो समझलो कि तुम्हारे किसी पड़ोसी की जेब दो रुपयों से खाली है। उसे रुपयों की जरूरत है, इसलिए तुम्हारे रुपये का मूल्य है। बिना हजारों को दरिद्र बनाये तुम धनवान हो ही नहीं सकते। अगर वे दरिद्र न हों तो तुम धनवान हो ही नहीं सकते। धन की उपयोगिता सिर्फ इतनी है कि उसके द्वारा मनुष्य अपने परिश्रम के लिए जीविका प्राप्त करता है। जीवन की हानि से धन का संग्रह होता है।

× × ×

गरीबों से

तुम्हें रोटी पाने का हक है, पर तुम्हारे दूसरे भी हक़ हैं जिन पर तुम्हें पहले ध्यान देना चाहिए। अगर तुम चाहते हो, तो रोटी के टुकड़े माँगो; पर कुत्ते की तरह मत माँगो। माँगो तो बच्चों की तरह। तुम अपने उदर-भरण के लिए लड़ो; पर उससे अधिक इस बात के लिए लड़ो कि सच्चरित्र और पवित्र जीवन व्यतीत करने का भी तुमको अधिकार है।

—रस्किन

उन्तीसवाँ अध्याय

वितरण की समस्या

उत्पादन-कार्य में हरेक मनुष्य का योग उसकी शक्ति के अनुसार होना चाहिए और उपज का वितरण उसकी आवश्यकता के अनुसार। एक ग्वाले को उतना ही मिलेगा, जितना कि पंचायत के मुखिया को। ऐसा भी हो सकता है कि अगर पंचायत का मुखिया घर में अकेला है, तो उसे ग्वाले से कम मिले।

—जो० का० कुमारप्पा

संस्कृत में धन को द्रव्य कहा गया है,जिसका अर्थ है,'बहने वाला'। जब धन का इस प्रकार वितरण होता रहता है कि समाज में उसका प्रवाह बना रहे तो उससे समाज को लाभ होता है प्रवाह रुकने पर वह समाज के स्वास्थ्य के लिए हानिकर होता है।

—लेखक

वितरण का महत्व—आर्थिक जगत में आजकल चारों ओर उत्पादन के लिए पुकार है। आदमी कहते हैं कि लोग भूखे-नंगे हैं। उनके अभाव दूर करने के लिए अधिक उत्पादन करना चाहिए, उत्पादन का परिमाण बढ़ाना जरूरी है। परन्तु इस कथन में सत्यांश ही है, यह पूर्ण सत्य नहीं। बल्कि यह कहना चाहिए कि इसमें विशेष सार नहीं है। उत्पादन बढ़ जाने पर भी यदि वितरण ठीक ढंग से न हो, तो लोगों के अभाव बने ही रहेंगे, वे भूखे-नंगे ही रहेंगे। उनकी समस्या हल न होगी। उदाहरण के लिए चार आदमियों में से प्रत्येक को चार-चार रोटी की आवश्यकता है, और उनका उत्पादन १५ रोटियों का है, तो यह उत्पादन अवश्य ही कम है, तथापि समान वितरण करके वे इसमें किसी तरह अपना काम चला सकते हैं। अब कल्पना करो कि उत्पादन बढ़ कर बीस रोटियाँ हो गयीं। परन्तु वितरण इस प्रकार रहा कि एक ने १०

ले ली, दूसरे ने ६, और तीसरे और चौथे के पास केवल २-२ रह गयी। इस दशा में उत्पादन बढ़ने पर भी दो आदमी भूखे रहेंगे। इससे स्पष्ट है कि केवल अधिक उत्पादन की बात में दम नहीं है। उसका न्यायपूर्ण बंटवारा न होगा तो मनुष्य भूखे ही रहने वाले ठहरे। इससे हमारा यह आशय नहीं कि उत्पादन न बढ़ाया जाय। हमारा कहना यही है कि उत्पादन बढ़ाने के साथ वितरण उचित होने की बहुत आवश्यकता है। उचित वितरण न हो तो उत्पादन बढ़ाने मात्र से उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता।

वितरण के दो प्रकार—उत्पन्न पदार्थ के वितरण में दो प्रकार से विचार होता है—(१) उपयोक्ता की दृष्टि से, और (२) उत्पादक की दृष्टि से। पहली दृष्टि से यह विचार करना होता है कि जो माल पैदा या तैयार किया गया है उसे उपयोक्ता तक किस प्रकार पहुँचाया जाय, उसकी खरीद-बेच किस तरह हो, इस कार्य में किस तरह अधिक से अधिक सुविधाएँ की जायं कि यह कार्य जल्दी-से-जल्दी, तथा कम खर्च से हो जाय। इन बातों का विचार पिछले ('विनिमय') खंड में किया जा चुका है। यहाँ उत्पादक की दृष्टि से ही विचार करना है। इसमें उत्पत्ति के साधनों (भूमि, श्रम, पूंजी और व्यवस्था) के प्रतिफल दिये जाने का विचार किया जाता है। आजकल भूमि वाले को लगान, श्रमी को मजदूरी, पूंजी वाले को सूद और व्यवस्थापक को मुनाफा दिया जाता है।

वितरण की जटिलता—उत्पादक की दृष्टि से वितरण की समस्या बहुत जटिल है। इसका एक भाग लगान है। लगान कितना हो, इसका आधार या स्वरूप तथा वसूल करने का समय क्या हो—इस विषय में कितनी कठिनाइयाँ और मुसीबतें रहती हैं, इसका भारतवासियों को काफी कटु अनुभव है। भारत की भाँति अन्य कई देशों में भी लगान की यह जटिलता प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रही हैं।

लगान के अतिरिक्त, वितरण की समस्या का एक भाग मजदूरी का है। मजदूरों और पूंजीपतियों का संघर्ष आधुनिक अर्थव्यवस्था का नित्य-कर्म है। विविध देशों की सरकारों ने इसे मिटाने के नहीं, कम करने के विविध प्रयत्न किये। पर वे कभी कुछ विशेष समय के लिए संतोषप्रद नहीं हुए। वे प्रायः

अपर्याप्त ही रहे। अस्तु, मजदूरी और पूंजी के संघर्ष से आधुनिक जगत बहुत अशान्त और पीड़ित है।

इसी प्रकार सूद की समस्या भी काफी उलझन-भरी है। पहले तो यही विचारणीय है कि सूद लिया जाना कहाँ तक उचित है। फिर, सूद की दर के सम्बन्ध में भी देश-काल के अनुसार अलग-अलग विचार रहे हैं; और व्यवहार-जगत में अनेक बार उन सब विचारों को तिलांजली देकर ऋण लेने वालों से मनमाना बर्ताव होता रहा है। ऋणग्रस्तों की रक्षा के लिए कानून प्रायः कभी भी यथेष्ट शक्तिमान या प्रभावशाली नहीं हुआ है।

वितरण की समस्या का एक भाग मुनाफा है। उत्पादन और विनिमय का लक्ष्य आज दिन सेवा न होकर मुनाफा हो रहा है। अकसर किसान, कारीगर, दुकानदार कल-कारखाने वाले तथा व्यापारी—सब मुनाफे के पीछे पड़े हुए हैं, और अपनी आत्मा को बेच कर धन जोड़ने में लगे हैं। मानवता का भयंकर ह्रास हो रहा है; उसकी रक्षा के लिए मुनाफेखोरी का और इसलिए वितरण का नियंत्रण होना चाहिए।

समस्या हल करने की आवश्यकता—इस प्रकार लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफा—प्रत्येक दृष्टि से गम्भीर विचार की आवश्यकता है। यदि विविध परिवार यथासम्भव स्वावलम्बी जीवन बितायें; अपनी भूमि पर, अपने श्रम तथा अपनी ही पूंजी से खासकर भोजन-वस्त्रादि का उत्पादन करलें (और अपनी अन्य आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखें) तो लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफे की समस्या बहुत-कुछ पैदा ही न हो। निदान, वितरण के वर्तमान विशाल रूप को बहुत घटाया जा सकता है और घटाया जाना चाहिए। इनमें से प्रत्येक के बारे में खुलासा विचार अगले अध्यायों में किया जायेगा।

तीसवाँ अध्याय

लगान

पृथ्वी के मालिक जमींदार नहीं, बल्कि ईश्वर है; इसलिए उससे उत्पन्न अन्न के स्वामी वे लोग हैं, जो उसमें मेहनत कर अन्न उत्पन्न करते हैं।

—गाँधीजी

अपनी भूमि पर खेती करने वाला किसान सरकार को जो द्रव्य देता है; वह मालगुजारी है। यदि कोई व्यक्ति दूसरे की भूमि का उपयोग करता है तो इस उपयोग के बदले वह जो द्रव्य दूसरे व्यक्ति को दे, यह लगान है। भारत में किसान से जमींदार को मिलने वाली रकम लगान कही जाती है, यद्यपि इस रकम में लगान और मालगुजारी दोनों मिली रहती हैं।

लगान का विरोध—बहुत से देशों में जमींदारी प्रथा उठ गयी है, और कुछ में उठ रही है या उठने वाली है। जमींदारी हटाने की विधि या शर्तों की व्योरेवार बातों में भले ही कुछ लोगों में मतभेद हो, प्रगतिशील व्यक्ति इस विषय में एकमत हैं कि अपने आप कुछ परिश्रम न करने वाले जमींदार वर्ग को लगान के रूप में आय प्राप्त होना नीति-सम्मत नहीं। जमीन की पैदावार पर अधिकार उसी व्यक्ति का होना चाहिए, जो उसे जोत-बोकर उस पर खेती करता है; उसके सिवा किसी दूसरे का नहीं, चाहे उसे जमींदार, जागीरदार या तालुकेदार आदि कुछ ही कहा जाता हो।

भूमि वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं, सामाजिक है—अब एक विचारणीय प्रश्न यह है कि भूमि पर (जिसके अन्तर्गत खान, समुद्र-तट, नदी-तट, जंगल आदि भी सम्मिलित हैं) अधिकार किसका माना जाय। इस पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वामित्व होना कहाँ तक उचित है? आज कल अनेक स्थानों में एक-एक आदमी के पास कई-कई सौ एकड़ जमीन या बड़े-बड़े जंगल आदि

हैं। वह इनके लिए कोई श्रम नहीं करता; खाली बैठे इनका किराया या लगान वसूल करता है; दूसरे सहस्त्रों आदमी ऐसे हैं, जिन बेचारों के पास उनकी कही जा सकने वाली एक वर्ग गज भी भूमि नहीं। यह स्थिति नितान्त अन्याय-पूर्ण है।

भूमि के किसी भी हिस्से का विचार करें, वह प्रकृति की ही देन है; हाँ, उस पर अनेक आदमियों ने श्रम किया है, अर्थात् हमें जो भूमि मिली है, उसे वर्तमान अवस्था में लाने का श्रेय समाज को है। इससे स्पष्ट है कि भूमि का वर्तमान विभाजन अनुचित है। किसी व्यक्ति को उतनी भूमि तथा उतने ही समय तक उपयोग करने का अधिकार होना चाहिए, जितनी भूमि पर और जब तक वह अधिकार सामाजिक न्याय की दृष्टि से उचित हो।

निज मालकियत और लगान का मूल, (१) परिश्रम—भूमि की निजी मालकियत और लगान कैसे शुरू हुआ, यह आगे श्री अप्पा साहब पटवर्धन की पुस्तक के आधार पर संक्षेप में बताया जाता है—

भूमि की मालकियत का प्रारम्भ खासकर तीन प्रकार से हुआ : (१) जमीन पर परिश्रम करने से, (२) जोर जबरदस्ती से, और (३) शोषक साहूकारी से। पहले जमीन पर परिश्रम करने की बात लें। यह स्वाभाविक और उचित भी था कि जो मनुष्य जिस जमीन पर बस गया और जिसे उसने खूब मेहनत करके साफ और समतल किया और खेती की, या पेड़ लगाये, वह जमीन उसकी समझी जाय। खेती जमीन की चाकरी है और फसल है उसका वेतन। जो चाकरी करता है, उसी को पूरा वेतन मिलता है। उसे अपने वेतन का कुछ हिस्सा पहले के नौकर को नहीं देना पड़ता। पर मौजूदा काश्तकार को यानी भूमि के वर्तमान चाकर को वेतन यानी फसल का कुछ हिस्सा देना चाहिए, ऐसा रिवाज पड़ गया है। बात यह है कि सबसे पहले के किसान ने प्रारम्भ में बंजर भूमि में अपने खून का अर्थात् परिश्रम का खाद देकर उसे कमाया, उपजाऊ बनाया, पेड़ लगाये; दीर्घ काल तक सेवा चाकरी की, तब उसे उनके फल चखने को

* 'गाँव का गोकुल'

मिले। आज जब वह जमीन को दूसरे के हवाले करके जाने लगा तो दूसरा मनुष्य बिना परिश्रम के मिले हुए आम अमरूद आदि का कुछ हिस्सा मूल किसान को दे, यह उचित ही है। यही 'लगान' कहलाया। जैसा आम-अमरूद आदि फल-वृक्षों का लगान, वैसा ही धान की खेती का भी। परन्तु अगर यह लगान लेना उचित है तो इसकी मर्यादा होनी चाहिए; आगामी दस-बीस साल तक रहे और उसका अनुपात उत्तरोत्तर कम होता जाना चाहिए; हमेशा के लिए लेते रहना उपयुक्त नहीं हो सकता।

(२) **जोर-जबरदस्ती**—भूमि की मालकियत, मेहनत मशक्कत के अलावा, जोर-जबरदस्ती से भी प्राप्त हुई है। यूरोपियनों ने अफ्रीका, अमरीका आदि भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर अपने-अपने राष्ट्र के निशान फहराये। उस समय से वे देश अपने मूल निवासियों सहित उन राष्ट्रों की मालकियत बन गये। अब एशिया के लोग वहाँ जाकर खेती करना चाहेंगे तो उन्हें वहाँ के सत्ता-धारियों की तोपों का शिकार होना पड़ेगा।

जिस प्रकार बड़े-बड़ों की जोर जबरदस्ती चल रही है, उसी प्रकार जमीन के पट्टेदारों (खातेदारों) की हुकूमत भी चाहे वह कानून से भले ही कायम की गयी हो, कम या अधिक मात्रा में जबरदस्ती पर ही आधारित है। जिसके लिए सम्भव हुआ, उसने अच्छी और उपजाऊ भूमि हड़प ली। बाद में आने वालों को या तो निकृष्ट भूमि से संतुष्ट रहना पड़ा या फिर दूसरों का आसामी बन कर उनकी मेहरबानी पर जीना पड़ा। जमीन-मालिक ही कानून बनाने वाले भी थे। (हिन्दुस्तान में भी स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व बड़े-बड़े पट्टेदारों को ही मतदान का अधिकार था।) वे अपनी सुविधा के ही कानून बनाते थे। बलवानों ने जमीन आपस में बाँट ली और वे दुर्बलों को मेहनती किसान बना कर बिना श्रम से मिलने वाले लगान पर ऐश-आराम करने लगे।

(३) **शोषक साहूकारी**—आरम्भ में हर एक आदमी अपनी-अपनी जमीन का मालिक था। और, किसी को किसी से कुछ लेना-देना नहीं था। किन्तु निकृष्ट जमीन वाले किसानों को सावन-भादों में अन्न की कमी पड़ती थी। तब उन्हें दूसरे खुशहाल किसानों से मदद लेनी होती थी। इससे

दूसरों की मुसीबत से फ़ायदा उठाने की लोभी वृत्ति के लिए मौका मिला। अर्थात् इससे शोषक साहूकारी पैदा हुई। साहूकारी के पोषक एवं शोषक, उपकारक तथा अपकारक, बट्टे खाते की और ब्याजखोरी की, इस प्रकार की दोनों पद्धतियाँ संसार में चल रही हैं। उपकारक साहूकारी कभी अदालत के दरवाजे पर कदम नहीं रखती। इसमें ब्याज नहीं होता, बल्कि मूलधन में ही कुछ छूट देने की रीति है।

परन्तु शोषक साहूकारी तो सवाया लेती है। नतीजा यह होता है कि जिस किसान को पिछले साल में एक मन का घाटा आया, उसे फसल काटते ही उस अपर्याप्त फसल में से भी सवा मन अनाज निकाल कर देना पड़ता है। फलतः आगामी वर्ष में उसे सवा दो मन का घाटा आता है और साढ़े बाईस सेर ब्याज में देने पड़ते हैं। तीसरे साल घाटा तीन मन साढ़े बत्तीस सेर और ब्याज अड़तीस सेर दस छटाँक। इस प्रकार कर्जदार की गृहस्थी उत्तरोत्तर गिरती जाती है और अन्त में साहूकार उसकी भूमि ही मोल ले लेता है और पहले जो ब्याज लेता था, वह उसकी जगह अब लगान लेने लगता है। जिसका निर्वाह सारी खेती की उपज में भी नहीं होता था, उसका निर्वाह अब लगान देने के उपरान्त बची हुई उपज में किस तरह होगा। अर्थात् उसे बैल बेच कर बटाईदार से कृषि-मजदूर बनना पड़ता है और पुराने जमाने में तो उसे एक के बाद एक अपने लड़के भी बेचने पड़ते थे। इस प्रकार गरीबों की यह गृहस्थी बे-पेंदे की होती है। उधर साहूकार भी स्वयं खेती करना छोड़ देता है और लगान वसूली और मजदूरों से खेती करवाने का काम करता है। किन्तु थोड़े ही समय में वह गाँव के नीरस जीवन से ऊब कर शहर का रास्ता पकड़ता है। गाँव से ब्याज और लगान तो मिलता ही रहता है, वहाँ दूसरी आय का काम करने पर वह गाँव से आमदनी वसूल करने का काम अपने कारिन्दे को सौंप देता है या वह अपनी गाँव की जायदाद किसी व्यक्ति के हाथ बेच कर उससे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार किसानों की जमीनें वैधानिक पद्धति से साहूकारों के कब्जे में जाती हैं और लगान देने वाली हो जाती हैं।

जमीन खरीदने की बात—कुछ जमींदार कहेंगे कि हमने तो जमीन नकद कीमत देकर खरीदी है। पर आपने वह खरीदी किससे! या तो जुल्मी मालिक

से ली होगी, या जोतने वाले मालिक से। अस्तु, बेचने वाले को जितना और जैसा अधिकार था, उतना ही अधिकार आपको प्राप्त हुआ। जब तक चोरी का पता नहीं लगता तभी तक उस पर खरीदार की मालकियत रहती है, बात खुलते ही माल जब्त होता है और खरीदार अपराधी करार दिया जाता है।

अब अगर जमीन आपने जोतने वाले परिश्रमी किसान से खरीदी हो तो उसे सिर्फ अपनी साख यानी जमीन में की हुई तरक्की ही बेचने का अधिकार था। (सब भूमि का असली मालिक तो ईश्वर ही है), अर्थात् आपने जोतने वाले मालिक को 'पगड़ी' (नजराना) दी, कीमत नहीं। अस्तु इन दोनों अवस्थाओं में से किसी में भी आपको भूमि के न्यायानुकूट वितरण में रुकावट डालने का अधिकार नहीं है।

भूमि की न्यायानकूल व्यवस्था—इस प्रकार भूमि का स्थायी रूप से स्वामी कोई भी नहीं माना जाना चाहिए। भूमि मनुष्य के स्वामित्व की वस्तु है ही नहीं। भारत में जो भूदान यज्ञ चल रहा है (इसके बारे में चौदहवें अध्याय में लिखा जा चुका है), उसमें आधारभूत विचार यही है। भूमि-हीनों को जो भूमि मिलेगी, वह भी स्वामित्व के अधिकार से नहीं मिलेगी। जब तक वे उस भूमि को अच्छी तरह से कमायेंगे, और जब तक उनके पास जीविका का और कोई अधिक लाभदायी साधन नहीं होगा, तभी तक उनके पास भूमि रहेगी। वे उसे बेच नहीं सकेंगे, तथा ठेके पर किसी और को देकर खुद किसी दूसरे रोजगार के लिए नहीं जा सकेंगे।

विशेष वक्तव्य, लगान का अन्त—निदान, सर्वोदय विचारधारा के अनुसार किसी व्यक्ति की, भूमि पर निजी मालकियत नहीं, जैसी आज कल प्राय: समझी जाती है। वह उस पर खेती कर सकता है, पर उसे उसको ठेके पर दूसरे को देने का अधिकार नहीं है। ऐसी दशा में भूमि का लगान लेने-देने या लगान का परिमाण निश्चित करने का प्रश्न ही नहीं रहता। हाँ, जब कि समाज में राजव्यवस्था है, उसके संचालनादि के लिए धन की ज़रूरत रहेगी, जिसकी पूर्ति में सभी नागरिक भाग लेंगे। इस स्थिति में किसान अपना हिस्सा मालगुजारी के रूप में देगा, इसका विचार आगे किया जायगा।

इकतीसवां अध्याय

मजदूरी

सब के भले में अपना भला है। वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एकसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का हक दोनों का एकसा है। सादा मजदूर का और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

—गांधीजी

पैसे के दर ऊपर नीचे होते हैं। आप मजदूरों को निश्चित परिमाण में ज्वार क्यों नहीं देते! मेरा सुझाव है कि यह परिमाण रोजाना कम से कम पचास तोला हो। स्त्री हो, चाहे पुरुष, ज्वार में फरक न किया जाय। मजदूरी में जो फरक करना है, वह पैसे में किया जाय।

—विनोबा

श्रम या मेहनत करने वाले को उसके श्रम के बदले जो धन दिया जाता है, उसे 'मजदूरी' कहते हैं। मासिक मजदूरी प्रायः वेतन या तनख्वाह कहलाती है। सर्वसाधारण में मजदूरी की अपेक्षा 'वेतन' शब्द अधिक आदर-सूचक है, परन्तु अर्थशास्त्र में ऐसा कोई भेद नहीं माना जाता।

मजदूरी सम्बन्धी विविध बातों का विचार करने के लिए पहले नकद और असली मजदूरी का भेद समझ लें।

नकद और असली मजदूरी—आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्रायः रुपये-पैसे में चुकाया जाता है। इसे नकद मजदूरी कहते हैं। यदि मजदूरी अन्न-वस्त्र आदि पदार्थों में दी जाय, तो उसे असली मजदूरी कहा जाता है। इसमें मकान, शिक्षा, या मनोरंजन आदि, वे विशेष सुविधाएँ भी मिली होती हैं, जो मजदूरों को उनके मालिकों की ओर से प्राप्त

होती हैं। नकद मजदूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। यह स्पष्ट है कि दो श्रमजीवियों में से, जिसे पदार्थ और सुविधाएँ अधिक मिलती हैं, उसकी दशा दूसरे से अच्छी होगी।

भारतवर्ष में पहले अधिकतर मजदूरी अन्न में चुकायी जाती थी। आचार्य कौटल्य ने अपने अर्थशास्त्र में नकद और असली दोनों प्रकार के वेतन की व्यवस्था की है। वह साधारण तौर से प्रत्येक ऐसे श्रमी के लिए जो एक ही व्यक्ति या संस्था का कार्य करे, कुछ नकद वेतन निश्चित करता है; तो साथ ही कुछ भोजन आदि भी ठहराता है। उसकी व्यवस्था के अनुसार श्रमी अपने खाने-पीने की आवश्यकता से बेफ़िक्र रहता था, और नकद वेतन से अपनी दूसरी जरूरतें पूरी कर सकता था। इस दशा में, पदार्थों के मूल्य के घटने-बढ़ने का श्रमजीवियों की आय पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुत से देहातों में अब भी यही दशा है; कृषि-श्रमजीवी अपनी मजदूरी अन्न के रूप में ही पाते हैं। परन्तु आधुनिक 'सभ्यता' के विकास से, नगरों या औद्योगिक गाँवों में मजदूरी नकद रुपये-पैसे के रूप में ही दी जाती है। इससे श्रमजीवियों पर जीवन-रक्षक पदार्थों की तेजी-मंदी का बहुत प्रभाव पड़ता है।

नकद वेतन में प्रायः न तो इस बात का विचार किया जाता है कि वह, श्रमजीवी के गुजारे के लिए पर्याप्त है या नहीं, और न इसी बात का कुछ नियंत्रण रहता है कि श्रमी उससे भोजन-वस्त्र खरीदता है या विलासिता की वस्तुएँ। अनेक मजदूर सवेरे से शाम तक मजदूरी करके अपने मालिक से कुछ गिने-गिनाये पैसे पाते हैं, जो उनके निर्वाह के लिए काफी नहीं होते; फिर, वे उनमें से भी काफी पैसे शराब आदि में खर्च कर डालते हैं।

अधिकांश मजदूरी अन्न और वस्त्र के रूप में मिले—इसका हल यही है कि श्रमियों को वेतन नकदी में न मिल कर अन्न-वस्त्र के रूप में मिला करे, जिससे वह अपने जीवन की इन प्रधान अवश्यकताओं की पूर्ति की ओर से निश्चिंत हो जाय, उसे भोजन वस्त्र के अतिरिक्त जो अन्य अवश्यकताएँ हों, उनकी पूर्ति का सामान वह इन पदार्थों के अतिरिक्त अंश के विनिमय से प्राप्त कर ले, यदि कहीं कुल वेतन अन्न-वस्त्र के रूप में देने की व्यवस्था न हो तो

इतना वेतन तो इस रूप में दिया ही जाय कि वह इन चीजों के लिए किसी के आश्रित न हो। मनुष्य को साधारणतया अन्न वस्त्र की आवश्यकता कितनी होती है, इसका अनुमान करना कुछ कठिन नहीं है; उतना प्रत्येक व्यक्ति को मिलना ही चाहिए, इसमें भिन्नता न होनी चाहिए; हाँ, अन्न के बारे में यह ध्यान में रखना ठीक होगा कि जिस प्रदेश में जो पदार्थ पैदा होता है, वही दिया जाय। यदि दो-तरह का अन्न पैदा होता है तो ये अन्न निर्धारित अनुपात में दिये जा सकते हैं। अन्न-वस्त्र के अतिरिक्त जो वेतन नकदी में दिया जाय, उसमें विविध प्रकार के श्रमियों में कुछ अन्तर रह सकता है, पर वह भी एक सीमा तक ही होना चाहिए, जिससे यथा-सम्भव समता का व्हवार हो। नकदी में दिये जाने वाले वेतन से आदमी अपनी अन्य जरूरतें पूरी कर सकते हैं। पैसे की दूषित अर्थ-व्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है कि नकद वेतन देना क्रमशः घटाकर असली वेतन का चलन बढ़ाया जाय।

मजदूरी की विषमता—मजदूरी के विविध पहलुओं पर विचार करते समय पहले उसकी विषमता का प्रश्न सामने आता है। वर्तमान अवस्था में यह बड़े विकराल रूप में उपस्थित है। भारत की बात लें। यहाँ राष्ट्रपति का मासिक वेतन दस हजार रुपये और दूसरे कितने ही अधिकारियों का तीन हजार से साढ़े पाँच हजार रुपये मासिक तक है (विविध भत्तों आदि की रकमें अलग रहीं)। इसके विपरीत, अनेक निम्न कर्मचारियों को पैंतीस-चालीस रुपये महीने में संतोष करना पड़ता है। इस प्रकार यहाँ एक अधिकारी दूसरे की अपेक्षा सौ गुने से लेकर ढाई सौ गुने तक वेतन पाता है।

शासन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र की बात सोचें, मिल का मेनेजर चार-चार पाँच-पाँच हजार रुपये मासिक वेतन क्यों पाता है, जब कि यहाँ दिन भर सख्त मेहनत करने वाले अनेक मजदूरों को तीस-पैंतीस रुपये महीना या इससे भी कम मिलता है! यह ठीक है कि मेनेजर की योग्यता वाले व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है; इसके विपरीत, मजदूर तो अनेक मिल सकते हैं। माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार मेनेजर को वेतन बहुत अधिक, और मजदूर को बहुत कम होती है, किन्तु क्या वेतन की इतनी विषमता उचित है?

और, क्या दो व्यक्तियों की, भोजन-वस्त्र आदि की मूल अर्थात् प्राकृतिक आवश्यकताओं में इतना अन्तर होता है ? इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों की मजदूरी की बात है।

बौद्धिक और शरीर-श्रम का पारिश्रमिक—मजदूरी की विषमता बौद्धिक कार्यकर्त्ता और शरीर-श्रमी में व्यापक रूप से मौजूद है। पहले को साल में कम दिन और प्रति दिन कम घंटे काम करने पर भी शरीर-श्रमी की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाएँ तथा बहुत अधिक वेतन दिया जाता है। उदाहरण के लिए बिश्वविद्यालयों में प्रोफेसर साल में कुल मिला कर प्रायः छ माह से भी अधिक की छुट्टी मनाते हैं तो भी वेतन बारह महीने का पाते हैं। जिन दिनों वे काम करते हैं उनमें औसत दो-तीन घंटे ही काम होता है। फिर भी उनका वेतन साधारण शरीर-श्रमी की अपेक्षा कई-कई गुना होता है। यही बात न्यायाधीशों, राज्यपालों, मंत्रियों तथा अन्य अनेक सरकारी पदाधिकारियों की है। कितने ही व्यक्ति तो औसतन दो घंटे भी हर रोज काम नहीं करते और उनका काम भी बहुधा उन कागजों पर हस्ताक्षर कर देने का होता है, जो उनके अधीन कर्मचारी तैयार करते हैं। समाज में इन लोगों को कितना आदर-प्रतिष्ठा और कितना अधिक वेतन मिलता है ! यह सब अन्याय-मूलक है। इसका अन्त होना आवश्यक है।

समाज-विरोधी बौद्धिक व्यवसाय—वर्तमान अवस्था में कितने ही बौद्धिक व्यवसाय समाज-विरोधी हैं। ये व्यवसाय बीमारी, गुनाह और व्यसनों को प्रोत्साहन नहीं देते तो उनकी वृद्धि के अभिलाषी तो हैं ही। डाक्टर सोचता है कि खूब बीमारी की मौसम आये, रोगियों की संख्या बढ़े और उसका धंधा अच्छा चले। वकील की यह चाह है कि लोगों में लड़ाई-झगड़े, मारपीट और मुकदमेबाजी हो, जिससे उसकी वकालत की आमदनी बढ़े। शराब (और भाँग, चरस, चाय, बीड़ी-सिग्रेट) का दुकानदार यही मनाता है कि जनता में नशीली चीजों के सेवन की प्रवृत्ति बढ़े, तभी तो उसकी दुकान अच्छी चलेगी। गल्ले का व्यापारी चाहता है कि किसी तरह अकाल या दुर्भिक्ष पड़ जाय जिससे उसके अन्न-भंडार ऊँचे भाव से बिकें और उसे खूब मुनाफा हो। इस प्रकार ये बुद्धिजीवी दूसरों के संकट को अपना सुयोग समझते हैं।

बुद्धि और धनोपार्जन—किसी व्यक्ति का अपनी बुद्धि को ऐसे कामों में लगाना उसका दुरुपयोग ही करना है। वह तो जनता-जनार्दन की सेवा में लगनी चाहिए, यदि उससे जीवन-निर्वाह का काम लिया जाय तो भी कुछ ठीक कहा जा सकता है, पर उससे दूसरों का अहित करके अपना स्वार्थ साधन करना सर्वथा अनुचित है, अमानुषिक है। श्री वियोगी हरि ने लिखा है—

'पढ़े-लिखे कहते हैं हम बुद्धि से काम करते हैं। लेकिन जीविका कमाने के लिए भगवान ने हाथ दिये हैं, और; बुद्धि दी है परोपकार के लिए। वकील डाक्टर, प्रोफेसर—इनके पास बुद्धि है तो वे समाज की सेवा करें। बुद्धि ब्रह्म-रस है। उसे बेचना पाप है। बुद्धि के उपयोग पर पेट भरने को कोई कुछ ले तो उतना उचित है। पर तिजोरी भरने के लिए बुद्धि का उपयोग करना अनर्थ है।

'कबीर आदि संतों ने प्रत्यक्ष अपने जीवन से यह सिद्ध किया कि हाथ से काम करते हुए सत्य के दर्शन किये जा सकते हैं। उन्होंने तो गाया है न कि—

सांई इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय॥

'लोग कहते हैं अधिक पैदा हो तो क्या करें? बाँट दो भाई। हाथ से श्रम-पूर्वक कोई काम करे तो इतनी पैदा होगी ही नहीं। लाख और करोड़ की कमाई तो बुद्धि के दुरुपयोग से ही होती है।' * अस्तु, बुद्धि का यह दुरुपयोग और मजदूरी की यह विषमता अन्याय-मूलक है। इसका अन्त होना चाहिए।

मिल मजदूरों का मिलों में साझा—आजकल मजदूरों के वेतन का समय-समय पर विचार होता है। कभी नकद वेतन बढ़ता है, कभी उन्हें कोई सहूलियत देने की व्यवस्था होती है। इससे सुधारकों को कुछ हर्ष और संतोष हो सकता है। पर ऐसे परिवर्तनों से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। दृष्टि तो यह हो कि मजदूर और मालिक का भेद हटे, दोनों एक दूसरे के नजदीक आवें मिल की आमदनी में दोनों को लगभग में समान हिस्सा मिले। श्री विनोबा ने कहा है—

* 'कस्तूरबा दर्शन' २२ फरवरी ५४ से संकलित।

'होना यह चाहिए कि मिलें मालिक और मजदूरों के साझे में हो; साल भर में जो कुछ मुनाफा हो, उसका कुछ हिस्सा धंधे के बढ़ावे के लिए रहे, कुछ मालिक को और कुछ मजदूरों को दिया जाय। मालिक को कितना हिस्सा दिया जाय, यह मालिक नहीं कहेगा। वह कहेगा, मैंने बुद्धि लगायी है! पूंजी मेरे पास की है, लेकिन मेरी नहीं है। पूंजी देश की है और मालिक भी देश का है। वह एक मेनेजर है, उसने अकल लगायी है। इसलिए मजदूर उसको जो देंगे, उस पर उसे संतुष्ट रहना चाहिए।

'उन्हें (मजदूरों को) तालीम मिले। वे जो काम कर रहे हैं, उसके इर्द-गिर्द का सारा ज्ञान उन्हें होना चाहिए। आज वे बुनने का काम करते हैं, लेकिन बुनने का विज्ञान नहीं जानते। माल कहाँ से आता है, कहाँ बिकता है यह नहीं जानते। उनके लिए ऐसे स्कूल होंगे, जहाँ यह सब ज्ञान उन्हें दिया जायगा। तो उनकी कार्यशक्ति बढ़ेगी, इज्जत बढ़ेगी और मालिकों को लगेगा कि इनको मिल का कारोबार भी सौंप दिया जा सकता है।'

मिल-मजदूरों और हाथ-मजदूरों की वेतन एकसी हो—वेतन सम्बन्धी एक अन्याय आज कल यह हो रहा है कि मिलों और कारखानों में काम करने वालों को हाथ-मजदूरों की अपेक्षा बहुत अधिक वेतन दिया जाता है। इसका परिणाम यह है कि हाथ-उद्योगों में काम करने वालों के लिए निरंतर अपना काम छोड़ने और कल-कारखानों में जाने का प्रलोभन बना रहता है। हाथ-उद्योग नष्ट हो रहे हैं, जिससे होने वाली विविध हानियों का विचार पहले किया जा चुका है। वास्तव में, जैसा कि श्री मश्रूवाला ने लिखा है—

'हाथ-मजदूरों का मेहनताना उनके माल का परिमाण और गुण देखकर नहीं ठहराया जा सकता, उनके काम का समय देख कर ही तय करना पड़ेगा। मिल का तकुआ एक दिन में एक पौंड सूत कात सकता है, और एक ही मजदूर एक साथ चल रहे ऐसे कई तकुओं की देख-रेख कर सकता है। ऊपरी तौर पर यह दिखेगा कि मिल-मजदूर ने एक दिन में कई पौंड सूत काता है, जबकि हाथ-कताई के द्वारा हमारे चरखा चलाने वाले ने सिर्फ आधा पौंड काता है। लेकिन मिल-मजदूर के अधिक उत्पादन का कारण उसका अतिरिक्त कौशल या मेहनत नहीं है। वह

तो उसके नये औजारों का फल है। हाथ-कताई की, और हाथ-कताई करने वालों की रक्षा राष्ट्र के हित में जरूरी है, इसलिए तथा जिन कठिन परिस्थितियों में हाथ-कत्तिन की जिन्दगी बसर होती है, उनमें उसके ठीक निर्वाह के लिए, हमें मानना चाहिए कि हाथ-कताई का यह आधा पौंड सूत उतना ही कीमती है जितना मिल-मजदूर का कई पौंड। इसलिए पूरे काम की समान घंटों की मजदूरी दोनों मजदूरों को एकसी देनी चाहिए।' *

प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजों के उत्पादकों को अधिक वेतन मिलना चाहिए—वर्तमान अर्थव्यवस्था में वेतन के विषय में कितनी अंधेरगर्दी हो रही है, इसका एक ज्वलंत उदाहरण यह है कि जो किसान सारी जनता के लिए भोजन-वस्त्र जैसी प्राथमिक आवश्यकताओं की चीजें पैदा करता है, उसे तो बहुधा अपने जीवन-निर्वाह के साधनों की प्राप्ति नहीं होती, और जो आदमी लोगों के लिए नशे, उत्तेजना, विलासिता या मारकाट आदि का सामान तैयार करता है, उसे किसान की तुलना में खूब ऊँचा वेतन मिलता है। क्या आश्चर्य कि चतुर चालाक आदमी खेती के 'गंवारू' काम से घृणा करें और बीड़ी सिग्रेट, शराब, लेमन-ज्यूस, आइस-क्रीम, तथा युद्धोपयोगी हिन्सक अस्त्र-शस्त्र बनाने की ओर आकर्षित हों। जरूरत है कि जो चीजें मनुष्य का स्वास्थ्य, तथा चरित्र बिगाड़ने वाली हों, वे पैदा ही न की जायें। यदि इस लक्ष्य को प्राप्त करने में कुछ देर लगे और बीच के समय में ऐसी चीजें क्रमशः कम करने की योजना अमल में लायी जाय, तो जब तक ये चीजें थोड़े-बहुत परिमाण में बनती रहें, लोगों में यह सोचने और समझने का विवेक तो होना चाहिए कि प्राथमिक आवश्यकता की चीजों के उत्पादकों को जो वेतन मिले, इसकी अपेक्षा गौण 'आवश्यकता' की चीजें बनाने वालों को बहुत कम दिया जाय।

स्त्री पुरुष के वेतन में भेद रखना अनुचित है—पश्चिमी देशों में अधिकाधिक स्त्रियाँ अपनी आजीविका के लिए काम-धंधा करती जा रही हैं।

---

* 'हरिजन सेवक', २४ मार्च १९५१

उन्होंने प्रायः सभी प्रकार की संस्थाओं तथा क्षेत्रों में प्रवेश कर लिया है। इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि उनका वेतन उसी काम में लगे पुरुषों के समान हो। रूस में इस समानता को प्रायः पूरी तरह अमल में लाया जा रहा है। भारत में स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र विशेषतया सन्तान-पालन और घर का कार्य माना जाता है। कुछ स्त्रियों को आर्थिक आवश्यकताओं अथवा स्वाभिमान पूर्वक अपनी आजीविका प्राप्ति के लिए कोई काम करना आवश्यक होता है। प्रायः उन्हें कई बाधाओं का सामना करना पड़ता है। 'समान काम के लिए समान वेतन'—यह तत्व अब व्यापक रूप से अमल में आना चाहिए। इसमें स्त्री-पुरुष का भेद रखना अनुचित है। यही नहीं, मानवता और समाज-हित की दृष्टि से स्त्रियों को वे सुविधाएँ भी दी जानी चाहिएँ, जो उनके मातृत्व सम्बन्धी कर्तव्य पालन करने के लिए जरूरी हों।

न्यूनतम मजदूरी या निर्वाह-वेतन—यूरोप, अमरीका के कुछ भागों में, खासकर जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धंधों में काम करने वाले के संघ बन गये हैं, और निश्चित नियमों के अनुसार काम होता है, एक धन्धे के मजदूर एक नियत वेतन से कम पर मिल ही नहीं सकते। कुछ देशों में तो कानून द्वारा यह तय हो गया है कि मजदूर को इतनी मजदूरी अवश्य ही मिले, जिससे उसका और उसके आश्रितों का निर्वाह हो सके। इसे न्यूनतम मजदूरी या निर्वाह-वेतन कहा जाता है। इसकी कुछ आधार-भूत बातें ये हैं—

१—प्रायः यह माना जाता है कि प्रत्येक कुटुम्ब में औसतन एक पुरुष, एक स्त्री और तीन बालक होते हैं।

२—मजदूर को मजदूरी इतनी मिलनी चाहिए कि वह उससे अपने कुटुम्ब का साधारण रीति से पालन-पोषण कर सके। [कुछ सज्जन स्त्री और बच्चों की मजदूरी कुटुम्ब की आमदनी में शामिल नहीं करते। उनका मत है कि कुटुम्ब के बढ़ने पर स्त्रियों को अपने घरों का काम करने के बाद न तो समय ही रहता है और न शक्ति ही। इस लिए उनसे मजदूरी नहीं करायी जानी चाहिए; और, लड़कों से तो स्कूलों में पढ़ने के अलावा मजदूरी कराना ही अनुचित है।]

३—मजदूरों का निवास-स्थान काफी और हवादार होना चाहिए।

४—मजदूरों के घर-खर्च के अतिरिक्त उनकी अन्य आवश्यकताओं का भी विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रसंग में तीन बातों का ध्यान रखना जरूरी है— (१) न्यूनतम मजदूरी जुदा-जुदा स्थानों में जुदा-जुदा हो सकती है, पर एक ही स्थान में अलग-अलग धन्धों के लिए भिन्न-भिन्न नहीं होनी चाहिए। (२) न्यूनतम मजदूरी की दृष्टि से खेती और उद्योग-धन्धों के मजदूरों में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिए। दोनों को ही इसकी आवश्यकता है। (३) यदि वास्तव में कोई उद्योग ऐसा है जो अपने मजदूरों को निर्वाह-वेतन नहीं दे सकता तो साधारण तौर पर ऐसे उद्योग को चलने का अधिकार नहीं है। हाँ, कुछ उद्योग ऐसे हो सकते हैं कि राष्ट्र-हित की दृष्टि से आवश्यक हों, पर उनसे मजदूरों को निर्वाह-वेतन न दिया जा सके। ऐसे उद्योगों की सरकार को ऐसी सहायता करनी चाहिए, जिससे मजदूरों को न्यूनतम वेतन अवश्य ही दिया जा सके। अस्तु, किसी भी दशा में मजदूर के न्यूनतम वेतन में कमी न होने देनी चाहिए।

कृषि-श्रमियों की न्यूनतम मजदूरी, बेकारी के समय का प्रश्न— यह तो स्पष्ट ही है कि खेतिहर साल में कई माह बेकार रहते हैं और इस समय भी उन्हें भोजन-वस्त्र आदि की आवश्यकता तो होती ही है। अगर उन्हें इस समय का वेतन न मिले तो उनका निर्वाह किस तरह हो। जो लोग समाज का भरण-पोषण करते हों, उनका भूखा-नंगा रहना किसी समाज के लिए शोभनीय नहीं। उनके गुजर-बसर की यथेष्ट व्यवस्था होनी ही चाहिए। श्री जो० का० कुमारप्पा ने कहा है–उत्पादक को और उनके ऊपर अवलम्बित परिवार के लोगों को केवल हंगाम के या खेती के थोड़े समय के लिए ही नहीं, बल्कि साल भर अपनी जीविका की साधन सामग्री जुट जानी चाहिए। इस बात को मद्देनजर रखकर उत्पादन की मजदूरी निर्धारित करनी चाहिए। उदाहरणार्थ आज चावल बारह आने पायली के हिसाब से मिलता होगा। पर उस बारह आने में चावल पैदा करने वाले खेती के मजदूर का साल के आठ महीने फाका रहने की ही गुंजाइश रहती है। समतायुक्त समाज में खेती के मजदूर को केवल खेती के मौसम में ही खाना, कपड़ा मिलने की व्यवस्था नहीं रहनी चाहिए, बल्कि वही व्यवस्था पूरे

साल भर तक उसे समुचित खुराक और कपड़ा मयस्सर कराने वाली होनी चाहिए।'

यह कहा जा सकता है कि बहुत से लोगों को बेकारी के समय की मजदूरी हर साल कई-कई माह देने से कोई अर्थव्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती। इसका हाल यह है कि ऐसी व्यवस्था की जाय कि किसानों और खेत-मजदूरों को बेकार रहने का अवसर ही न आये, प्रत्येक ग्राम या ग्राम-समूह के व्यक्तियों के श्रम का उचित संयोजन किया जाय, जिससे वे अपने खाली समय में ग्रामोद्योगों का काम कर सकें।

भारत में न्यूनतम मजदूरी—भारत में प्राचीन काल में मजदूरी निश्चित करने में उसकी जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पीछे इस विषय की प्रायः उपेक्षा ही रही। आधुनिक काल में सर्व-प्रथम सन् १६३५ में गांधीजी की प्रेरणा से अ. भा. ग्राम उद्योग संघ ने इस विषय को हाथ में लेने का साहस किया। उसने प्रस्ताव किया कि 'संघ की संरक्षता में तैयार होने या बेची जाने वाली तमाम चीजों के लिए हर कार्यकर्त्ता को आठ घंटे के पूरे काम के हिसाब पर कम-से-कम इतनी मजदूरी तो मिलनी ही चाहिए जो उसकी शास्त्रीय (वैज्ञानिक) खुराक के लिए काफी हो।....जैसे-जैसे और जब परिस्थिति अनुकूल हो, तब मजदूरी की दर में उस दर्जे तक वृद्धि होती जानी चाहिए, जिससे कुटुम्ब के कार्यक्षम व्यक्तियों की कमाई से सारे कुटुम्ब की ठीक तरह से गुजर हो सके। इसी आशय का प्रस्ताव अ. भा. चर्खा-संघ ने कत्तिनों के सम्बन्ध में स्वीकार किया।

इस योजना के अनुसार काम करने के लिए पहले यह मालूम किया गया कि कताई-क्षेत्र में रहने वाली जनता को किस प्रकार का भोजन अनुकूल होगा। फिर, इसके आधार पर योग्य डाक्टरों से सलाह-मशवरा करके, कम-से-कम आवश्यक भोजन का परिमाण निश्चित किया गया। एक आदमी के साधारण आवश्यक दैनिक भोजन के मूल्य का, आहार की वस्तुओं के स्थानीय मूल्य के अनुसार, हिसाब लगाया गया, और इसे आवश्यक खादी की कीमत के साथ जोड़कर दैनिक आठ घंटे के संतोषजनक कार्य की कम-से-कम मजदूरी निश्चित

की गयी। यद्यपि देश के विविध हिस्सों के रहने वाले लोगों के आवश्यकीय आहारों में काफी अन्तर है तो भी यह मालूम हुआ कि उक्त आधार पर हिसाब करके कम-से-कम दैनिक मजदूरी =) से ≡) तक होनी चाहिए। पहले कताई की रोजाना मजदूरी छः सात पैसे ही थी; नये आधार पर गिने हुए कताई-दर २५ से ७५ फीसदी तक बढ़ गये। पिछले वर्षों में कताई की दैनिक मजदूरी प्रायः छः आने से आठ आने तक रही है। परन्तु यह कुटुम्ब के निर्वाह-योग्य नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रस्ताव पूरे तौर से अमल में नहीं आया। हाँ, इस ओर ध्यान दिया जा रहा है।

मजदूरी समान करने का प्रयत्न—मजदूरी की वर्तमान विषमता दूर करना आवश्यक है। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए हमें यह निश्चय कर ही लेना चाहिए कि देश में एक श्रमी को दूसरे की अपेक्षा अधिक से अधिक कितने गुना तक वेतन दिया जाय। आरम्भ में तीन या चार गुने तक की मर्यादा रख कर काम चलाया जा सकता है। उदाहरण के लिए खादी-संघों में कार्यकर्ताओं का वेतन प्रायः कम-से-कम पचास और अधिक से अधिक तीन सौ रहता है। आदर्श की दृष्टि से इतना अन्तर भी न रहना चाहिए, तथापि वर्तमान दशा में जब कि अन्तर की कोई सीमा ही नहीं, उपर्युक्त नियम भी गनीमत है। अस्तु, लक्ष्य तो यही रहना चाहिए कि एक स्थान या प्रदेश के सब श्रमियों का वेतन समान हो। इस दिशा में प्रयोग आरम्भ हो गये हैं। सेवाग्राम (वर्धा) आदि की सार्वजनिक संस्थाएँ इस सिद्धान्त को अमल में ला रही हैं। वहाँ आश्रम के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रत्येक कर्मचारी को, चाहे वह अध्यापक हो, चाहे हरिजन मजदूर, रोजी के दो आने प्रति घंटे के हिसाब से समान रूप में मिलेंगे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक आश्रमवासी को उसके पुत्र के समग्र व्यय के लिए एक आना प्रति घंटा मिले। इस प्रकार आश्रम के प्रत्येक कार्यकर्ता को तीन आने प्रति घंटे के हिसाब से आठ घंटे के काम का करीब डेढ़ रुपया प्रतिदिन मिलता था। यद्यपि वर्धा में मजदूरी सस्ती थी, किन्तु यदि आश्रम के किसी काम के लिए मजदूर की जरूरत होती तो उसे आश्रमवासियों के समान ही वेतन दिया जाता। (इस समय आश्रम के कार्यकर्ता भूदान यज्ञ आदि में लगे हुए हैं।)

अभी (जुलाई १९५६) यह निश्चय किया गया है कि अ. भा. खादी और ग्रामोद्योग संघ की बिहार शाखा के सेक्रेटरी से लेकर कुली तक सभी कर्मचारियों को समान वेतन मिले। यह फैसला अप्रेल १९५६ से लागू समझा जायगा। इसके अनुसार संघ के कर्मचारी को अपनी नौकरी के पहले दो सालों में ६० रु० प्रति मास, इसके आगे के दो सालों में ७५ रुपये प्रति मास और इसके बाद के वर्षों में १०० रु० प्रति मास दिया जायगा। अब किसी भी कर्मचारी को १०० रु० से अधिक नहीं दिया जायगा।

प्रत्येक श्रमी को रोजी का अधिकार—सर्वोदय दृष्टि से मजदूरी के बारे में यह आवश्यक है कि समाज में कोई भी श्रम करने वाला व्यक्ति ऐसा न रहे जिसका भरण-पोषण न हो सके। जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रर्याप्त भोजन वस्त्रादि मिलना ही चाहिए। श्री विनोबा ने कहा है—

'जो भी शक्तियाँ हमारे पास हैं, उन्हें हम अपनी नहीं मानते (समाज की मानते हैं)। कोई भी व्यक्ति अपनी शक्ति भर समाज का पूरा काम करता है तो वह रोजी का हकदार हो जाता है। एक आदमी, जो बिना आँख का है, अपनी उस कमी के बावजूद जो कुछ बनाता है, पूरी शक्ति से सेवा करता है तो वह खाने का हकदार है। आँख वालों की अपेक्षा उसकी सेवा की मात्रा कम हो सकती है, जब कि उसने अपने पास की ताकत तो पूरी-पूरी लगादी। कम-ज्यादा शक्ति के अनुसार पोषण में कमी-वेशी देने की कल्पना गलत है। पोषण भौतिक वस्तु है, सेवा नैतिक वस्तु है! नैतिक वस्तु की कीमत भौतिक वस्तु में नहीं हो सकती। क्या डूबने वाले को बचाने वाले की दस मिनट की सेवा का मूल्य रोजी के हिसाब से आंका जा सकता है !' *

समाज का वातावरण ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार श्रम अवश्य करे, भले ही उसके काम की मात्रा कम हो। बिना श्रम किये, खाली बैठे मुफ्त का खाना अपमानजनक या अशोभनीय माना जाना चाहिए।

---

* 'कस्तूरबा दर्शन', २२ फरवरी ५४।

मजदूरों को अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता— इसके अतिरिक्त मजदूरों को अपना दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। इस समय जैसे पूँजीपति कहता है कि मैंने अपने बुद्धि-बल से सम्पत्ति प्राप्त की है, उसी प्रकार मजदूर की भी यह मान्यता है कि जो थोड़ा-बहुत मेरे पास है, वह मैंने अपने श्रम से कमाया है। इस प्रकार जहाँ तक सम्पत्ति पर स्वामित्व की भावना का प्रश्न है मालिक और मजदूर की एक ही भूमिका, एक ही आधार है। यह भूमिका जैसे मालिक को बदलनी है, वैसे ही मजदूर को भी बदलनी है। मजदूर को समझना है कि मैं अपना कर्तव्य पालन कर रहा हूँ, जो काम मैं करता हूँ, वह स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि देश और समाज के लिए कर रहा हूँ। मैं समाज और देश का सेवक हूँ। इस सचाई को हृदयंगम करके, मजदूर उतने ही पारिश्रमिक की माँग करे, जितना उसके लिए बहुत जरूरी हो, और इस पारिश्रमिक को लेते हुए वह अधिक से अधिक श्रम करे। वर्तमान अवस्था में तो वह जो श्रम करता है, वह कर्तव्य-भावना से नहीं, लाचारी से करता है। इसलिए यथासम्भव उसे टालने की इच्छा रखता और कोशिश करता है। मजदूरी बढ़ने पर भी वह काम कम से कम करता है। नतीजा यह होता है कि उत्पादन यथेष्ट नहीं बढ़ने पाता।

श्री जयप्रकाश नारायण ने कहा है कि 'संसार में पिछले १५० वर्षों से मजदूर आन्दोलन चल रहा है। परन्तु वह यशस्वी हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। सम्पत्तिदान के जरिये हम उसे भी नयी दृष्टि देना चाहते हैं। हमें मजदूरों से कहना चाहिए कि यदि तुम केवल अपने ही हित के लिए संघर्ष कर रहे हो तो इससे समाज की क्या भलाई होने वाली है। शोषित और शोषक के झगड़े में समाज का कौन सा कल्याण निहित है! आज तक मजदूर आन्दोलन केवल निजी स्वार्थों के संघर्षों पर आधारित है। इससे समाज को लाभ के बदले हानि ही होती है। अब तो मजदूर को अपनी नैतिकता पर खड़े होकर शक्ति-भर सेवा करना है और आवश्यकतानुसार लेना है। मजदूर आन्दोलन यदि यह स्वरूप ग्रहण करे तो निश्चय ही समाज में एक बिजली दौड़ जायगी, उसमें नये जीवन का संचार हो जायगा।'

बुद्धिजीवी क्रान्ति की ओर बढ़ें —ऊपर श्रमजीवियों की बात कही गयी है। बुद्धिजीवियों को भी अपनी दृष्टि बदलनी और शरीर-श्रम को प्रतिष्ठा देनी है। इस समय समाज में बुद्धिजीवी अपने आपको श्रेष्ठ मानता है, और श्रमजीवी हीन। बुद्धिजीवी अपने धन या बुद्धि के बल से अधिक पैसा कमाता है, जबकि श्रमजीवी बड़ी मुश्किल से अपना गुजर-बसर कर सकता है। इससे श्रमजीवी बुद्धिजीवी बनने की इच्छा रखता है। अगर सब लोग बुद्धिजीवी बन जायं तो क्या समाज एक दिन भी टिक सकेगा। हमारी सामाजिक विचारधारा में यह क्रान्ति होने की जरूरत है कि श्रमिक का जीवन बुद्धिजीवियों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठित है। यदि समझदार बुद्धिजीवी क्रान्ति की दृष्टि से कुछ अंश में भी मजदूर की तरह काम करेंगे तो उसका असर साधारण मजदूरों पर भी पड़ेगा और सोहबत संगत से उनका मानस सुधारने में और ईमानदारी से काम होने में मदद मिलेगी।*

मजदूरी सम्बन्धी आदर्श, गाँधी जी के विचार—गाँधी जी ने कहा था—'मैं तो मानता हूँ कि आदर्श स्थिति में बैरिस्टर और भंगी दोनों को एक ही वेतन मिलना चाहिए। परन्तु और सब की तरह मैं भी जानता हूँ कि दुनिया भर के सारे समाज इस आदर्श से दूर हैं! मैं यह भी जानता हूँ कि बैरिस्टर को जितना मिलता है, उसका वह हकदार नहीं है। परन्तु मुवक्किल खुशी से उसे भारी फीस देते हैं। और नीचे आवें तो लोग दर्जी को चार रु० रोज खुशी से देंगे, मगर मेहतर को आठ आने रोज से ज्यादा नहीं देंगे। सारे समाज को कमाई के एक ही स्तर पर लाने के लिए उसे धीरज के साथ सतत् शिक्षा देने की जरूरत है। इसलिए ऊँचे और नीचे दर्जे के कर्मचारियों के वेतनों के बीच की खाई पाटने की तमाम कोशिशें की जानी चाहिए।'†

विशेष वक्तव्य—जो सर्वोदय समाज हमारा आदर्श है, उसमें कोई व्यक्ति किसी भी उपयोगी कार्य से बचने का विचार नहीं करेगा, शरीर-श्रम

---

*'झाडू', मार्च-अप्रेल १९५२ में प्रकाशित श्री श्रीकृष्णदास जाजू के लेख से।

†'हरिजन सेवक', १०-८-१९४७।

करने की सब को इच्छा होगी, कोई कार्य घटिया दर्जे का नहीं माना जायगा। उस दशा में आदमी, परिवार या गाँव अधिक से अधिक स्वावलम्बी होगा; यदि किसी को दूसरे की सहायता और सहयोग की जरूरत होगी तो वह सहर्ष सेवा-भाव से दी जायगी, उसमें किसी तरह के स्वार्थ सिद्ध करने की भावना न होगी। मालिक और नौकर, हजूर और मजूर आदि का भेद न होगा। सभी मालिक होंगे, और सभी नौकर भी। इस प्रकार श्रम की यथेष्ट महत्ता होते हुए पारिश्रमिक या मजदूरी की विषमता या कमी न होगी और इससे सम्बन्धित विविध प्रश्न भी उपस्थित न होंगे।

बत्तीसवां अध्याय

सूद

सूद एक ऐसी बला है, जिसने समाज में कहीं टीले खड़े कर दिये हैं और कहीं पोखर खोद दिये हैं। सूद समता के लिए बहुत कड़वा विष है।

—भगवानदीनजी

रुपये का कोई ब्याज न होना चाहिए, क्योंकि रुपया स्वयं कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता। रुपया औद्योगिकता को प्रोत्साहन देने का एक-मात्र अथवा मुख्य साधन नहीं है, और न ही उसे बनाया जाना चाहिए।

—किशोरलाल मश्रूवाला

पूँजी का व्यवहार करने-देने के बदले में पूँजी वाले को पूँजी के अतिरिक्त जो द्रव्य दिया जाता है, उसे सूद या ब्याज कहते हैं। इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि वर्तमान काल में यह क्यों लिया या दिया जाता है, तथा इस पद्धति में क्या दोष है, और क्या सर्वोदय समाज-व्यवस्था में भी इसका कोई स्थान होगा।

सूद का विचार, पूँजी का विश्लेषण—सूद के प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि पूंजी में तीन चीजों का समावेश होता है—शोषित या अपहृत श्रम, विशेष सुविधाओं के कारण होने वाला अतिरिक्त उत्पादन, और विविध उपकरण या औजार आदि। अब इनमें प्रत्येक के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार करें।

(१) यदि पूंजीपतियों के पास जो पूंजी है, वह उन्होंने मजदूरों को कम मजदूरी देकर, अर्थात् उनके हिस्से की कुछ-कुछ सम्पत्ति अपने लिए बचाकर संग्रह की है, तो यह उनके द्वारा मजदूरों का शोषण किये जाने से जमा हुई है।

इस पर वास्तव में उनका कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार इस पूंजी को उधार देकर उस पर सूद लिया जाना ठीक नहीं है।

(२) यदि पूँजी विशेष सुविधाओं के कारण उत्पन्न हुई है तो उसका लाभ किसी खास व्यक्ति या संस्था को न मिलकर समाज को मिलना चाहिए; कारण, विशेष सुविधाओं का श्रेय किसी एक को नहीं। इस प्रकार किसी का अपनी पूंजी के लिए दूसरों से ब्याज चाहना अनुचित है।

(३) उपकरण या औजारों की बात लीजिए। यदि किसी उपकरण का हम उपयोग नहीं कर रहे हैं, और वह हमारे किसी दूसरे भाई के काम आ सकता है, तो हमें उसको उससे काम लेने की सुविधा सहर्ष और स्वेच्छा-पूर्वक दे देनी चाहिए। गांवों में इस समय भी अनेक आदमी परस्पर में ऐसा व्यवहार करते हैं। इसमें कुछ प्रतिफल (सूद) लेने की बात बहुत क्षुद्रता और संकीर्ण स्वार्थपरता की सूचक है।

धन तो श्रम से ही पैदा होता है—पहले कहा जा चुका है कि आजकल आदमी अपने धन को टिकाऊ बनाने तथा उसे सुविधा-पूर्वक रखने के लिए सोना चांदी या सिक्कों के रूप में बदलते रहते हैं। वे इसकी सुरक्षा और वृद्धि के वास्ते चिन्तित रहते हैं, और तरह-तरह के उपाय काम में लाते हैं। अगर यह द्रव्य जमीन में गड़ा रहे, या आलमारी में बन्द रहे और इससे खेती या उद्योग-धंधे का उत्पादक कार्य न किया जाय तो इसमें कोई वृद्धि न हो। तथापि इस द्रव्य का स्वामी जब इसे दूसरों को उधार देता है तो वह इसे एक मेहरबानी का काम समझता है और ब्याज लेने की शर्त पर ही उधार देता है। परन्तु उधार लेने वाला भी अगर इसे कहीं बन्द करके रख छोड़े तो इससे कुछ द्रव्य पैदा न होगा। इसलिए वह इस द्रव्य से उत्पादक कार्य करने के लिए आवश्यक साधन जुटाता है और श्रम करता है। इस श्रम के कारण ही वह इस द्रव्य को इतना बढ़ा लेता है कि ऋणदाता को उसकी रकम ब्याज सहित लौटाने पर स्वयं अपने लिए भी कुछ बचा सकता है। इससे स्पष्ट है कि रुपया पैदा करने का काम द्रव्य नहीं करता, श्रम करता है। बिना श्रम के रुपये की कुछ वृद्धि नहीं हो सकती।

सूद का विरोध—आजकल प्रायः सभी आदमी सूद लेते हैं; इस लिए सूद के उचित होने में कोई शंका नहीं की जाती। तथापि समय-समय पर

अनेक सज्जनों ने इसका विरोध और निन्दा की है। सभी मुख्य धर्मों ने इसे बुरा बताया है। इसलाम ने इसका स्पष्ट निषेध किया है। उपनिषदों में कहा गया है, 'शमलं कुसीदम्' अर्थात् ब्याज पाप है। ईसाई धर्म में भी इसे अनुचित माना है, तभी तो ईसाई संसार में यहूदी (सूद लेने के कारण) बहुत तिरस्कार भाव से देखे जाते हैं। सूद के शब्दार्थ की बात लीजिए। संस्कृत में ब्याज शब्द का अर्थ ढोंग या बहानेबाजी है। इस भाषा में ब्याज के पर्यायवाची शब्द 'कुसीद' के आरम्भ में जो 'कु' उपसर्ग है, वह कुत्सित या दूषित के अर्थ में आता है। अंग्रेजी में सूद के लिए 'इन्टेरेस्ट' शब्द है, उसका अर्थ स्वार्थ भी है।

महाभारत में इस विषय की एक बड़ी विचारोत्तेजक कथा है। एक चांडाल कन्या मरे हुए कुत्ते के मांस को खाने के लिए चिता की अग्नि पर पका रही थी। उसने आते-जाते राहगीरों को कहा कि मैं रसोई बना रही हूं तुम लोग दूर रहो अपनी छाया से या स्पर्श से इसे भ्रष्ट न करो। इस पर वहां पास में रहने वाले मुनि ने उस कन्या से पूछा कि चिता पर पकाये हुए मरे कुत्ते के मांस को खाने वाली तुझ चांडाल कन्या से अधिक पापी ऐसा कौन हो सकता है जिसका स्पर्श तेरे भोजन को अशुद्ध करदे। कन्या ने जवाब दिया, ऋण का ब्याज लेने वाला धनिक, लड़की का पैसा लेने वाला बाप, झूठी गवाही देने वाला, और किसी का विश्वास-घात करने वाला ऐसे अनेक व्यक्ति मेरी अपेक्षा सैकड़ों गुने पापी हैं।' इससे स्पष्ट है कि महाभारत-कार ने ब्याज लेने को कितने बड़े पापों में गिना है।

सूद का व्यवहार—सूद का इतना विरोध और निन्दा होते हुए भी अधिकांश आदमी इसकी आमदनी से परहेज नहीं करते। उपर्युक्त विरोध और निन्दा से यह भी सिद्ध होता है कि सूद लेने का रिवाज बहुत पुराना और व्यापक है, तभी तो प्राचीन साहित्य में इस का उल्लेख पाया जाता है। प्राचीन काल में सूद का इतना विरोध सम्भवतः इस लिए किया गया है कि उस समय बहुत दुखी और लाचार आदमी ही ऋण लेते थे और उनसे सूद लेना बड़ी निर्दयता या बेरहमी का काम समझा जाता था। आजकल तो बड़े-बड़े धनवान तक ऋण लेते हैं, जिससे वे अपना धन और अधिक बढ़ा सकें। इस प्रकार सूद लेने देने का आजकल एक आम रिवाज है। इसकी निन्दा या विरोध

की बात कुछ इने-गिने साधु महात्माओं तक या कुछ ग्रन्थों में ही सीमित है।

सूद की आय से हमारा तथा हमारे उत्तराधिकारियों का अनिष्ट—आजकल बहुतों की यह इच्छा रहती है कि जल्दी ही हमारे कारोबार से इतनी जमा-पूंजी इकट्ठी होजाय कि हमारा काम उसके ब्याज से ही चलता रहे। हमें कुछ हाथ-पांव न चलाना पड़े। इस प्रकार हम सूदखोरी से स्वयं अपने आपको आलसी और मुफ्तखोर बनाते हैं। यही नहीं, यदि सम्भव हो तो हम अपने बालकों के लिए भी इतना छोड़ जाना चाहते हैं कि उन्हें हाथ-पांव न हिलाना पड़े और आराम से, ब्याज की आमदनी से, मौज उड़ाते रहें। इस सम्बन्ध में श्री अप्पा पटवर्धन के आगे दिये विचार बहुत माननीय हैं—

'सम्पत्ति का बहुत संचय होने से आलस्य, विलास तथा व्यसन बढ़ते हैं।··· पुत्र को उत्तराधिकार में सम्पत्ति देना उसको विपत्ति में ढकेलना ही है। जो पिता अपने पुत्र के लिए निर्जीव सम्पत्ति का नहीं, प्रत्युत विद्या, चारित्र्य, पुरुषार्थ इत्यादि जीवित सम्पत्ति का उत्तराधिकार रखेगा, वही उसका सच्चा हितैषी है।

'अपनी पूर्व पुण्याई पर आज, या पूर्वजों के पुण्य पर इस जन्म में सुख भोगना या बड़प्पन बघारना कम-से-कम आज तो एक तरह से अपनी अयोग्यता प्रकट करने के बराबर है। बूढ़े भी अपनी भलमनसाहत पर जियें, यह उत्तम पक्ष है। युवावस्था में किये पुरुषार्थ पर जीना मध्यम पक्ष है, एवं पूर्वजों के कर्तृत्व पर जीना अधम पक्ष है। ताजा अन्न खाना उत्तम पक्ष है, सबेरे या दोपहर का दूसरी जून सायंकाल खाना मध्यम पक्ष है। लेकिन कल परसों का बासी अन्न खाना तो दैन्य ही है। लगान या ब्याज की आमदनी बासी अन्न ही है।'*

सूद नहीं रहना चाहिए—ऊपर कहा जा चुका है कि रुपया-पैसा हमारे पास पड़ा-पड़ा (बिना हमारे श्रम के) कोई धन पैदा नहीं करता, वह व्यर्थ में जगह घेरे रहता है। हमें चिन्ता रहती है कि कोई इसे चुरा न ले जाये और इसको ले जाने के लिए हमारी जान का ही ग्राहक न बन जाये। क्या यह अच्छा नहीं

---

* 'गाँव का गोकुल' पुस्तक से।

है कि कोई पुरुषार्थी श्रमजीवी उसका उपयोग करे, और पीछे हमारी जरूरत के समय हमें लौटा दे ? ऐसा आदमी रुपये की सुरक्षा के लिए हम से कुछ मेहनताना मांगे तो क्या बुरा है! पहले ऐसा होता भी था। बड़े-बड़े महाजन या सेठ दूसरों की अमानतें अपने यहां रखते थे तो वे उनका ब्याज देने के बदले, उनकी रखवाली का शुल्क लेते थे। अब भी बहुत से बैंक आदि छोटी-छोटी रकमों पर ब्याज नहीं देते, बल्कि उन्हें (तथा जेवर आदि) जमा रखने की फीस लेते हैं।

अब साधारण अर्थव्यवस्था दूसरी ही है। जो आदमी हमारी चीज की रखवाली करता है और उसकी चिन्ता से हमें मुक्त रखता है, उसका हम कुछ उपकार नहीं मानते; उलटा यह समझते हैं कि हम उस पर उपकार कर रहे हैं, और इस अजीब धारणा के आधार पर हम उससे ब्याज मांगते हैं। हमारे लोभ, तृष्णा और परिग्रह की भी कुछ सीमा है! हम अपने पास की बेकार चीज का भी दूसरों को, अस्थायी रूप से भी, उपयोग करने देना नहीं चाहते। मानवता का तकाजा है कि हम कुछ त्याग करके, कष्ट सह कर भी, दूसरों का हित साधन करें। निदान, सामाजिक परम्परा, दूसरों की लाचारी आदि किसी भी कारण से रुपये का ब्याज लेना अनुचित है।

श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने अपनी 'जड़-मूल से क्रान्ति' पुस्तक में लिखा है—

'ब्याज जैसी चीज रहने ही नहीं देनी चाहिए, बल्कि धन-संग्रह पर उलटे कटौती होनी चाहिए। जिस तरह बेकार पड़ा हुआ अनाज बिगड़ कर या सड़कर कम हो जाता है, उसी तरह बेकार पड़ा हुआ धन कम होता है। वह बिगड़ कर कम भले न हो, फिर भी उसे सम्हाल कर रखने की मेहनत तो पड़ती ही है। अगर सोने-चांदी को धन समझने की आदत न हो तो यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। सोना-चांदी धन नहीं हैं, बल्कि विरलता, तेजस्विता वगैरह गुणों की बदौलत प्रतिष्ठा-प्राप्त आकर्षक पदार्थ मात्र हैं। वे पड़े-पड़े बिगड़ते नहीं हैं, इतना ही इनके मालिक को इनका लाभ है। इस लाभ के लिए इन पर सरा दूकोई लाभ या ब्याज लेने का कारण नहीं है।'

श्री अप्पा पटवर्द्धन के विचार—इस विषय में श्री अप्पा साहब का आगे दिया कथन भी विचारणीय है * – 'जो आदमी अपनी कमाई में से कुछ बचाता है, उसका अपनी बचत पर अधिकार रहे, यह न्यायोचित और उद्यम-प्रेरक दोनों है। लेकिन सम्पत्ति सारी नश्वर होती है अर्थात् उसकी बचत भी नश्वर होगी ; स्वभावतः घटती ही जायगी। वह बचत शाश्वत आमदनी का साधन न बनने पाये। सूद के मानी शाश्वत आमदनी है। जमीन का लगान भी उसी स्वरूप का है। दोनों नाजायज हैं।'

'सिक्के भी नश्वर हों' :—सच्ची सम्पत्ति नश्वर ही होती है। लेकिन जब वह सिक्कों में बदल दी जाती है तब वह न केवल अमर बनती है, बल्कि बढ़ती भी जाती है। यह निसर्ग का भंग है और इसका इलाज करना चाहिए। '५६ के सिक्के '५७ में काम नहीं आने चाहिए। खजाने में उन्हें '५७ के सिक्कों, में बदलना लाजमी रहे और परिवर्तन की फीस हर साल ४ टका रहे। '५६ के १०० सिक्के = '५७ के ९६ = '५८ के ९२; ऐसा हो। अगर वह किसी को कर्ज के तौर पर दिये जायं तो साहूकार को दो फीसदी सूद मिले अर्थात कमी दो फीसदी ही हो।'

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में सूद का स्थान नहीं—वर्तमान अवस्था में लोगों को सूद पर रुपया उधार लेने की जरूरत निम्नलिखित कारणों से होती है—

१—अपने जीवन-निर्वाह का कार्य करने के लिए।

२—विवाह-शादी, जन्म-मरण, तीज त्योहार आदि सामाजिक आवश्यकताओं या रीति-रस्म और विलासिता के लिए।

३—बहुत से मजदूरों द्वारा बड़ा-बड़ा उत्पादन कार्य करके मुनाफा कमाने के लिए।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में ये बातें नहीं रहेंगी, इस लिए सूद देने-लेने की भी जरूरत न होगी—

---

* श्री अप्पा साहब ने ये विचार हमारे पास भेजे हुए अपने एक पत्र में सूचित किये हैं।

(१) जीवन-निर्वाह के लिए रुपया उधार लेने की आवश्यकता बहुत ही निर्धन और दीन दुखी आदमी को होती है। समाज में ऐसे व्यक्ति तभी होते हैं जब जनता में पारस्परिक स्नेह, सहयोग, सहानुभूति और बंधुत्व नहीं होता, एक दूसरे का शोषण करता है, और दूसरों की अज्ञानता और लाचारी का लाभ उठाता है। जब प्रत्येक व्यक्ति यथा-शक्ति श्रम करेगा, और श्रम का यथेष्ट मान होगा, कोई भी श्रम-साध्य कार्य घटिया दर्जे का न माना जायगा, और प्रत्येक श्रमी को निर्वाह-वेतन या न्यूनतम वेतन मिलने की व्यवस्था होगी तो किसी को अपने निर्वाह-कार्य के लिए रुपया उधार लेने की आवश्यकता न होगी, और यदि किसी व्यक्ति को आवश्यकता भी हुई, तो वह अपेक्षाकृत धनवान व्यक्तियों से सहज ही मिल जायगा, जो अपने धन को समाज-सेवा का साधन मानते हुए उसे एक ट्रस्टी के तौर पर रखेंगे।

(२)जनता में यथेष्ट ज्ञान का प्रचार होने से सामाजिक रीति-रस्मों या विलासिता में अनावश्यक धन व्यय करने की बात नहीं रहती। ऐसे ज्ञान का प्रचार करने की व्यवस्था सामाजिक शिक्षा द्वारा तथा लोकसेवी सज्जनों के व्यावहारिक जीवन के उदाहरणों द्वारा की जायगी।

(३)आजकल कुछ आदमी बड़े पैमाने की उत्पत्ति के कार्य प्रायः इसलिए करते हैं कि उनसे बहुत आय होती है, और सब खर्च निकालकर भी उन्हें बहुत मुनाफा होता है। ये लोग अपनी बौद्धिक योग्यता का उपयोग स्वार्थ-साधन अर्थात् धनोपार्जन में करते हैं, जब कि असल में वह लोकसेवा के लिए होना चाहिए। सर्वोदय व्यवस्था में बड़े पैमाने की केन्द्रित उत्पत्ति प्रायः बन्द हो जाने से लोगों को उसमें लगने वाली बड़ी पूंजी की भी जरूरत न हुआ करेगी। यदि कुछ खास कार्य केन्द्रित उत्पादन पद्धति से करने आवश्यक ही हुए तो वे सरकार द्वारा किये जा सकते हैं। शोषणहीन सर्वोदय समाज में सरकार या अन्य संगठनों को ऐसे कार्यों के लिए यथेष्ट पूंजी बिना ब्याज के मिलने में कोई बाधा नहीं होगी, खासकर जब कि जनता में वह लोकसेवा का एक साधन मात्र माना जाय।

क्या बैंकों से भी सूद न लिया जाय?—एक प्रश्न है। एक आदमी अपनी बचत को सुरक्षित रखने के लिए किसी बैंक में जमा करता है तो

क्या वह उससे साधारण ब्याज लेना छोड़ दे, जबकि बैंक अपने ग्राहकों या कर्जदारों से दुगुना-तिगुना ब्याज लेता है। हम पहले बता आये हैं कि सर्वोदय व्यवस्था में बैंकों का उद्देश्य अपनी पूँजी बढ़ाना नहीं होना चाहिए और इसलिए उन्हें किसी से ब्याज लेने की जरूरत नहीं, उन्हें तो घाटा सहकर जनता का हित करना है। ऐसे बैंक किसी व्यक्ति का रुपया ब्याज पर जमा नहीं करेंगे। पर अभी इस तरह के बैंकों का चलन नहीं हुआ है। इस दशा में जो आदमी सर्वोदय की भावना रखने वाला हो, वह अपनी बचत का रुपया बैंक में केवल इसलिए जमा रखेगा कि वह सुरक्षित रहे। उसे ब्याज का लोभ न होगा, और उसे बैंक द्वारा साधारण नियमानुसार जो ब्यंज मिलेगा, उसे वह अपने परिश्रम की कमाई न मानकर किसी लोकहित कार्य में लगाता रहेगा।

किसी को ऋण लेने की नौबत न आये—ब्याज का अन्त करने के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि साधारण कार्यों के लिए किसी व्यक्ति को ऋण लेने की आवश्यकता न हो; यदि किसी विशेष कारण से किसी को कुछ खास खर्च करना हो तो उसका प्रबन्ध समाज अर्थात् स्थानीय जनता या पंचायत आदि के द्वारा हो जाय। प्रायः आदमियों पर ऋण उनकी लम्बी बीमारी, या विवाह शादी अथवा जन्म मरण सम्बन्धी रीति रिवाजों के कारण हुआ करता है। अगर आदमी थोड़ा विवेक तथा दूरदर्शिता से काम लें, तो ऐसे अवसरों पर होने वाला खर्च बहुत घट सकता है। फिर भी जो खर्च एक परिवार की सामर्थ्य से बाहर हो उसमें बस्ती वालों को हिस्सा बंटाना चाहिए। खासकर विवाह शादी का खर्च तो किसी का निजी या घर खर्च नहीं होना चाहिए, सारे गांव की तरफ से होना चाहिए। श्री विनोबा के शब्दों में 'शादी के लिए किसी को कर्ज करना पड़े, यह बात सारे समाज के लिए दोष है। शादी तय करना माता-पिता का काम हैं, लेकिन उसके लिए खर्च सारा गाँव करेगा, क्योंकि वह एक सार्वजनिक काम है।'

विशेष वक्तव्य—सर्वोदय विचार यह है कि इस समय के सब कर्जदार ऋण-मुक्त हों, और भविष्य में कोई ऋणी न बने। हम अपनी-अपनी शक्ति भर इस दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न करते रहें। ऐसा लोकमत तैयार किया

जाना चाहिए कि सूद लेना (और देना) अनुचित है। जो ऋणदाता अपने कर्जदारों से (मूल-धन तथा ब्याज के मद्दे) मूलधन के बराबर या उससे कुछ अधिक रकम ले चुके हैं, वे उनका पूरा ऋण चुका हुआ समझें। अन्य ऋण-दाता भी उदारता और मानवता का व्यवहार करें। जो कर्जदार अपना और अपने परिवार का निर्वाह करने में भी असमर्थ है, उस पर कर्जा चुकाने के लिए जोर देना या कानूनी कारवाई करना इन्सानियत के खिलाफ है। कानून से भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि कोई ऋणदाता अपने कर्जदार के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के साधनों में कमी न कर सके। एक अच्छे संस्कृत समाज में जिस प्रकार सूद लेना अनुचित है, उसी प्रकार किसी का कर्जदार होना भी शोभा नहीं देता। इन दोनों बातों को बंद करने के लिए सब को अपना-अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए।

तैतीसवां अध्याय

मुनाफा

पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम ।।

—कबीर

मालिकों को चाहिए कि वे अपने धन को समाज के कल्याण के लिए प्राप्त धरोहर मानें, जो कुछ मुनाफा साल भर में हो, उसका एक भाग कारखाने के विकास मे लगे और एक भाग मजदूरों में बांटा जाय और एक छोटा भाग मालिक को जाना चाहिए; लेकिन लगायी गयी रकम के ब्याज और मुनाफे के रूप में नहीं, बल्कि उसकी सेवाओं, व्यवस्था-कौशल और योग्यता के वेतन के रूप में उसे मिलना चाहिए और उसका यह भाग आपस के समझौते से तय होना चाहिए।

—विनोबा

मुनाफे का अर्थ—किसी पदार्थ के कुल उत्पादन-व्यय और उसकी कीमत में जो अन्तर होता है, वह मुनाफा कहलाता है। आजकल उत्पादन-व्यय में उस पदार्थ के कच्चे माल के मूल्य के अतिरिक्त लगान, मजदूरी और सूद तो शामिल होते ही हैं। इनके अतिरिक्त उसमें औजारों और यंत्रों की घिसाई, विज्ञापन, बीमा-खर्च, उसे लाने-लेजाने का यातायात खर्च भी गिना जाता है। अगर वह पदार्थ बिजली या भाप आदि की चालक शक्ति से बनाया जाता है तो उसका खर्च भी उत्पादन-व्यय का अंग है। इन सब खर्चों में कच्चे पदार्थ तथा लगान, मजदूरी और सूद का खर्च मुख्य और अनिवार्य होता है, अन्य खर्च ऐच्छिक हैं। उदाहरण के लिए यदि उसका बीमा नहीं कराया गया तो बीमा-खर्च नहीं होगा। यदि उस वस्तु को उत्पादन-स्थान में ही बेच दिया गया तो यातायात खर्च न होगा, और अगर उसमें किसी चालक शक्ति का

उपयोग नहीं हुआ तो उससे सम्बन्धित खर्च का भी प्रसंग नहीं आयेगा। इस दशा में किसी वस्तु की कीमत में कच्चे पदार्थ, लगान मजदूरी और सूद सम्बन्धी खर्च निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफा है।

मुनाफा, बौद्धिक कार्य का फल—मुनाफे को व्यवस्था का प्रतिफल कहा जाता है। व्यवस्था में प्रबन्ध और साहस का समावेश माना जाता है। ये दोनों ही बौद्धिक कार्य हैं। प्रायः प्रबन्ध को निर्धारित वेतन या पुरस्कार दिया जाता है, जिसे वर्तमान अर्थशास्त्र में प्रबन्धक की कमाई कहते हैं। इस प्रकार वास्तव में मुनाफा केवल साहस का फल रह जाता है। साहस का अर्थ 'हानि-लाभ की जोखम उठाना, किया जाता है, पर व्यवहार में यह लाभ या मुनाफे की आशा ही है।

शोषण पर निर्भर—साहसी अपने लाभ और स्वार्थ को दृष्टि में रख कर काम करता है। वह उत्पादन व्यय में अधिक से अधिक बचत करना चाहता है। वर्तमान अवस्था में वह जमीन वाले के लगान (किराया) और पूंजी वाले के सूद में विशेष कमी नहीं कर सकता। पर मजदूरों को अपना श्रम बेच डालने की जल्दी होती है, उनकी इस कमजोरी से साहसी परिचित होता है; इसलिए वह, जहाँ तक हो सकता है, कम मजदूरी देता है। जितना वह इन्हें कम देता है, उतना ही उसका मुनाफा अधिक होता है। सार यह है कि अन्य बातें समान होते हुए, श्रम का शोषण जितना अधिक होगा, मुनाफा उतना ही अधिक होगा।

मुनाफे की मर्यादा—वर्तमान व्यवस्था में हरेक उत्पादक तथा व्यापारी अधिक से अधिक मुनाफा लेना चाहता है; वह अपने मुनाफे की कोई सीमा रखने का विचार ही नहीं करता। एक मजदूर को आठ घंटे तथा इससे भी अधिक समय काम करने से क्या मिलता है, इससे उसे कुछ मतलब नहीं होता। वह तो अपने धन का परिमाण बढ़ाने की फिक्र में रहता है। वास्तव में यह कार्य सेवा की दृष्टि से, कर्तव्य या धर्म मान कर किया जाना चाहिए। इसमें मुनाफे का सवाल नहीं उठता; हां, वाजिब मेहनताना मिल जाना चाहिए।

मुनाफे का अधिकार व्यक्तियों को होने से हानि—साहसी या उत्पादक अपने मुनाफे के सामने समाज की हानि का विचार नहीं करता। अनेक

दशाओं में वह ऐसा उत्पादन करता है, जिससे उसका खूब स्वार्थ-सिद्ध हो, भले ही उससे समाज को कितनी ही हानि हो। आज दिन हम अनेक स्थानों में भोजन-वस्त्र की कमी होते हुए भी बाजारों की दूकानों को फैशन और शौकीनी की तरह-तरह की आकर्षक वस्तुओं से भरी देखते हैं। बनस्पति तेल के बड़े-बड़े कारखाने खोले जाते हैं, खाने-पीने की अनेक स्वादिष्ट या जायकेदार और चट-पटी मसालेदार चीजों का प्रचार किया जाकर जनता का स्वास्थ्य नष्ट किया जाता है। यही नहीं, हिन्सक अस्त्र-शस्त्रों को बड़े-बड़े पैमाने पर बनाया जाता है, तथा युद्ध-ज्वर फैला कर उन्हें खरीदने के लिए विविध राष्ट्रों को लालायित किया जाता है—इन सब बातों के मूल में उत्पादकों की मुनाफेखोरी की मनोवृत्ति ही तो है।

इस दृष्टि से (तथा पूंजी और श्रम का संघर्ष हटाने के लिए) कुछ लोगों का विचार है कि उत्पादन में जो लाभ हो, उसमें मजदूरों का भी काफी भाग हो। मुनाफे का निर्धारित भाग रक्षित धन में लिया जाकर जो बचे वह मालिकों और श्रमजीवियों में आधा-आधा बांट दिया जाय। पर यह योजना भी ठीक नहीं है; मालिकों या पूंजीपतियों की संख्या मजदूरों से कम होती है। इसलिए इस योजना से प्रत्येक मालिक के हिस्से में एक-एक श्रमजीवी की अपेक्षा बहुत अधिक धन आयगा, और आर्थिक विषमता बनी रहेगी। दूसरे, एक ही स्थान में एक उद्योग में दूसरे की अपेक्षा अधिक मुनाफा होने की दशा में उस उद्योग के मजदूरों को दूसरे उद्योग के मजदूरों की अपेक्षा अधिक आय होगी; यह भी ठीक नहीं। इस प्रकार मुनाफे के बंटवारे की योजना भी यथेष्ट हितकर नहीं।

मुनाफे का अधिकार समाज को होना चाहिए—निदान, मुनाफे पर अधिकार न तो एक व्यक्ति का हो, और न कुछ थोड़े से व्यक्तियों का; वह समाज की चीज मानी जाय, वैसे भी मुनाफा बौद्धिक कार्य का फल है, जो समाज-सेवा के लिए होना चाहिए। जैसा कि श्री काका कालेलकर ने कहा है :—

'पूँजीपति को स्वत्व का अधिकार सिर्फ उसकी मेहनत के जितना ही होना चाहिए। बाकी की पूंजी और मुनाफा वह समाज-सेवा के लिए ही अपने पास रख सकता है। ...आज जो उसकी निजी सम्पत्ति मानी जाती है, वह सचमुच समाज की मूक सम्मति से उसके पास धरोहर

के रूप में है। राष्ट्र-हित के लिए अगर कोई जमीन, कारखाना या पूंजी देनी पड़ती है, तब प्रतिमूल्य के रूप में वह उसकी बाजारू कीमत नहीं ले सकता। वह तो अधिक से अधिक अपनी जिन्दगी भर की मेहनत का मूल्य मांग सकता है। मुनाफा तो उसका कभी था ही नहीं। मुनाफा तो समाज का है। उस पर अगर व्यक्ति का अधिकार माना जाय तो कारखाने के पुराने-नये सब के सब कर्मचारियों का भी उसपर अधिकार है। समाज ही उन सब का प्रतिनिधि है' ['सर्वोदय', अगस्त १६४६]

स्वेच्छा-पूर्वक त्याग का विकल्प, राष्ट्र-स्वामित्व—क्या पैसे वालों से अपनी सम्पत्ति का मोह छोड़कर उसके ट्रस्टी बन जाने अर्थात् उसका केवल धरोहर के रूप में उपयोग करने की आशा की जा सकती है? आशा तो रखनी ही चाहिए। मनुष्य में ऊँचा उठने की, त्याग और सेवा-भाव का परिचय देने की असीम सम्भवनाएँ हैं; वह नर से नारायण बन सकता है। अच्छा है कि धनी लोग स्वेच्छा से सामाजिक भावना और अपरिग्रह स्वीकार करें। अन्यथा वे ऐसी स्थिति के निर्माण के लिए उत्तरदायी होंगे, जब इसके लिए बल का या कानून का आसरा लिया जायगा। निदान, धनवानों के सामने दो विकल्प हैं, वे स्वेच्छा से उसे सामाजिक कार्य के लिए लगायें, अर्थात् समाज की ओर से उसके ट्रस्टी होकर रहें; अन्यथा उस सम्पत्ति पर राष्ट्र का अर्थात सरकार का स्वामित्व होने वाला ठहरा।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में मुनाफे का स्थान नहीं—मुनाफे का प्रश्न खासकर बड़े पैमाने के केन्द्रित और बिजली आदि शक्तियों से चलाये जाने वाले यंत्रोद्योगों में होता है; ये सर्वोदय अर्थव्यवस्था में बहुत ही सीमित होंगे, और जो होंगे भी उनपर समाज का अधिकार होगा, उनका संचालन सरकार द्वारा होगा। इस अर्थव्यवस्था के अनुसार उत्पादन-कार्य का आधार स्वावलम्बन, और उसकी पद्धति विकेन्द्रीकरण की होगी। इस प्रकार इसमें मुनाफे का स्थान न होगा।

आजकल उत्पादन के अतिरिक्त व्यापार में भी खूब मुनाफा लिया जाता है। यह खुले आम कहा जाता है कि व्यापार में झूठ बोले बिना काम नहीं चलता। इस प्रकार व्यापार के नाम पर जो लूट चल रही है वह किसी भले आदमी या

अच्छे समाज को शोभा नहीं देती। अस्तु, सर्वोदय विचारधारा के अनुसार व्यापार एक सेवा-कार्य है, इसमें मुनाफे की भावना नहीं होनी चाहिए। श्री विनोबा ने कहा है—'वाणिज्य को गीता के अर्थ में अगर हम धर्म मान लेते हैं, तो मुनाफे का सवाल ही नहीं उठता। किसान और आम जनता हमारी मालिक है, और हमें मालिक की सेवा करनी है। इसलिए मजदूर और किसान जो कुछ निर्माण करता है, उसके वितरण में हमें सिर्फ मेहनताना लेना है और हर वक्त यह सोचना है कि देश की सामग्री कैसे बढ़ सकती है। आठ घन्टे काम करके मजदूर केवल एक रुपया पाये, और व्यापारी एक हजार तो यह धर्म नहीं है। धर्मयुक्त व्यापार में न मुनाफा होना चाहिए न घाटा।'

मुनाफे बिना काम कैसे होगा?—यह कहा जा सकता है कि अगर लोगों को मुनाफा कमाने का अवसर न मिलेगा तो वे उत्पादन या व्यापार कार्य में उत्साह और स्फूर्ति कैसे प्राप्त करेंगे। स्मरण रहे कि मुनाफा कमाने या निजी सम्पत्ति रखने की मनोवृत्ति का मूल कारण यह है कि इस समय समाज में पैसे वालों का आदर है। पर यह सदा रहने वाला नहीं है। समाज अपना कल्याण चाहता है तो उसे पैसे को उसके कृत्रिम उच्च स्थान से अपदस्थ करना ही होगा। और, क्या आज भी समाज में सेवा, त्याग और श्रम की महिमा—वह सीमित क्षेत्र में भले ही हो—नहीं है? माता पिता अपनी संतान के लिए, भाई अपनी बहिन के लिए, बहिन अपने भाई के लिए, अनेक व्यक्ति अपने मित्रों या रिश्तेदारों के लिए विविध कष्ट सहते हैं, और कितने ही संत प्रकृति वाले तो अपने-पराये का भेद हटा कर किसी भी व्यक्ति के लिए त्याग-भाव का परिचय देते हैं। क्रमशः यह भावना बढ़ेगी। आदमी यह समझेगा कि किसी कार्य की उपयोगिता की कसौटी यही है कि उससे कितना आत्मिक सुख और संतोष मिलता है।

विशेष वक्तव्य—आशा है प्रत्येक देश में स्थान-स्थान पर कुछ माई के लाल अपने उदाहरण से ऐसी भावना के प्रचार और विस्तार में सहायक होंगे; क्रमशः अनुकूल वातावरण बन जायेगा, और हमारी कर्तव्य-बुद्धि ही हमें व्यक्तिगत पराक्रम के लिए यथेष्ट प्रेरक सिद्ध होगी। अस्तु, सर्वोदय अर्थव्यवस्था में सामाजिक मूल्यों की फिर से स्थापना होगी, और मुनाफे का महत्व न रहेगा।

चौंतीसवां अध्याय

आर्थिक समानता

आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है, पूँजी और मजूरी के झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठी भर पैसे वालों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का बड़ा भाग इकट्ठा हो गया है, उनकी सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोड़ों लोग अधपेट खाते और नंगे हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना।

—गांधीजी

मनुष्य को उतना ही रखने का अधिकार है, जितना उसे अपना पेट भरने के लिए जरूरी है। इससे ज्यादा रखने वाला चोर है और दण्ड देने योग्य है।

—भागवत

इस खंड के पिछले अध्यायों से यह स्पष्ट है कि यदि लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफे के बारे में प्रचलित विचारधारा को त्याग कर यथेष्ट सुधार कर लिये जायें तो आर्थिक विषमता न रहे। तथापि आर्थिक समानता का प्रश्न इतने महत्व का है कि इस पर अलग विशेष रूप से विचार किये जाने की जरूरत है।

आर्थिक समानता, का अर्थ, प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार—आदमी आर्थिक समानता का अलग-अलग अर्थ लेते हैं, इसलिए पहले यह जान लेना चाहिए कि इसका वास्तव में क्या अर्थ है, या समझा जाना चाहिए। इस विषय में गांधीजी ने कहा है—

'आर्थिक समानता की मेरी कल्पना का यह अर्थ नहीं कि हरेक को शब्दश: एक ही रकम दी जाय। उसका सीधा-सादा मतलब यह है

कि हरेक स्त्री या पुरुष को उसकी जरूरत की रकम मिलनी ही चाहिए। मसलन, सर्दियों में मुझे जो दुशाले की जरूरत पड़ती है, जबकि मेरे भतीजे के लड़के कनुगांधी को, जो मेरे पुत्र के समान है, एक भी गरम कपड़े की जरूरत नहीं पड़ती। मुझे बकरी के दूध, संतरे और दूसरे फलों की ज़रूरत होती है, कनु का काम मामूली खुराक से चल जाता है। मेरे खाने का खर्च कनु से ज्यादा आता है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि हम दोनों में आर्थिक असमानता है। आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है—हरेक को उसकी जरूरत के माफिक दिया जाय। मार्क्स की व्याख्या भी यही है। अगर कोई अकेला आदमी एक औरत और चार बच्चों वाले आदमी के बराबर की मांग करता है तो इसको आर्थिक समानता का भंग कहा जायगा।'

इस प्रकार आर्थिक समानता का अर्थ यह है कि हरेक को उसकी जरूरत के अनुसार मिले; न कम, न ज्यादा। इस प्रसंश में अमीर गरीब, शहरी और ग्रामीण, उच्च वर्ग और निम्न वर्ग आदि के भेद-भाव को लक्ष्य में रखकर लोगों की आवश्यकताओं में अन्तर समझना भ्रम-मूलक और अनिष्टकारी है। यह 'उपयोग का लक्ष्य' अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है।

आर्थिक समानता न होने के कारण—आर्थिक समानता की स्थापना के सम्बन्ध में विचार करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इस समय यह समानता क्यों नहीं है। वर्तमान आर्थिक विषमता का मुख्य कारण यह है कि अब बहुत सी उत्पत्ति गृह-उद्योग और ग्रामोद्योगों के बजाय केन्द्रीकरण पद्धति से कल-कारखानों में होती है, जिन पर कुछ इने-गिने व्यक्तियों का स्वामित्व होता है, इसी प्रकार भूमि के मालिक भी उसके जोतने वाले हजारों और लाखों किसान न होकर मुट्ठी भर जमींदार जागीरदार आदि हैं। फिर, इस समय पैसे की अर्थव्यवस्था है, उत्पादन का उद्देश्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं, पैसा कमाना है। पहले किसी आदमी के पास कुछ अधिक धन होता था तो वह जिन्स के रूप में होता था। अन्न आदि पदार्थ ऐसे हैं, जिनका संग्रह थोड़े ही समय के लिए और एक सीमित परिमाण में ही हो सकता है। अधिक समय का होने पर इनके खराब या नष्ट हो जाने

की आशंका होती है। इसलिए पहले जब कोई धनी व्यक्ति देखता कि उसके पास रहने वालों को इनकी आवश्यकता है, तो वह सहर्ष उनके लिए ये चीजें दे देता था। पर अब मुद्रा का चलन है। बैंकों में किसी-किसी आदमी का हजारों और लाखों रुपया जमा है। इस धन के पुराना होकर खराब या नष्ट होने की आशंका नहीं। इसलिए अकाल या दुर्भिक्ष के अवसर पर भी आदमी अपने भूखे-नंगे भाइयों की जरूरतों की परवाह न करके बैंकों की जमा को सुरक्षित रखने, और बढ़ाने की बात सोचते रहते हैं।

असमानता से हानि; भुखमरी और नैतिक पतन—इस प्रकार समाज में कुछ व्यक्ति तो बहुत अधिक धनवान और दूसरे बहुत अधिक दरिद्र हो जाते हैं। निर्धन लोगों को भोजन-वस्त्र आदि का कष्ट होने की सहज ही कल्पना की जा सकती है, पर धनवानों की भी हानि होती है; आर्थिक नहीं, नैतिक। लोकहित की चिन्ता करने वाले गांधीजी यह अनुभव करते थे कि 'धनी लोग वस्तुओं का अतिरिक्त संग्रह भी रखते हैं, जिसकी उन्हें आवश्यकता नहीं होती। फल-स्वरूप उसकी उपेक्षा और बरबादी होती रहती है, जबकि पोषक पदार्थों के अभाव में लाखों आदमी भूखे मर जाते हैं।' दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने यह भी देखा था कि 'लगभग बिना किसी अपवाद के, जिनके पास जितना अधिक संचय है, उनमें उतना ही अधिक नैतिक पतन है। इस प्रकार आर्थिक विषमता समाप्त करके समानता स्थापित करने में ही जनता का कल्याण है।

आर्थिक समानता की स्थापना के लिए अपरिग्रह की आवश्यकता—ऊपर कहा गया है कि आर्थिक समानता की दृष्टि से प्रत्येक आदमी को उसकी आवश्यकता के अनुसार मिलना चाहिए। पर प्रश्न यह होता है कि किसकी जरूरत कितनी है। यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य की वास्तविक या बुनियादी आवश्यकताओं के विषय में कोई विवाद नहीं होता। एक परिवार में यदि एक आदमी की खुराक का परिमाण अधिक है या उसकी आयु या तन्दुरुस्ती की दृष्टि से उसे कुछ विशेष ऐसी वस्तुओं के सेवन की आवश्यकता है, जो अपेक्षाकृत अधिक कीमती हैं तो इसमें कोई

झगड़ा नहीं होता। पर जब कोई आदमी स्वाद के लिए तरह-तरह के कीमती पदार्थ खाता है, अथवा शौकीनी के लिए बढ़िया कपड़े पहनता है, या परिग्रह की भावना से कई-कई जोड़ी कपड़ों का संग्रह रखता है, जबकि उसके दूसरे भाई बहिनों की साधारण आवश्यकता भी पूरी नहीं होती—कोई भूखा रहने को, कोई दिगम्बर-भेष रखने को, और कोई अर्द्ध-नग्न रहने को बाध्य हो—तो आपस में ईर्ष्या होने वाली ठहरी। मकान की बात लीजिए; दो आदमियों के पास अपने रहने के साधारण स्वच्छ मकान हों तो उनके आकार प्रकार में कुछ अन्तर होना नहीं अखरता। अखरने वाली बात तो यह होती है कि एक के पास कई-कई मंजिलों के विशाल सुन्दर सजे हुए इन्द्र-भवन हों, और दूसरों के पास घास-फूस की टूटी-फूटी झोपड़ी ही हो, अथवा उसका भी अभाव हो।

इसी प्रकार धनवानों के घरों में विविध प्रकार का सामान या सम्पत्ति देख कर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कितनी चीजें ऐसी संग्रह कर रखी हैं, जिनकी उन्हें वास्तव में आवश्यकता नहीं है, परन्तु जिनके लिए उनके मन में वासना या मोह है। निदान, विषमता का मूल कृत्रिम आवश्यकताएं और परिग्रह की भावना है। आर्थिक समानता लाने के लिए अपरिग्रह की नितान्त आवश्यकता है।

स्वामित्व विसर्जन—समाज में आर्थिक समानता स्थापित करने का प्रश्न इसीलिए सामने आता है कि अभी आर्थिक विषमता है। और, आर्थिक विषमता का मूल है लोगों की निजी सम्पत्ति की भावना। आदमी सम्पत्ति के जुदा-जुदा टुकड़ों पर अपना स्वामित्व अधिकार मानते हैं, और किसी का हिस्सा बहुत कम है, और किसी का बहुत अधिक। इसी से सब ईर्ष्या, कलह या झगड़ा है। स्पष्ट है कि यदि समाज में स्वामित्व-विसर्जन की भावना यथेष्ट रूप में हो जाय, सम्पत्ति का सब लोग एक परिवार के सदस्यों की तरह समान रूप से उपयोग करने लगें तो फिर कोई विवाद रहने की गुंजाइश न हो।

विचार कर देखा जाय तो सम्पत्ति का कोई भी भाग किसी व्यक्ति विशेष द्वारा उत्पन्न किया हुआ नहीं है, उसे पैदा करने में अनेक आदमियों ने, कुछ दशाओं में तो कई-कई पीढ़ियों ने, योग दिया। वास्तव में अकेला कोई भी आदमी, कोई सम्पत्ति पैदा नहीं कर सकता। सम्पत्ति तभी पैदा होती है, जब कई

आदमियों का, समाज का सहयोग है। इसलिए न्याय का तकाजा है कि सम्पत्ति के उपयोग में भी व्यक्ति का अधिकार मान्य न हो कर, समाज का अधिकार माना जाय। श्री विनोबा ने कहा है—

'हमें गांव-गाँव में जमीन की मालकियत मिटानी चाहिए। जमीन गाँव की बनानी चाहिए और कारखाने देश के। मालिक कोई नहीं। यही सुख-प्राप्ति का साधन है।'

उत्पादन के साधनों का बंटवारा—स्वामित्व-विसर्जन की बात सभी प्रकार की सम्पत्ति के लिए है। खासकर उत्पादन के साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण का बंटवारा ऐसा होना चाहिए कि जनता का सामान्य हित उचित रीति से सध सके। भारत में आज अर्थ-उत्पादन के रूप में सबसे महत्वपूर्ण साधन जमीन है। इसलिए उसके न्यायपूर्ण बंटवारे की बुनियाद पर ही आर्थिक समता और न्यायपूर्ण समाज-रचना का निर्माण हो सकता है। श्री विनोबा ने भूदान-यज्ञ इसी उद्देश्य से चलाया है। वैसे सम्पत्तिदान-यज्ञ का कार्य भी इसके साथ हो रहा है, जिसमें कारखाने आदि सभी प्रकार की आय को समाज की मानने की, और इस दिशा में कार्य रूप से पहला कदम समाज को छठा हिस्सा देने की बात है।

ट्रस्टीशिप—पहले कहा गया है कि आर्थिक समानता को व्यवहार में लाने के लिए आदमी को अपनी जरूरत के अनुसार ही सम्पत्ति रखनी चाहिए; यों किसी चीज को जरूरत से ज्यादा रखना भी बुरा नहीं, बशर्ते कि पहले गरीबों की जरूरतें पूरी हो जायें अथवा उस चीज का उपयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से, एक ट्रस्टी की हैसियत से किया जाय। गांधीजी ने इस सम्बन्ध में कहा है—

'आज के धनवानों को वर्ग-संघर्ष के और स्वेच्छा से धन के ट्रस्टी बन जाने के दो रास्तों में से एक हक को चुन लेना होगा। उन्हें अपनी मिल्कियत की रक्षा का अधिकार होगा। उन्हें यह भी हक होगा कि अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि मुल्क के भले के लिए, दूसरों का शोषण न करके वे धन को बढ़ाने

* इस विषय पर खुलासा विचार हमारी 'भूदान, श्रमदान, जीवनदान' पुस्तक में किया गया है।

में अपनी बुद्धि का उपयोग करें। उनकी सेवा और उसके द्वारा होने वाले समाज के कल्याण को ध्यान में रख कर उन्हें निश्चित कमीशन ही राज्य देगा। उनके बच्चे अगर योग्य हुए तो वे भी उस जायदाद के रक्षक बन सकेंगे।'

गांधी जी ने इस विषय पर और प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'धनवानों का ठीक व्यवहार न हो तो वे न्यायालय द्वारा अपने अमानतदार के पद से हटा दिये जायेंगे। इसके विपरीत, अगर वे अपना यह कर्तव्य विवेक-पूर्वक और ईमानदारी से पालन करेंगे तो उन्हें अपनी धरोहर-सम्पत्ति से होने वाली शुद्ध आय या मुनाफे में से पाँच-छः प्रतिशत भाग को पुरस्कार के रूप में पाने का अधिकारी बनाया जा सकता है; शेष मुनाफा सार्वजनिक हित में लग जायगा।'

व्यापारिक उत्पादन पर नियंत्रण—आर्थिक समानता के लिए व्यापारिक उत्पादन पर नियंत्रण होने की आवश्यकता स्पष्ट ही है। पहले बताया जा चुका है कि इस समय अनेक किसान जनता की प्राथमिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके तमाखू आदि चीजें पैदा करते हैं या ग्रामोद्योगों में काम आने वाले पदार्थों की जगह कल-कारखानों में काम आने वाले पदार्थ उत्पन्न करते हैं, जिससे उन्हें अधिक लाभ हो। कारखाने वाले जीवनोपयोगी आवश्यक पदार्थों की अवहेलना कर तरह-तरह की शौकीनी या विलासिता की चीजें बनाते हैं, क्योंकि उनके खूब दाम उठते हैं। यह व्यापारिक उत्पादन समाज के विविध वर्गों में तथा जुदा-जुदा देशों में उन्नत और पिछड़े हुए या अमीर-गरीब आदि का भेद-भाव पैदा करता है। इस विषमता की घातक खाई को पाटने का उपाय यही है कि केन्द्रित, मुनाफे वाला, श्रमजीवियों का शोषण करने वाला, विलासिता बढ़ाने वाला व्यापारिक उत्पादन बन्द हो; इस पर यथेष्ट नियंत्रण हो, चाहे इससे स्वदेश में या विदेश में कितना ही लाभ होता हुआ प्रतीत हो।

लोगों का कर्तव्य—हम यह न सोचें कि आर्थिक समानता की स्थापना राज्य करेगा या यह कानून द्वारा होगी। यह समानता हिंसा या जोर जबरदस्ती से भी होने वाली नहीं है। यह तो तभी यथेष्ट हितकर और स्थायी होगी जब

यह अहिंसक पद्धति से, लोगों को समझा बुझाकर, उनमें करुणा, दया और मानवता जगा कर की जायगी। अस्तु, यह कार्य प्रेमपूर्वक स्वयं जनता को ही करना है। किसी आदमी को समाज की, अर्थात् दूसरे आदमियों की प्रतीक्षा में बैठे रहना नहीं चाहिए। हरेक को अपने ऊपर तथा अपने क्षेत्र में जहाँ तक उसकी पहुँच हो, इसका प्रयोग करना चाहिए। यह कार्य सबसे पहले उन लोगों का है, जिन्हें आवश्यकता से अधिक मिला हुआ है या मिल रहा है। उच्च वर्ग अर्थात् सेठ साहूकारों और जमींदारों आदि को स्वयं अपने हित के लिए अपरिग्रही बनना और ट्रस्टीशिप की भावना को अमल में लाना चाहिए। नयी व्यवस्था से वे घबरायें नहीं; संभव है, जो आज कई-कई जोड़ी कपड़े रखते हैं, उन्हें दो-तीन से ही काम चलाना हो, या रेशमी की जगह सूती से संतोष करना हो; जो अब तरह तरह के जायकेदार पदार्थों का उपयोग करते हैं, और ज़रूरत से ज्यादा खाकर भी कुछ जूठन छोड़ देते हैं, उन्हें साधारण पुष्टिकर भोजन पर निर्वाह करना हो; जो मोटर दौड़ाते फिरते हैं, उन्हें तांगों पर यात्रा करनी हो! पर ये कोई ऐसी बातें नहीं हैं, जो सहन न की जा सकें। उन्हें तथा उनके मित्रों या रिश्तेदारों को बिचार करना चाहिए अपने उन भाइयों का जिन्हें भरपेट भोजन और ऋतु की आवश्यकता के अनुसार वस्त्र नहीं मिलता, और जिन्हें दूर दूर की मंजिलें तय करने के लिए अपनी टांगों का ही भरोसा रखना पड़ता है। मानवता के नाते प्रत्येक व्यक्ति को बड़े-बड़े त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

दूसरा वर्ग जिस पर आर्थिक समानता लाने का दायित्व है, वह है मध्यम वर्ग। समाज में क्रान्तियों का सूत्रपात तथा नेतृत्व यही वर्ग किया करता है। इस वर्ग के आदमियों को चाहिए कि पूँजीपतियों के हाथ का औज़ार और निम्नवर्ग के शोषण में सहायक होने से इनकार करें और सामाजिक प्रतिष्ठा या उच्चता की भावना छोड़कर अपने आपको किसान मजदूर के उत्पादक वर्ग में शामिल करे। इस समय किसानों और मजदूरों में उच्च वर्ग की नकल करने की इच्छा रहती है और वह न कर सकने से उनमें हीनता की भावना होती है। मध्यम और शिक्षित वर्ग के सम्पर्क से उनकी यह बात दूर होगी। मध्यम वर्ग के उपर्युक्त परिवर्तन का प्रभाव धनवानों पर भी पड़ेगा; कारण, इस दशा में उनकी

शोषण शक्ति का ह्रास हो जायेगा, उनका जीवन अधिक संयमी, लोकहितकर तथा मानवीय भावना से पूर्ण होगा।

विचारणीय बात—गांधीजी ने कहा है—'समाजवाद की जड़ में आर्थिक समानता है। थोड़ों को करोड़ और बाकी लोगों को सूखी रोटी भी नहीं, ऐसी भयानक असमानता में रामराज्य का दर्शन करने की आशा कभी न की जाय।......हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि समाज में अधिकांश लोगों के पास इतनी सम्पत्ति न हो कि उसे छीन लेने के लिए दूसरों की नीयत बिगड़ जाय। इसी प्रकार हर एक के पास इतनी सम्पत्ति हो कि सब सन्तोष से रह सकें, जिससे दूसरों की सम्पत्ति छीनने का उनका मन ही न हो।'

———

मैं राज्य-शक्ति की वृद्धि की ओर अधिकतम डर के साथ देखता हूँ; क्योंकि मालूम चाहे यह पड़ता हो कि राज्य शोषण को कम करके हमें लाभ पहुँचा रहा है, पर वह व्यक्ति का, जो सम्पूर्ण प्रगति का आधार है, विनाश करता है और इस प्रकार मनुष्य-समाज को अधिकतम हानि पहुँचाता है। हमें बहुत से उदाहरण ऐसे मालूम हैं, जिनमें मनुष्यों ने संरक्षक का सा बर्ताव किया, लेकिन ऐसा कभी भी नहीं हुआ कि राज्य का जीवन वास्तव में निर्धनों के लिए हो।

❀ ❀ ❀

जिस समाज का प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि उसे क्या चाहिए और इससे भी बढ़ कर जहां यह माना जाता है कि बराबरी की मेहनत करके भी दूसरों को जो चीज नहीं मिलती, वह स्वयं भी किसी को नहीं लेनी चाहिए, वह समाज जरूर ही बहुत ऊंचे दर्जे की सभ्यता वाला होना चाहिए। ऐसे समाज की रचना सत्य और अहिन्सा पर ही हो सकती है। ऐसा समाज अनगिनत गांवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग पर नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा।

गांधी जी

छठा खंड

अर्थव्यवस्था और राज्य

३५—राज्य का स्वरूप
३६—राज्य और उपयोग
३७—राज्य और उत्पत्ति
३८—राज्य और विनिमय तथा वितरण
३९—राज्य और शान्ति तथा रक्षा
४०—राज्य और अर्थनीति

पैंतीसवां अध्याय

राज्य का स्वरूप

हर एक गाँव में पंचायत-राज होगा। उसके पास पूरी सत्ता होगी। इसका मतलब यह है कि हर एक गाँव को अपने पाँव पर खड़ा होना होगा, अपनी जरूरतें खुद पूरी करनी होंगी ताकि वह अपना सारा कारोबार खुद चला सके; यहां तक कि वह सारी दुनिया के खिलाफ अपनी रक्षा आप कर सके।

—गांधीजी

सरकार निमित मात्र होती है। उसका काम यह नहीं है कि गाँव को हर चीज बाहर से ला दे। सब गाँवों का सम्बन्ध बना रखने के लिए सरकार है। सरकार का काम हरेक गाँव को स्वावलम्बी बनने में मदद देने का है।

—विनोबा

यह बताया जा चुका है कि सर्वोदय नीति के अनुसार अर्थ-व्यवस्था कैसी होनी चाहिए—उपयोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण में किन-किन बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए। अब इस बात का विचार किया जाता है कि ऐसी अर्थव्यवस्था से राज्य का सम्बन्ध कैसा और कहाँ तक रहेगा। सरकार के कार्य क्या-क्या होंगे अर्थात् उसके द्वारा किस प्रकार के कार्य किये जाने आवश्यक हैं। पहले संक्षेप में यह जान लेना उपयोगी होगा कि क्या समाज के लिए वास्तव में किसी सरकार का होना अनिवार्य है। और, यदि उसके बिना समाज का काम न चले तो उसका स्वरूप कैसा हो।*

अराजवाद का आदर्श—मनुष्य बहुत समय से किसी न किसी

* इन विषयों पर विस्तार-पूर्वक विचार हमारी 'राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' पुस्तक में किया गया है।

प्रकार के शासन में रहता आया है। साधारण आदमी सरकार के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि उन्हें ऐसी समाज-व्यवस्था की कल्पना नहीं होती जो सरकार-रहित हो। तथापि समय-समय पर समाज में सरकार रूपी संस्था होने का विरोध होता रहा है। क्रमशः ऐसी विचार-धारा उत्पन्न हो गयी कि सरकार एक हानिकारक वस्तु है, इसकी आवश्यकता सिर्फ इसलिए है कि आदमी में लोभ, मोह, अहंकार काम-क्रोध आदि दुर्भावनाएं हैं, और समाज की सुव्यवस्था के लिए इनका नियंत्रण होना चाहिए। अस्तु, मौजूदा हालत में समाज को राज्य की आवश्यकता अनिवार्य रूप से है। वह राज्य-रहित तभी बन सकता है, जब आदमी अपने ऊपर यथेष्ट नियंत्रण रखने वाला और अपने सब सामाजिक कर्तव्यों को स्वेच्छा-पूर्वक, बिना किसी कानूनी दबाव के पूरा करने वाला हो। राज्य-रहित समाज में हिन्सा या दबाव को कोई स्थान नहीं है। वह पूर्ण रूप से अहिंसक होगा। इस प्रकार समाज के लिए अराजवाद एक आदर्श है; उसकी ओर बढ़ते रहने का, वहां तक पहुँचने का प्रयत्न होते रहना चाहिए।

अहिंसक राज्य—राज्य-रहित होने का आदर्श रखते हुए समाज के लिए व्यावहारिक मार्ग यही है कि वह अहिन्सक राज्य का विकास करे; यों राज्य में कुछ हिंसा तो होती ही है। ऐसे राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, जो पूरे तौर से अहिन्सक हो; हां, वह अहिन्सा की ओर अधिकाधिक प्रगति कर सकता है। जब वह पूरा अहिन्सक हो जायगा तो उसके राज्यत्व का लोप हो जायगा, समाज राज्य-रहित हो जायगा। अस्तु, यहां राज्य-रहित समाज का नहीं, अहिन्सक राज्य का विचार किया जाता है—जिसका अधिकार-क्षेत्र कम से कम, और स्वरूप विकेन्द्रित हो। ज्यों-ज्यों मनुष्य संयमी और सेवा-भावी होता जायगा, सरकार को रखने की आवश्यकता कम होती जायगी। इस प्रकार सब से अच्छी सरकार वह है, जो शासन-कार्य सब से कम करती है; समाज की आदर्श व्यवस्था वह होगी, जिसमें राज्य की बिलकुल जरूरत न रहेगी।

सरकार का कार्य-क्षेत्र सीमित रहने की आवश्यकता—ऊपर सरकार की शक्ति या कार्यक्षेत्र सीमित रहने की बात कही गयी है। वर्तमान अवस्था में सरकार हमारे जीवन व्यवहार पर कितना अधिकार जमाये हुए है,

यह स्पष्ट ही है। हमारा भोजन वस्त्र, खानपान, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, लेन-देन, रीति व्यवहार, क्रय विक्रय, पारस्परिक सम्बन्ध आदि—सभी में सरकार का दखल है। विवाह शादी जैसे सामाजिक कार्य और दान पुण्य जैसे धार्मिक कार्यों का भी सरकार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह स्थिति मनुष्य का दम घोटने वाली सी है, व्यक्ति को खुली हवा में सांस लेने नहीं देती। आवश्यकता है सरकार का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित रहे; रोजमर्रा के साधारण जीवन में मनुष्य पर कम से कम प्रतिबन्ध रहे, और यह प्रतिबन्ध भी खासकर अपने नजदीक के तथा अपने जाने-पहचाने आदमियों की स्थानीय संस्थाओं द्वारा हो।

सरकार का संगठन—सर्वोदय व्यवस्था में शासन सम्बन्धी शक्ति और अधिकारों का मूल स्रोत सर्वसाधारण को माना जायगा। जनता की स्थानीय अर्थात् ग्राम और नगर की संस्थाएँ—जिनका वर्तमान रूप पंचायतें और म्युनिसपेलटियाँ हैं—अपने अपने क्षेत्र के आदमियों की रोजमर्रा की जरूरतें पूरी करेंगी। गणित की भाषा में कहें तो प्रत्येक क्षेत्र लगभग नव्वे पिन्चानवे प्रतिशत बातों के लिए स्वावलम्बी होगा। गाँवों और नगरों का एक दूसरे से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए ही सरकार की जरूरत रहेगी, और उसका संगठन किया जायगा। गाँव पंचायत और नगर पंचायत कुछ आवश्यक निर्धारित अधिकार वाली जिला पंचायतों का निर्माण करेंगी; जिला पंचायतें प्रादेशिक सरकार को और प्रादेशिक सरकारें संसद को बनायेंगी। इस प्रकार ग्राम और नगर संस्थाएँ शासन की प्रारम्भिक इकाइयां होंगी और उन्हें अपने क्षेत्र में शासन-प्रबन्ध के सब प्रकार के पर्याप्त अधिकार रहेंगे। वे अपने से बड़े क्षेत्र के हित का यथेष्ट ध्यान रखेंगी। इन संस्थाओं से ऊपर की इकाइयों के अधिकार और शासन-विषय क्रमशः कम होंगे, और केन्द्र का तो कुछ खास निर्धारित विषयों के अतिरिक्त अन्य बातों में कोई हस्तक्षेप ही न होगा।

निर्वाचन पद्धति कैसी हो?—आजकल चुनाव किस तरह होते हैं, उनमें कैसी अनीति, छल-कपट बर्ता जाता है, पैसे की कितनी जरूरत होती है, और पैसे के बल पर किस प्रकार आधुनिक जनतंत्र व्यवहार में धनतंत्र बन जाता है—इन बातों के ब्योरे में जाने की आवश्यकता नहीं। सर्वोदय व्यवस्था

में जिला पंचायतों, प्रादेशिक विधान सभाओं और (केन्द्रीय) संसद के लिए प्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति काम में नहीं लायी जायगी; इनके वास्ते चुनाव परोक्ष होगा। प्रत्यक्ष चुनाव केवल गाँवों या नगरों की स्थानीय संस्थाओं तक परिमित रहेगा, जहाँ आदमी यह जानते हैं कि जिस व्यक्ति को हम चुनना चाहते हैं वह कैसे चरित्र और विचार वाला है, उसमें त्याग, परिश्रम-शीलता, निष्पक्ष विचार और लोकसेवा की भावना कितनी है।*

गांधीजी का मत था कि ग्राम पंचायत के पाँच मेम्बर हों, जिनका चुनाव प्रतिवर्ष गाँव के सब बालिग स्त्री-पुरुषों द्वारा हो। पंचायत सम्मिलित व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका हो अर्थात् वह कानून बनाने, प्रबन्ध करने और न्याय करने का कार्य करे। गाँव जिले के प्रबन्ध करने वालों को चुनें और इस चुनाव में प्रत्येक गाँव का एक मत हो। जिले के प्रतिनिधि प्रान्तीय प्रतिनिधियों को चुनें और प्रान्तीय प्रतिनिधि राष्ट्रपति का चुनाव करें। इस पद्धति से शासन शक्ति का ग्राम इकाइयों में विकेन्द्रीकरण हो जायगा। इन ग्रामों में नागरिक स्वेच्छा से सहयोग करेंगे और इससे वास्तविक स्वतंत्रता उपजेगी।

शासन-संस्थाएँ—शासन में खास विचारणीय बात यह है कि जनता का, जनता के नीचे से नीचे दिखायी देने या समझे जाने वाले वर्ग का हित हमेशा सामने रहे। इसके अतिरिक्त हमारा लक्ष्य राष्ट्र की स्वतंत्रता, सुरक्षा और एकता हो; कोई बात मानवता-विरोधी होने का तो अवसर ही न आये। अस्तु, सर्वोदय व्यवस्था में हमारी जो शासन-संस्थाएँ होंगी, उन्हें आजकल की भाषा में ये नाम दिये जा सकते हैं—(१) ग्राम-पंचायतें या नगर-पंचायतें, (२) जिला-पंचायतें, (३) प्रादेशिक विधान सभाएँ और (४) संसद। न्याय सम्बन्धी स्थानीय कार्य अधिकांश में पंचायतों द्वारा ही हो जायगा; और

---

*प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने अपना निजी मत प्रकट करते हुए १३ जून १९५६ को कहा था संविधान बनाने से पहले से ही मेरा विचार है कि अगर चुनाव आंशिक रूप से अप्रत्यक्ष पद्धति से किये जायँ तो खर्च भी कम पड़ेगा और समय भी बचेगा। प्रारम्भिक चुनाव अप्रत्यक्ष पद्धति से ही किये जायँ। कभी बाद में इनके लिए भी अप्रत्यक्ष पद्धति अपनायी जा सकती है।

जब तक किसी नैतिक विषय की अवहेलना या कानून का दुरुपयोग न हो, पंचायती फैसला अंतिम होगा। कुछ विशेष इने-गिने मामलों की अपील हो सकेगी, उसके लिए तथा प्रादेशिक मामलों के लिए राज्य के न्यायालय होंगे। इस प्रकार न्याय विकेन्द्रित होने के साथ निस्पक्ष, सरल, सस्ता और जल्दी होगा।

स्मरण रहे कि भावी शासन-संस्थाओं का स्वरूप वर्तमान संस्थाओं से भिन्न प्रकार का होगा। उदाहरण के लिए वर्तमान पंचायतों को जो अधिकार प्राप्त हैं, वे प्रादेशिक सरकारों द्वारा दिये हुए हैं और उन पर जिला-मजिस्ट्रेट आदि का बहुत नियंत्रण है। इसी प्रकार वर्तमान प्रादेशिक विधान सभाओं के ऊपर केन्द्र की सत्ता है। इसके विपरीत, भावी संस्थाओं में मूल सत्ता स्थानीय संस्थाओं में रहेगी; पंचायतें स्वावलम्बी होंगी, वे अपने सब मामलों का प्रबन्ध स्वयं करेंगी; यहाँ तक कि रक्षा के लिए भी उनकी यथेष्ट तैयारी रहेगी। रक्षा के विषय में खुलासा आगे लिखा जायगा।

सरकारी नौकर, उनकी योग्यता और वेतन—शासन-प्रबन्ध में सरकारी नौकरों का महत्व स्पष्ट है। किसी आदमी को सीधे या एकदम उत्तर-दायी पद पर नियुक्त करना ठीक नहीं। केन्द्रीय क्षेत्र में ऐसे ही व्यक्ति नियुक्त किये जाने चाहिएँ; जिन्होंने प्रादेशिक क्षेत्र में योग्यता और लोकसेवा का परिचय दिया हो; इसी प्रकार प्रादेशिक क्षेत्र में नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति स्थानीय क्षेत्र में यथेष्ट अनुभव प्राप्त किये हुए सज्जन होने चाहिएँ। सरकारी कर्मचारियों का परिश्रमशील, ईमानदार, और सच्चरित्र होना अनिवार्य है। उन्हें वेतन सार्वजनिक कोष से दिया जायगा—ग्राम-सेवकों को पंचायती कोष से, प्रादेशिक सरकारों और केन्द्रीय सरकार के कार्यकर्ताओं को इन-इन सरकारों के कोष से। सबका वेतन अधिकांश में जिन्स के रूप में होगा, अर्थात् उनके लिए तथा उनके आश्रितों के वास्ते आवश्यक भोजन-वस्त्र और मकान की व्यवस्था की जायेगी। शिक्षा और चिकित्सा सार्वजनिक संस्थाओं में हो ही जायगी। उन्हें अपनी निजी फुटकर आवश्यकताओं के लिए—जो बहुत कम ही होंगी—विशेष द्रव्य की आवश्यकता न होगी। वे अल्प वेतन में संतुष्ट

रहेंगे । इस प्रकार कोई व्यक्ति खासकर वेतन के लोभ से सरकारी पदों की ओर आकर्षित न होगा । हाँ, कर्मचारियों के सेवा-कार्य के लिए उन्हें सरकार और जनता में आदर-प्रतिष्ठा स्वयं मिलेगी, पर वे उसके पीछे नहीं पड़ेंगे ।

विशेष वक्तव्य—सर्वोदय-व्यवस्था में शासन द्वारा लोगों के व्यक्तित्व का दमन या हिंसा न होगी, वरन् उसकी उन्नति, विस्तार या विकास का यथेष्ट अवसर मिलेगी । व्यक्ति ही तो समाज का केन्द्र-विन्दु होगा और उसका कल्याण करेगा । गांधी जी ने कहा है—

'जीवन एक मीनार के रूप में नहीं होगा, जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा होना होता है । वह समुद्र की लहरों की तरह एक के बाद एक, घेरे की शक्ल में होगा और व्यक्ति इनका मध्य विन्दु होगा । वह व्यक्ति सदैव अपने गाँव के लिए मिटने को तैयार होगा । गाँव अपने आस-पास के देहात के लिए मिटने को तैयार होगा । इस तरह सारा समाज ऐसे लोगों का बन जायगा, जो घमंडी बनकर कभी किसी पर हमला नहीं करते बल्कि हमेशा नम्र रहते, हैं और अपने में समुद्र की शान अनुभव करते हैं, जिसके वे एक आवश्यक अंग हैं ।'

———

छत्तीसवां अध्याय

राज्य और उपयोग

हरेक काम के लिए अगर हम सरकार पर अवलम्बित रहेंगे, तो वह स्वराज्य होगा या गुलामी? विशेष मौके पर हम पुलिस की मदद मांगें तो सरकार दे सकती है। बाकी हमारी रोज की शान्ति, हमारा अनाज, कपड़ा, हमारी सफाई, हमारा शिक्षण सारे गाँव में ही करना चाहिए।

—विनोबा

देश की सरकार किसी भी दल की क्यों न हो, उसके हाथों में कम-से कम शक्ति होनी चाहिए। जनता का जीवन, रहन-सहन, खाना-पीना जितना भी सरकारी कंट्रोल (नियंत्रण) से आज़ाद हो, उतना ही देश अधिक खुशहाल होगा और फूले-फलेगा।

—सुन्दरलाल

पिछले अध्याय में यह विचार किया गया कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से राज्य का स्वरूप या संगठन कैसा होना चाहिए। अब हमें देखना है कि जनता की विविध आर्थिक क्रियाओं में अथवा अर्थशास्त्र के विविध भागों की दृष्टि से सरकार का सम्बन्ध कहाँ तक और किस प्रकार रहना चाहिए। पहले उपयोग का विषय लें।

सरकार, उपयोक्ता के रूप में—वर्तमान अवस्था में सरकार के सैनिक तथा असैनिक कई विभाग होते हैं, जिनमें राज्य के आकार या शासन-क्षेत्र के अनुसार कई-कई हजार और कुछ दशाओं में तो लाखों आदमी काम करते हैं। इन विभागों के लिए सरकार को समय-समय पर बहुत से तथा विविध प्रकार के सामान की आवश्यकता होती है। सैनिकों के लिए भोजन-वस्त्र तथा मकान आदि की भी व्यवस्था करनी होती है; इसके अतिरिक्त, वह कम्बल, थैले, बोरे और तम्बुओं की, तथा सैनिक सामग्री के रूप में अस्त्र-सस्त्र, जहाज,

वायुयान, मोटर और सैनिक स्टोर की व्यवस्था करती है। सरकार को सैनिकों की भाँति पुलिस वालों तथा कुछ अन्य कर्मचारियों की वर्दी आदि की भी जरूरत होती है। इस प्रकार उसे अपने कितने ही विभागों के लिए बहुत सा सामान चाहिए। जिन राज्यों में सरकार रेल का संचालन करती है, वहाँ इसी एक विभाग के लिए उसे इंजिन आदि बहुत सा सामान जरूरी होता है। स्टेशनरी—कागज, पेन्सिल, फाउन्टेनपेन, रोशनाई, कलम आदि—का भी काफी परिमाण में उपयोग होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक राज्य में सरकार कितनी बड़ी उपयोक्ता है।

मितव्ययिता की आवश्यकता—एक साधारण व्यक्ति की थोड़ी सी बेपरवाही से सामान की बहुत बर्बादी या फजूलखर्ची हो सकती है। इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि सरकार को उपयोग में कितने विचार की आवश्यकता है। अनेक स्थानों में सरकार अपनी जरूरतों का बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अन्दाज कर लेती है, और अपने लिए इतनी भूमि तथा अन्य सामान की व्यवस्था करती है कि सर्वसाधारण के हितों की उपेक्षा हो जाती है। उसके विविध विभागों के पास बहुत सी भूमि बेकार पड़ी होती है, जबकि देश में जनता को अन्नादि की पैदावार के लिए उसकी कमी का अनुभव होता है। राष्ट्रपति या गवर्नर आदि की कोठियों के पास खाली मैदान, 'लान' या 'पार्क' आदि से कुछ पैदावार न हो कर, उलटा खर्च होना अनुचित है। इसी प्रकार अन्य सामान की बात है। कुछ समय हुआ भारत में रेल विभाग के सम्बन्ध में जांच होने पर मालूम हुआ था कि कहीं-कहीं कुछ चीजें इतने परिमाण में संग्रह की हुई थीं, जो पचास-सौ साल में जाकर खर्च होंगी। यदि सरकार के प्रत्येक विभाग के सामान की जांच की जाय तो सब में थोड़े-बहुत इस तरह के दुरुपयोग के उदाहरण मिल सकते हैं। जरूरत है कि इस विषय में बहुत सावधान रहा जाय, और समय-समय पर इस बात की कड़ी जांच की जाय कि किसी विभाग में कोई चीज आवश्यकता से अधिक तो नहीं है, और कोई चीज खराब तो नहीं हो रही है।

सरकारी कर्मचारियों के ध्यान देने की बात—वर्तमान अवस्था में सरकारी कर्मचारी जितनी देखभाल या सार-संभार अपनेनिजी सामा नकी

रखते हैं उसकी अपेक्षा सरकारी या सार्वजनिक सामान की बहुत कम करते हैं। साधारण तौर पर कोई व्यक्ति किसी मोटर, साइकिल, या टाइपराइटर आदि से जितने समय काम चला सकता है, उसकी अपेक्षा सरकारी अधिकारी उसे बहुत जल्दी ही रद्द कर डालते हैं। खासकर स्टेशनरी के सम्बन्ध में होने वाले सरकारी अपव्यय से तो सर्वसाधारण बहुत ही परिचित हैं। भारत जैसे अपेक्षाकृत निर्धन देश में भी सरकारी अधिकारियों को दो लाइन के समाचार के लिए भी पोस्टकार्ड से काम चलाना अच्छा नहीं लगता। फिर, उन्हें लिफाफा और चिट्ठी का कागज भी खूब बढ़िया चाहिए। आवश्यकता है कि अधिकारी 'माले मुफ्त, दिले बेरहम' की नीति छोड़कर प्रत्येक वस्तु का अच्छे-से-अच्छा उपयोग करें और मितव्ययिता से काम लें।

सरकारी उपयोग-नीति का प्रभाव—सरकार को अपने विविध विभागों के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, उनमें से कुछ तो वह स्वयं बनवाती है, शेष वह खरीदती है। उसकी निर्माण और क्रय नीति का देश के उद्योग-धन्धों पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि कोई सरकार अपनी आवश्यकता का अधिक से अधिक सामान अपने ही राज्य में तैयार करवाती तथा खरीदती है, तो वहां के उद्योग धन्धों को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार यदि उसकी रुचि या प्रवृत्ति ग्रामोद्योगों की ओर हो तो वह अपनी क्रय-नीति से इन उद्योगों द्वारा बनी हुई वस्तुओं की खपत बढ़ाती हुई इनकी उन्नति में बहुत योग दे सकती है। इस प्रकार, जब कि देश में विकेन्द्रित उत्पादन और ग्रामोद्योग पद्धति की उपयोगिता स्पष्ट है, सरकार का कर्तव्य है कि वह इन्हें अच्छी तरह अपनाये। देश में बुनियादी तालीम की आवश्यकता पहले बतायी जा चुकी है, उसकी सफलता के लिए जरूरी है कि उसकी संस्थाओं द्वारा जो सामान बने, उसे सरकार खरीदे और काम में लाये।

सरकारी नियंत्रण, मादक वस्तु विचार—यह तो सरकार द्वारा होने वाले उपयोग की बात हुई। अब जनता द्वारा होने वाले उपयोग में सरकारी नीति का विषय लें। सरकार को उसमें दखल न देना चाहिए। प्रत्येक स्थान पर, स्थानीय पंचायतों के मार्ग-दर्शन से आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन हो कर, उनका प्रायः वहां ही उपयोग होता रहे। वर्तमान काल में उत्पादन उचित रूप में, अथवा

पर्याप्त मात्रा में नहीं होता और सरकार उसके उपयोग में नियंत्रण-नीति काम में लाती है, यह वर्तमान अर्थव्यवस्था के दूषित होने के कारण है, सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था में इसकी जरूरत न होगी।

यह कहा जाता है कि सरकार द्वारा शराब आदि मादक पदार्थों के उपयोग का नियंत्रण होना आवश्यक है। पर इन चीजों की तो नशे के लिए उत्पादन और बिक्री बन्द ही होनी चाहिए। इसके सम्बन्ध में विशेष आगे राज्य की अर्थ-नीति के प्रसंग में लिखा जायगा। वास्तव में लोगों की शिक्षा-दीक्षा और संस्कार ही ऐसे होने चाहिए कि वे स्वयं मादक तथा अन्य अनावश्यक या हानिकारक पदार्थों से परहेज करें। हां, सरकार का भी कोई कार्य जनता में इन चीजों के प्रति आकर्षण पैदा करने वाला न हो; उसे लोगों में इनके लिए अरुचि बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। अस्तु, सर्वोदय अर्थव्यवस्था में अकाल, महंगाई, उत्पादन की कमी आदि न होगी, जिन के नाम पर सरकार इस समय जनता द्वारा किये जाने वाले उपयोग में तरह-तरह के नियंत्रण लगाया करती है।

विशेष वक्तव्य—हमने पहले बताया है कि सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार हवा, पानी, मिट्टी और प्रकाश भी धन हैं। इसलिए इन्हें दूषित करना या इनका दुरुपयोग करना एक सामाजिक अपराध है, चाहे इसे कोई व्यक्ति या संस्था करे और चाहे सरकार करे। आज कल सरकारें हिन्सात्मक भावना से प्रेरित हो कर हवा को जहरीली करती हैं; नदियों, झीलों और समुद्रों का पानी खराब करती हैं, रोगों के कीटाणु फैलाती हैं, फसलों और मकानों को इस लिए नष्ट करती हैं कि 'शत्रु' उनका उपयोग न कर सके। वह अणुबम आदि से 'शत्रु' के नगरों को भस्म करती हैं इससे जो नर-हत्या होती है वह तो निन्दनीय है ही, सार्वजनिक उपयोग में आने वाली हवा पानी और मिट्टी का खराब किया जाना भी मानवता के विरुद्ध घोर अपराध है। सर्वोदय व्यवस्था में सरकार ऐसा दुष्कर्म नहीं करेगी।

सैंतीसवां अध्याय

राज्य और उत्पत्ति

देश के भाग्य-विधाताओं को सोचना चाहिए कि केवल रुचि, व्यसन या माँग का ही ख्याल करके ऐसे (बनस्पति 'घी' जैसे) हानिकर उद्योग चलने दें, या जिसमें लोगों का सच्चा हित है, वे ही काम चलने दें।... कभी यश मिले, कभी न मिले; पर जिस बात में हमें विश्वास है, उस पर डटे रह कर यथा-शक्ति प्रयत्न करना है।

—श्रीकृष्णदास जाजू

जिसे उद्योग-धंधों का नेशनलाइजेशन, राष्ट्रीकरण, या 'कौमियाना' कहा जाता है, वह आजकल की हालत में केवल 'सरकारियाना' है। अधिकतर देशवासियों का अब तक का तजरबा यही है कि जो धंधे जनता के हाथों से छिनकर सरकार और सरकारी आदमियों के हाथों में आगये, उनमें जनता की दिक्कतें बढ़ी हैं, घटी नहीं।

—सुन्दरलाल

सर्वोदय की दृष्टि से सरकार का उत्पत्ति से सम्बन्ध कम ही होगा; यह उसी सीमा तक रहेगा, जहाँ तक लोकहित के लिए बहुत ही जरूरी हो; अधिकांश उत्पादन स्थानीय संस्थाओं अर्थात् पंचायतों आदि की देखरेख और नियंत्रण में रहेगा; कुछ परिमित क्षेत्र में प्रादेशिक सरकारों का हस्तक्षेप होगा; केन्द्रीय सरकार को प्रायः इस प्रकार का अवसर ही नहीं आना है।

ग्राम-पंचायतें और उत्पादन कार्य—पहले कहा गया है कि देश में खेती संतुलित होनी चाहिए, अर्थात् उसमें जनता की मूल आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। पंचायतों का यह कर्तव्य होगा कि वे किसानों को उन खास-खास फसलों को ही पैदा करने की अनुमति या परामर्श दें, जो लोकहित की दृष्टि से आवश्यक हों; वे व्यापारिक या मुनाफे की फसलों पर

भारी शुल्क लगा कर प्रतिबन्ध लगायें। इस प्रकार खेती न तो नफा कमाने की चीज हो, और न भूखा-नंगा रखने वाला काम। पंचायतें भूमि की उन्नति और वितरण की व्यवस्था करें; प्रत्येक किसान को आवश्यक हल, बैल, खाद, बीज, तथा अन्य विविध उपकरण प्राप्त करने की, और स्वाभिमान-पूर्वक जीवन बिताने की सुविधाएँ दें। गाँव भर में 'प्रत्येक व्यक्ति सब के लिए, और सब प्रत्येक के लिए' का आदर्श हो। लोकहितकारी सुनिर्धारित नियमों के अनुसार भूमि पर स्वामित्व अधिकार उसे जोतने वालों का ही हो। अनाथों या असमर्थों को छोड़ कर किसी को अपनी भूमि किराये पर देने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। गाँव की पड़ती भूमि, जंगल, तालाब आदि गाँव की सम्मिलित सम्पत्ति पर पंचायत का नियंत्रण रहे और वह सामूहिक हित की दृष्टि से उसका उपयोग करे। प्रादेशिक सरकार द्वारा खेती के अच्छे तरीके बढ़िया बीज, और सुधरे हुए औजारों के विषय में अनुसंधान और परीक्षण होते रहें तथा उनका लाभ पंचायतों द्वारा सर्वसाधारण को मिलता रहे।

यही बात उद्योग-धंधों के सम्बन्ध में है, उनमें भी जनता की मूल आवश्यकताओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। पंचायतों का काम होगा कि उद्योग धंधों द्वारा ऐसा उत्पादन न होने दें कि जनता को भोजन-वस्त्र आदि की कमी रहे और विलासिता या नशे आदि की चीजें बनायी जायें। पंचायतों द्वारा इस विषय में यथेष्ट सतर्कता रहने पर उत्पत्ति लोकहितकारी होगी।

पंचायत उत्पादन-कार्य में कई प्रकार सहायक होगी, बुनियादी तालीम का प्रचार करके वह लोगों में श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ायेगी, स्वास्थ्य-रक्षा का प्रबन्ध करके वह नागरिकों की उत्पादक शक्ति की वृद्धि करेगी, कुदरती खाद की व्यवस्था करके वह फसलों के लिए बहुमूल्य पोषक पदार्थ प्रदान करेगी, नये कुंओं और तालाबों को बनवा कर तथा पुरानों की मरम्मत करा कर वह सिंचाई का साधन जुटायेगी। इसी प्रकार स्थानीय आवश्यकता के अनुसार वह अन्य उत्पादक कार्यों में भाग लेगी।

उत्पत्ति में सरकारी सहायता—सिंचाई आदि में सरकारी सहायता के उपायों का उल्लेख खेती के अध्याय में किया जा चुका है! यह भी पहले कहा जा चुका है कि शिक्षा ऐसी हो जो खेती और उद्योग धंधों की उन्नति में सहायक

हो। यहाँ उद्योग धंधों सम्बन्धी अन्य सरकारी सहायता का विचार किया जाता है। जहाँ सार्वजनिक दृष्टि से आवश्यक हो, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि हाथ-उद्योगों का काम करने वाले व्यक्ति बिजली आदि की शक्ति से काम ले सकें और सहकारिता के सिद्धान्तों से लाभ उठा सकें। कभी-कभी किसी नये उद्योग को आरम्भ करते हुए आदमियों को हानि की बहुत आशंका होती है; ऐसे उद्योग को, यदि वह सर्वसाधारण की दृष्टि से उपयोगी हो, सरकार समुचित सहायता दें। उदाहरण के लिए वह उसके कच्चे माल, औजारों, तथा उसके तैयार माल को सब प्रकार के शुल्कों से मुक्त रखे, और उसके वास्ते जंगल की पैदावार, लोहा, कोयला आदि अन्य आवश्यक सामान सब से प्रथम दे। इसके अतिरिक्त सरकार ऐसे उद्योग के विकास के लिए उचित शिक्षण द्वारा सुयोग्य कार्यकर्ताओं का वर्ग तैयार करे एवं आवश्यक वैज्ञानिक अनुसंधान कराये।

पहले कहा जा चुका है कि सर्वोदय व्यवस्था में जनता की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले उद्योग विकेन्द्रित और हाथ-उद्योग पद्धति से होंगे। सरकार का कर्तव्य होगा कि ऐसे उद्योगों को छांट ले और ऐसी व्यवस्था करे कि उनसे तैयार होने वाला माल विदेशों से तो आये ही नहीं, देश के कारखानों में भी न बने; और, यदि कुछ खास कारणों से कुछ समय तक बनना जरूरी समझा जाय तो उससे हाथ-उद्योग को विशेष धक्का न लगे। उदाहरण के लिए कपड़े की बात लें, कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि मिलों को एक खास हद से मोटा (उदाहरण के लिए १५–२० नम्बर से नीचे का) सूत कातने या कपड़ा न बुनने दिया जाय; इसके अतिरिक्त मिल के और हाथ के कपड़े की कीमत में समानता लायी जाय।

इसके सम्बन्ध में श्री किशोरलाल मश्रूवाला का कथन है कि 'वर्तमान अवस्था में हाथ-श्रम से जो उत्पादन होगा, वह बहुत कम ही होगा। हो सकता है कि जहाँ मिल से २०० पौंड सूत काता जाता है, वहाँ इस पद्धति से १ पौंड या उससे भी कम हो, तब यदि हाथ-उत्पादन की महँगाई मिल-उत्पादन पर फैला दी जाय, तो मिल-उत्पादन की कीमत कुछ खास नहीं बढ़ेगी, बहुत हुआ तो एक पौंड पर दो पाई। बुनाई के बारे में भी यही हो सकता है, कीमत में नगण्य सी बढ़ती होगी, और खरीदार उसे महसूस भी नहीं करेगा! इस तरह

हाथ-कती और हाथ-बुनी खादी (या मिल के सूत से हाथ-करघे पर बुना हुआ कपड़ा) मिल के ही कपड़े की कीमत पर बेचा जा सकेगा।

'ऐसे कई ग्रामोद्योग हमारे यहाँ हैं, जिन्हें यांत्रिक उद्योगों से होड़ करनी पड़ती है—जैसे घानी को तेल-मिल से, तेल और घी को जमाये तेलों से, हाथ-कागज को मिल-कागज से, गुड़ को शक्कर से, इत्यादि। इन सब उद्योगों में होड़ का वही एक प्रकार है। यांत्रिक उद्योगों में जहाँ उत्पादन बड़े पैमाने पर होता है और मजदूरों की संख्या कम होती है, वहाँ हाथ-कामों में उत्पादन कम प्रमाण में होता है और मजदूर ज्यादा लगते हैं। यहाँ ख़ादी के उदाहरण में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है, उसका उपयोग इन सब ग्रामोद्योगों के लिए किया जा सकता है। यातायात के लिए बैलगाड़ी जैसे प्राणि-वाहनों के उपयोग का सवाल भी इसी सिद्धान्त के अनुसार हल करना होगा, अगरचे उसके अमल का ढंग कुछ दूसरा हो सकता है। ज्यादातर उदाहरणों में कारखानों के माल में थोड़ी सी महँगाई कर देने से हाथ का तैयार माल सस्ते भावों पर बेचा जा सकेगा, और लाखों मजदूरों को, जो बेकार हो जाते हैं, पेट भरने का साधन जुट जायगा। इसके सिवा, कारखानों के किसी-न-किसी वजह से अचानक बन्द पड़ जाने की हालत में जीवन और देश-रक्षा का एक प्रबल साधन तैयार रहेगा, और यदि किसी क्षेत्र में हमारे तैयार माल के निर्यात-व्यापार की गुंजाइश हो, जैसे कि आज मिल के कपड़े में है, तो उसे देश में कमी पैदा किये बिना चलाया जा सकेगा।'

सरकार द्वारा उत्पत्ति बहुत सीमित हो—कुछ उत्पादन ऐसा होता है कि उसे व्यक्ति या कम्पनी आदि की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार द्वारा किये जाने से सार्वजनिक सुविधा तथा मितव्ययिता अधिक होने की आशा की जाती है। इस विचार से रेल, डाक, तार का तथा बिजली-शक्ति बड़े पैमाने पर उत्पन्न करने का कार्य बहुत से राज्यों में सरकार द्वारा किया जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ कार्यों से उनका खर्च भी नहीं निकलता, परन्तु वे जनता के लिए बहुत आवश्यक होते हैं; जैसे पुल या सड़कें आदि। ऐसे कार्य सरकार स्वयं करती है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो विशेषतया आर्थिक नहीं होते, जैसे अस्त्र-शस्त्र का निर्माण। ऐसे कार्य पूर्णतया व्यक्तियों के भरोसे नहीं छोड़े जा सकते।

इसलिए इनका संचालन या उत्पादन सरकार ही करती है। इसमें पूँजी सरकार की ही लगती है। यह पद्धति राष्ट्रीकरण कहलाती है। इसमें केन्द्रीकरण का खतरा है, जिससे हमेशा बचे रहने की जरूरत है। फिर, यदि ऐसे उत्पादन में पूँजी दूसरे देशों से उधार लेकर लगायी जाय तो उन देशों का राजनैतिक दबाव भी पड़ने की आशंका रहती है—यह पहले, 'पूँजी' नाम के अध्याय में बताया जा चुका है। इस प्रकार यह पद्धति बहुत सीमित क्षेत्र में और स्वदेशी पूँजी के ही बल पर अमल में लायी जानी चाहिए।

आर्थिक योजनाओं के सम्बन्ध में विचार—प्रत्येक देश में समय-समय पर जनता के सुख सुविधा के लिए आर्थिक उन्नति के विविध कार्यक्रमों की आवश्यकता होती है। इनके सम्पादन के यथेष्ट साधन पूँजीपतियों तथा सरकारों के पास होते हैं, इसलिए वे ही बड़ी-बड़ी योजनाएँ बनाया करती हैं। भारत में पिछली दशाब्दी में कई गैर-सरकारी योजनाएँ भी बनायी गयी थीं। पर अन्त में सरकारी योजना ही अमल में आयी। पहली पंचवर्षीय योजना की अवधि पूरी हो गयी, अब दूसरी योजना चल रही है। इनका परिचय हमने अपने 'भारतीय अर्थशास्त्र' में दिया है। यहाँ योजनाओं के सम्बन्ध में सर्वोदय दृष्टि से विचार करें।

बड़ी-बड़ी आर्थिक योजनाएँ चाहे उद्योगपतियों और पुंजीपतियों की हों और चाहे सरकार की, ये वास्तव में जनतंत्र की पोषक नहीं होतीं, बल्कि उसके लिए शोषक ही होती हैं। एक में शोषण खुले आम या प्रत्यक्ष होता है, दूसरे में कुछ गुप्त या परोक्ष रूप में। दोनों ही आर्थिक केन्द्रीकरण के दो जुदा-जुदा स्वरूप हैं, इनमें वे सब दोष होते हैं जो विशाल यंत्रोद्योगों में होने स्वाभाविक हैं, और जिनके विषय में पहले लिखा जा चुका है।

हमारा यह आशय नहीं है कि ऐसी योजनाओं से कुछ भी लाभ नहीं होता। पर हमें स्पष्ट कहना है कि इनसे देश को जैसा और जितना फायदा होना चाहिए, नहीं होता। कारण, इन पर जो विशाल धन राशि खर्च होती है, उसका लाभ नीचे के लोगों को बहुत ही कम मिलता है। उत्पादन का यथेष्ट उपयोग तभी है, जब उसके वितरण की समुचित और स्वाभाविक व्यवस्था हो और यह विकेन्द्रीकरण में ही अच्छी तरह होता है। उत्पादन बढ़ाने

की अपेक्षा इस बात का महत्व किसी प्रकार कुछ कम नहीं कि लोगों को पूरा काम मिले और सामाजिक न्याय प्राप्त हो।

भारत की दूसरी योजना भी पूंजी-प्रधान है, श्रम-प्रधान नहीं। इसका लक्ष्य देश का धन बढ़ाना है, सब आदमियों को काम देना नहीं। इससे पूंजीवालों को ही अधिक लाभ होने की सम्भावना है। उनमें और निर्धनों में जो खाई इस समय है, उसे पाटने का प्रयत्न नहीं है। इस योजना के अमल में आने से सरकार जनता का जीवन और भी अधिक नियंत्रित कर सकेगी। सरकारी कार्यकर्ताओं की संख्या और सत्ता अबसे कहीं अधिक होगी और स्वतंत्र लोकशक्ति का निर्माण होने में कठिनाई बढ़ जायगी।

विशेष वक्तव्य—भारत की सरकारी योजनाओं की कितने ही लेखकों ने बहुत गुलाबी तसवीर उपस्थित की है। कुछ विदेशियों ने भी इनके अनुसार होने वाले निर्माण कार्यों को देखकर इनकी प्रशंसा की है। तथापि यह भुलाया नहीं जा सकता कि देश में हजारों करोड़ रुपये से किये जाने वाले इतने भारी और विशाल कार्यक्रम होने पर भी सर्वसाधारण के मन में विशेष उत्साह, लगन और स्फूर्ति नहीं दिखायी दी, मानों यह उनका काम नहीं था, और खास उनके लिए भी नहीं था। श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने लिखा था—'दूसरी बातों को छोड़ दें तो केवल भारी आर्थिक पुनर्निर्माण के बल पर राष्ट्रीय पुनर्निर्माण सिद्ध नहीं हो सकता। ठोस नींव पर हमारे देश का नैतिक पुनर्निर्माण होना आर्थिक पुनर्निर्माण से ज्यादा महत्वपूर्ण और ज्यादा बुनियादी है। अगर नैतिक पुनर्निर्माण ठीक ढंग से होता रहा तो आर्थिक पुनर्निर्माण उसके साथ धीरे-धीरे होता ही रहेगा। *

अस्तु, हमारी योजनाएं केवल आर्थिक या औद्योगिक न होकर मानवता-मूलक होनी चाहिए? कोई योजना राष्ट्रीय योजना कहे जाने योग्य नहीं, जिसमें राष्ट्र के नीचे से नीचे स्तर के लोगों की सबसे पहले और सबसे अधिक चिन्ता न की गयी हो अर्थात् जिसमें सर्वोदय दृष्टि न हो।

---

*'हरिजन सेवक' १८ अक्तूबर १९५२

अड़तीसवां अध्याय

राज्य और विनिमय तथा वितरण

आज व्यापार का मन्शा यह बन गया है कि आदमी को बुनियादी जरूरत की चीजें न दे कर उसका ध्यान, पैसे के जोर से, ऐश-आराम की चीजों पर लाया जाय! इन्सानी पहलू से देखने पर पता चलता है कि पैसे के जरिये से आर्थिक चहल-पहल समाज-विरोधी ढर्रे पर आ गयी। यह और इस किस्म की दूसरी बुराइयाँ हिंसा और बेइमानी से भरी हैं। लेन-देन में पैसे के बजाय चीजों की अदला-बदली से ऐसा खतरा बहुत हद तक कम हो जायगा।

—जो. का. कुमारप्पा

सार्वजनिक सेवा के काम (डाक, तार, यातायात के साधन, किसानों के लिए 'ट्रेक्टरों' की या बीज की व्यवस्था, नमक आदि आवश्यक चीजों का उत्पादन वितरण आदि) का संचालन सरकार करे या सार्वजनिक संघ या कोई खानगी व्यापारिक संस्था करे—ये काम मुनाफे या बचत की दृष्टि से न किये जायें।

—किशोरलाल मश्रुवाला

पहले बताया जा चुका है कि वर्तमान व्यवस्था में विनिमय और वितरण ने बहुत विस्तृत और जटिल रूप धारण कर रखा है। सर्वोदय अर्थव्यस्था में ये बहुत सीमित ही रहेंगे। तब स्वभावतः सरकार का भी इन विषयों से विशेष सम्बन्ध न होगा। अतः इस सम्बन्ध के बारे में ज्यादा लिखने की जरूरत नहीं, कुछ खास बातों की ही ओर ध्यान दिलाना है। पहले विनिमय का विषय लें।

[१] राज्य और विनिमय

मुद्रा—सर्वोदय व्यवस्था में उत्पादन-कार्य स्वावलम्बन और विकेन्द्रीकरण पद्धति से होगा। आदमियों की मुख्य आवश्यकताएँ उनके ही क्षेत्र में बनी

चीजों से पूरी होंगी, दूर-दूर के स्थानों से मँगाने और खरीदने की जरूरत न रहेगी। व्यापार अधिकतर छोटे-छोटे प्रदेशों तक ही सीमित होगा। एक प्रदेश में किसी को दूसरे की बनायी चीज लेनी होगी तो उसका सीधा अथवा किसी रोजमर्रा की आवश्यकता की वस्तु के माध्यम से, अदलबदल हो सकेगा। मजदूरी, वेतन और कर आदि यथा-सम्भव जिन्स के रूप में दिये जायँगे। खेती और उद्योग धंधों के लिए ऋण केवल विशेष परिस्थितियों में, कुछ खास योजनाओं के लिए ही लिया जायगा। इन सब कारणों से नकदी का व्यवहार अपने-आप बहुत कम रह जायगा। तथापि जितने परिमाण में भी वह होगा, उसके लिए उचित व्यवस्था करनी होगी।

प्रत्येक राज्य में मुद्रा की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा ही की जायगी; इससे वह राज्य भर में एकसी होने से जनता के लिए सुविधाजनक होगी। राज्य को यह ध्यान रखना होगा कि मुद्रा पद्धति सम्बन्धी अब तक के अनुभवों से लाभ उठाते हुए ऐसी व्यवस्था करे कि इस समय मुद्रा-स्फीति या तेजी-मंदी आदि के रूप में जो कष्ट और असुविधाएँ होती हैं, वे न होने पायें। एक राज्य की मुद्रा किसी खास दूसरे राज्य की मुद्रा के आश्रित न हो; वह प्रामाणिक हो, और अपने राज्य की आवश्यकतानुसार हो।

बैंक—बैंकों के बारे में खुलासा पहले लिखा जा चुका है। सर्वोदय व्यवस्था में इनका स्वरूप, कार्य-क्षेत्र और नीति बहुत बदल जायगी। अन्न-बैंक, वस्तु-विनिमय-बैंक आदि यथेष्ट-संख्या में होने से राज्य में मुद्रा-बैंकों की आवश्यकता बहुत कम रहेगी। इस समय इनमें जो स्वार्थ-साधन और मुनाफे-खोरी हो रही है, वह न रहे और यह सेवा-भाव से, घाटा उठा कर काम करने वाले हों—इसलिए राज्य सहकारी बैंकों को छोड़ कर, बड़े-बड़े बैंकों का नियंत्रण अथवा राष्ट्रीकरण करेगा। राज्य के बैंक स्वावलम्बी होंगे, किसी दूसरे बड़े राज्य के प्रमुख बैंक के अधीन या आश्रित नहीं।

यातायात और आमदरफ़्त के साधन—सर्वोदय व्यवस्था में व्यापार का परिमाण कम रहने से उसके लिए रेल जहाज आदि की आवश्यकता कम होगी तथापि आमदरफ्त के साधन के रूप में इनका महत्व रहेगा। ये तथा

डाक तार आदि सार्वजनिक उपयोग के साधन केन्द्रीय सरकार के अधिकार में रहेंगे और वह इनके सम्बन्ध में लोकहित की दृष्टि रखेगी।

पूँजी के अध्याय में रेलों और सड़कों के विषय में खुलासा लिखा गया है। उनका तथा आन्तरिक जल-मार्गों, किनारे के जहाज-मार्गों, डाक, तार, हवाई जहाज आदि सार्वजनिक साधनों की व्यवस्था ऐसी होगी कि असंख्य गाँव वालों के हित की उपेक्षा न हो। हमारी अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित होगी; मनुष्यों तथा पशुओं को पूरा काम देने के लिए देहातों में माल ढोने का मुख्य साधन बैलगाड़ी ही रहेगी और उनके लिए गाँव-गाँव में पहुँचने वाली सड़कों की उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जायगा। गाँवों में डाक, तार और टेलीफोन आदि की सुविधाएँ इस समय सभी देशों में बहुत कम है, सर्वोदय व्यवस्था में इन्हें काफी बढ़ाया जायगा। इसी प्रकार इस समय रेलों और जहाजों आदि में यात्रियों के दर्जे, उनकी किराया देने की सामर्थ्य के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। सर्वोदय व्यवस्था में उनमें ऐसा भेद-भाव न रखकर सब की आवश्यकताओं और सुविधाओं का विचार किया जायगा। यातायात और आमदरफ़्त के सभी साधनों के दर निर्धारित करने में यह लक्ष्य रखना तो आवश्यक ही है कि विकेन्द्रित उद्योगों को अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन मिले।

राज्य का व्यापार सम्बन्धी दृष्टिकोण—पहले बताया जा चुका है कि सर्वोदय व्यवस्था में व्यापार की आवश्यकता बहुत कम रहेगी और उसके बहुत से भाग पर पंचायतों का ही नियंत्रण होगा। सरकार का सम्बन्ध एक देश के दूसरे देश से होने वाले व्यापार से ही रहेगा। कोई देश उन्हीं वस्तुओं की आयात करेगा; जिनके बिना उसका काम न चले, और साथ ही वे दूसरे देश में वहाँ की आवश्यकता से अधिक हों; अर्थात् मुनाफे या विलासिता की दृष्टि से आयात नहीं की जायगी। यही बात निर्यात के सम्बन्ध में रहेगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत परिमित ही रहेगा। सर्वोदय की दृष्टि से ऐसा होना जरूरी ही है; प्रत्येक देश को अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी रहना है। वास्तव में हरेक राज्य को ऐसा आयात-निर्यात बन्द कर देनी चाहिए, जो ऊपर बताये हुए सिद्धान्त के विरुद्ध हो। इस प्रकार अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं को छोड़ कर अन्य विदेशी माल के प्रति बहिष्कार नीति रहनी चाहिए।

विदेशी वहिष्कार की बात कुछ लोगों को अखरेगी। वे विश्वबन्धुत्व की बात करेंगे। सर्वोदय भी आदर्श यही है कि संसार के सब देश एक दूसरे के साथ एक विशाल परिवार के सदस्यों की तरह प्रेम और समानता का व्यवहार करें। कोई देश किसी को अपने अधीन न करे। पर सोचना चाहिए, इस समय जो राष्ट्र दूसरों को अपने अधीन करने के लिए नाना प्रकार के नीच प्रयत्न कर रहे हैं, उसका एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हें अपने अधीन देशों में अपना माल खपाने, तथा उनका आर्थिक शोषण कर सकने की आशा है। जब उनकी यह आशा न रहेगी, जब उन्हें विश्वास हो जायगा कि प्रत्येक देश स्वावलम्बी है और विदेशी माल का वहिष्कार करता है तो उन राष्ट्रों की साम्राज्य-विस्तार की लालसा भी कम हो जायगी। इस प्रकार यदि हम विदेशी वस्तुओं के सस्तेपन के लोभ में न पड़ें और स्वदेशी वस्तुओं से ही काम चलाने लगें—चाहे वे कुछ महंगी ही क्यों न हों—तो हम संसार को युद्ध-संकट से दूर करने में भी बहुत सहायक हो सकते हैं, और स्वयं भी शांति का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। सच्चे विश्वबन्धुत्व का आदर्श चरितार्थ करने का यही मार्ग है।

[२] राज्य और वितरण

पहले बताया जा चुका है कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था में वितरण की समस्या आज की सी जटिल न होगी, एक प्रकार से उस समस्या का अन्त ही हो जायगा। इस प्रकार राज्य को भी उसके विषय में विशेष कुछ करना न होगा। हां, समाज को ऐसी स्थिति में लाने के लिए राज्य बहुत सहायक हो सकता है। उसकी सहायता का लक्ष्य आर्थिक विषमता दूर करने का होना चाहिए।

आर्थिक-विषमता-निवारण—इस समय उत्पत्ति के चार साधनों-भूमि, श्रम, पूंजी और साहस—के स्वामियों को उनका प्रतिफल अर्थात् लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफा दिया जाता है। सर्वोदय अर्थव्यवस्था में लगान, सूद और मुनाफे को हटा देना है, और श्रमियों को मजदूरी इस प्रकार मिलेगी कि न तो उन्हें अपने जीवन-निर्वाह आदि में कुछ कठिनाई हो, और न उनमें एक दूसरे से विशेष अन्तर हो अर्थात स्त्री और पुरुष को, बुद्धिजीवी और शरीर-श्रमी को समान घंटे ईमानदारी से काम करने पर समान ही वेतन दिया जायगा।

उपर्युक्त लक्ष्य को ध्यान में रख कर राज्य को वर्तमान अवस्था में निम्नलिखित उपाय काम में लाने चाहिए :—

१—जमींदारी और जागीरदारी आदि की प्रथा जहां कहीं कुछ शेष है, उठा देनी चाहिए। खेती करने वाले प्रत्येक परिवार को देश की कुल भूमि का ध्यान रखते हुए इतनी भूमि दी जानी चाहिए, जितनी की आय से उसका निर्वाह हो जाय। इस विषय पर विस्तार से पहले लिखा जा चुका है।

२—समाज में स्वामित्व-विसर्जन की भावना का प्रचार किया जाय। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि अपनी आवश्यकता से अधिक पुंजी को आदमी ट्रस्टी के रूप में ही रखें, वे उसका उपयोग समाज या राज्य के लिए करें और उसके उत्तरदायित्व-हीन स्वामी न हों। जो ऐसा न करते हों, उन पर भारी और उत्तरोत्तर अधिक कर लगाया जाय। धनी मनुष्य के मरने पर उसकी जायदाद पर यथेष्ट कर लगाया जाय और उत्तराधिकारियों से विरासत कर लिया जाय।

३—विकेन्द्रीकरण पद्धति से चलने वाले उद्योग-धंधों की वृद्धि की जाय, जिससे उनके द्वारा ही जनता की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति का सामान तैयार हो जाया करे। उपयोक्ता-सामान तैयार करने के लिए नये केन्द्रीभूत उद्योग स्थापित न होने दिये जायं, वरन् ऐसे जो उद्योग इस समय चल रहे हैं उनकी भी मशीन और पुर्जों के घिस जाने पर उन्हें बदलने न दिया जाय।

४—अधिकतम सम्पत्ति और आय तथा न्यूनतम सम्पत्ति और आय का अन्तर कम करना और क्रमशः घटाते रहना चाहिए, इस विषय में श्री किशोरलाल मश्रूवाला का कथन था कि यदि हम सरकारी तथा सार्वजनिक संस्थाओं में काम करने वाले सेवकों के लिए मासिक दो हजार रुपये तथा अधिकतम निजी सम्पत्ति की मर्यादा सभी के लिए दस लाख रुपये तय कर सकें तो पहले कदम के रूप में मैं उसे निभालूंगा। न्यूनतम आय रुपये के रूप में उन्होंने इस प्रकार दरसायी है * —

२५ वर्ष तक की उम्र वालों के लिए		६० रु०
२५ से ३० वर्ष तक	,, ,,	८० रु०
३० वर्ष से अधिक	,, ,,	१०० रु०

*'सर्वोदय' अप्रेल १९५१

कुछ लोगों का यह मत हो सकता है कि आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए श्री मश्रूवाला के ये प्रस्ताव काफी तेज नहीं हैं। इन सज्जनों को याद रखना चाहिए कि इन सुझावों को इसी रूप में अमल में लाने का आग्रह नहीं है, ये तो इस विषय का विचार करने में सहायता देने के लिए उपस्थित किये गये थे। यदि कोई सज्जन, अथवा संस्था या सरकार अधिक जोरदार कदम उठा सके तो और भी अच्छा।

जब रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन विकेन्द्रीकरण पद्धति से अथवा ग्रामोद्योगों से होगा तो श्रमियों को वेतन देने का प्रश्न ही बहुत कम रह जायगा; कारण, अधिकांश आदमी अपने-अपने घर में, अपने परिवार के व्यक्तियों के साथ स्वतंत्र रूप से श्रम करने वाले होंगे। वे स्वयं ही अपने द्वारा उत्पन्न वस्तु के मालिक होंगे; अथवा, जब कि वे सहकारी पद्धति से उत्पादन करेंगे तो वहां भी सब काम करने वाले बराबरी के होंगे; मालिक (पूंजीपति) और मजदूर का भेद न होगा; मजदूरी का प्रश्न न उठेगा। मजदूरी का सवाल केवल उन्हीं उद्योग धन्धों में उपस्थित होगा, जिन्हें लोकहित की दृष्टि से केन्द्रित रूप में ही करवाना आवश्यक होगा। इनका निरीक्षण और नियंत्रण सरकार द्वारा किया जाना चाहिए अथवा इनका राष्ट्रीकरण होना चाहिए। प्रत्येक सरकार को मजदूरी सम्बन्धी बातों में जीवन-वेतन और समानता के आदर्श को अपने सामने रखना चाहिए।

इन उपायों को अमल में लाने से आधुनिक सरकारें अपने अपने राज्य में आर्थिक विषमता को क्रमशः घटा कर उसे बहुत-कुछ हटा सकती हैं और सर्वोदय अर्थव्यवस्था के लिए क्षेत्र तैयार कर सकती है, जिसमें, जैसा पहले कहा गया है, वितरण की जटिलता का अन्त ही हो जायगा।

विशेष वक्तव्य—वर्तमान आर्थिक विषमता का एक मुख्य कारण यह है कि इस समय प्रत्येक राज्य का व्यय बहुत बढ़ा हुआ है। प्रत्येक राज्य को पुलिस और खासकर सेनाएं रखने तथा सैनिक सामग्री तैयार कराने के लिए बहुत रुपया चाहिए। इस लिए वह ऐसे ही उत्पादन को प्रोत्साहन देता है, जिससे उसे आसानी से तथा बड़े परिमाण में आय हो। इस प्रकार ग्रामोद्योगों

की अपेक्षा यंत्रोद्योगों की उत्तरोत्तर उन्नति और विस्तार किया जाता है, जिसका फल आर्थिक विषमता बढ़ाना होता है। इसी प्रकार राज्य पुलिस और सेना के पदाधिकारियों को बहुत ऊंचा वेतन देता है, उसमें और अन्य श्रमियों को मिलने वाले वेतन में बहुत अन्तर रहता है। इस तरह की सब बातें आर्थिक समानता में भयंकर बाधाएं हैं, इनके निवारण के लिए राज्य की रक्षा-नीति में आमूल परिवर्तन होने की आवश्यकता है। सर्वोदय व्यवस्था में यह किस प्रकार होगा; इसका विचार अगले अध्याय में किया जायगा।

उनतालीसवां अध्याय

राज्य और शान्ति तथा रक्षा

अहिंसक राज्य में अपराध तो होंगे, किन्तु किसी को अपराधी न माना जायगा, क्योंकि मनुष्य सभी अपराधों को, हत्या को भी, एक प्रकार का रोग समझ कर व्यवहार करेंगे।

—गाँधीजी

उस देश में न तो राजा था, न अस्त्र-शस्त्र थे, और न उन्हें व्यवहार में लाने वाली पुलिस या सेना थी; स्वयं प्रजा या जनता अपना कर्तव्य जानने के कारण एक-दूसरे की रक्षा करती थी।

—महाभारत

किसी भी प्रकार की अर्थव्यवस्था हो, उसके सुसंचालन के लिए राज्य के अन्दर जनता की शान्ति तथा विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा करना आवश्यक है। इस अध्याय में हमें यह विचार करना है कि सर्वोदय व्यवस्था में यह कार्य किस प्रकार किया जायगा।

सर्वोदय व्यवस्था में अपराधों की कमी—यह तो स्पष्ट ही है कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था होने पर राज्य में अपराध बहुत कम होंगे, मिसाल के तौर पर चोरी, मार-पीट या झगड़ों की बात लें। पहले तो बुनियादी तालीम से हरेक आदमी अपनी आजीविका स्वयं प्राप्त करने योग्य होगा तथा उसकी नैतिक भावना इतनी ऊँची होगी कि वह दूसरे के द्रव्य के लिए ललचाएगा नहीं। फिर विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था में ऐसी आर्थिक विषमता न होगी, जैसी इस समय है; और उसमें समाज की संभाल और सुरक्षा के लिए विशेष बल-प्रयोग की आवश्यकता न होगी। सादे घरों में सामान ऐसा मामूली रहता है कि चोरों के लिए विशेष आकर्षण और सुविधा नहीं होती। सोने चांदी के जेवर और सिक्के आसानी से चुरा कर ले जाये जा सकते हैं, पर यदि घरों में अन्न और सूत

आदि भरा हो तो चोर कहां तक ले जा सकते हैं ! इस प्रकार साधारण घरों की रखवाली के लिए पुलिस की विशेष आवश्यकता नहीं होती, जब कि धनवानों और मालदारों के घरों या बड़े-बड़े केन्द्रित कारखानों की चौकसी के लिए उसकी बहुत ही व्यवस्था करनी होती है। अस्तु, व्यावहारिक दृष्टि से यही मान लें कि कुछ अपराध हमेशा होंगे तो इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि सर्वोदय अर्थव्यवस्था में वे बहुत ही कम होंगे ।

अपराधियों के सुधार की व्यवस्था—यदि अपराध होते हैं, चाहे वे कितने ही कम हों, तो उनका नियंत्रण और निवारण करना राज्य का कर्तव्य ही है। सर्वोदय राज्य में अपराध करने वालों को एक प्रकार का रोगी समझा जायगा तथा उनके इलाज या सुधार का प्रबन्ध किया जायगा। इस प्रकार मृत्यु-दंड उठ ही जायगा, और जेलों तथा हवालातों आदि की जगह सुधार-गृह होंगे। राज्य में पुलिस रखनी तो होगी जो अपराधियों को गिरफ्तार करेगी, पर उन्हें दन्ड दिलाने या उनसे बदला लेने के लिए नहीं, वरन् उन्हें अच्छा नागरिक बनाने में मदद देने के लिए। इस प्रकार वह अपने आप को जनता का सेवक समझेगी। उसके पास हथियार रहेंगे, पर वह जनता की शेर, चीता, सुअर, रीछ आदि जंगली और हिंसक जानवरों से, तथा हिंसक मनोवृत्ति वाले पागल आदि से रक्षा करने के लिए। इसी प्रकार नयी व्यवस्था में झगड़े या मुकद्मेबाजी कम होगी, तथापि न्यायालयों की व्यवस्था रखनी पड़ेगी जिसके सम्बन्ध में खुलासा आगे लिखा जायगा।

निदान, प्रत्येक प्रादेशिक सरकार के नियंत्रण में हरेक गांव तथा नगर में आवश्यकतानुसार पुलिस रहेगी और खास-खास स्थानों में न्यायालय और सुधारगृह होंगे, जिनमें सहृदय मनोवैज्ञानिक अपने-अपने क्षेत्र के लोकसेवी सज्जनों के सहयोग से अपराधी कहे जाने वालों को सुयोग्य नागरिक बनाने का सेवा-कार्य करेंगे।

न्याय कार्य—सर्वोदय व्यवस्था में, जब लोगों को खाने-पीने की कमी न होगी, तथा आरम्भ से ही समुचित शिक्षा मिलेगी, और आदमी श्रम की प्रतिष्ठा करने वाले होंगे तो मुकद्मेबाजी का आश्चर्यजनक रूप से घट जाना

स्वाभाविक ही है। फिर, जो झगड़े होंगे, उनमें से अधिकांश का निपटारा स्थानीय पंचायतें ही न्याय-पूर्वक और बिना किसी खर्च के कर देंगी। झूठे-सच्चे गवाहों और चालाक वकीलों की जरूरत न रहेगी। पहले कहा जा चुका है कि वकील अपनी आजीविका के लिए वादी-प्रतिवादी से ली जाने वाली फीस पर निर्भर न रह कर शरीर-श्रम पर अवलम्बित रहेंगे और जनता को न्याय दिलाने की सेवा मुफ्त में करेंगे।

यह कोरी कल्पना नहीं है। चीन ने इस समय जो व्यवस्था की है, उससे भी उपर्युक्त व्यवस्था की व्यवहारिकता स्पष्ट हो जाती है। 'किसी जमाने में केवल शंघाई शहर में बारह सौ वकील रहा करते थे। लेकिन आज वहां एक भी वकील नहीं है। इन सब को दूसरे महकमों में ले लिया गया है और सिर्फ पाँच बहुत काबिल वकीलों को सरकार ने खुद नौकर रख लिया है, जिनसे पेचीदा मामलों में सलाह ली जाती है। इस तरह न सिर्फ यह कि चीन से मुकदमेबाजी की बीमारी दूर हो गयी है, बल्कि अब मुकदमों के फैसले भी बहुत जल्द हो जाते हैं और इन्साफ सस्ता हो गया है। चीनी सरकार मुजरिमों (अपराधियों) का सुधार ट्रेनिंग देकर भी करती है और सजा देने के मुकाबले में उनको सदाचार की शिक्षा भी देती है।' *

रक्षा व्यवस्था—पहले कहा जा चुका है, सर्वोदय व्यवस्था में हरेक गाँव और नगर स्वावलम्बी होगा। इसका अर्थ यह है कि अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने के अतिरिक्त वह इस योग्य होगा कि बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा भी स्वयं कर ले। इस कार्य के लिए आदमियों को सत्याग्रह करने और अपने प्राण न्यौछावर करने की शिक्षा मिली हुई होगी। ये सत्याग्रही या अहिंसक सैनिक, शान्ति के समय सामूहिक सफाई, शिक्षा, उत्पादन आदि का रचनात्मक कार्य करेंगे। ये ऐसा वातावरण बनायेंगे कि एक गांव या नगर का दूसरे गांव या नगर से, एक प्रदेश का दूसरे प्रदेश से, तथा एक देश का दूसरे देश से प्रेम और मित्रता हो; एक-दूसरे का सहयोग और सहायता करे, सब सेवा-भाव रखें।

युद्ध का अवसर उपस्थित होने पर इस सेना के सिपाही अपना बलिदान

* 'नया हिन्द' चीन नवम्बर, दिसम्बर १६५१.

करने के लिए तैयार होंगे, युद्ध की ज्वाला को शान्त करने के लिए ये कोई कसर न रखेंगे। इनकी शक्ति इनकी संख्या पर निर्भर न रह कर इनमें से प्रत्येक के आत्मिक बल के अनुसार अपना जौहर दिखायेगी। ऐसे एक सत्याग्रही के न्यौछावर होने पर न-जाने कितने साथियों को बलिदान होने के लिए उत्साह और प्रेरणा मिलेगी, तथा विपक्षियों का हृदय-परिवर्तन होकर उन्हें एकदम मित्र नहीं तो तटस्थ बनने के लिए वाध्य होना पड़ेगा।

सर्वोदय व्यवस्था में राज्य की नीति अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में अहिन्सा, शोषण-हीनता, सहानुभूति और शान्ति की होगी। राज्य स्वयं स्वतंत्र रहते हुए दूसरों की स्वतंत्रता का आदर और रक्षा करेगा, और इसके लिए दूसरों के प्राण लेने की अपेक्षा अपने नागरिकों की आहुति देना पसन्द करेगा। इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए नागरिकों में अहिन्सा-पूर्वक प्रतिरोध की भावना उत्तरोत्तर जाग्रत करने का प्रयत्न किया जायगा। शान्ति-सेनाओं का संगठन किया जायगा। अस्तु, देश-रक्षा का कार्य केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में रहेगा और वह स्थायी सशस्त्र सेना की जगह प्रादेशिक शान्ति-सेनाओं का संगठन करेगी।

इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि इस अणुवम के युग में बड़े-बड़े शहरों की घनी बस्तियों और केन्द्रित उद्योगों वाले कल-कारखानों वाले देश को जल्दी ही तहस-नहस किया जा सकता है, परन्तु यदि जनता गांवों में बिखरी हुई हो और उद्योग धंधे विकेन्द्रित हों तो उन्हें सहज ही नष्ट नहीं किया जा सकता। गांधी जी ने सत्य ही कहा था—'फौजी, हवाई और जहाजी ताकतों से सुसज्जित शहरी भारत की अपेक्षा सुसंगठित देहात वाले भारत को विदेशी आक्रमण का खतरा कम रहेगा।' इससे देश-रक्षा के लिए उद्योग-धंधों के विकेन्द्रीकरण और बस्तियों के बिखरे हुए होने की उपयोगिता स्पष्ट है।

मूल मंत्र : अहिंसा, सत्याग्रह और सहयोग—सर्वोदय में यह अच्छी तरह समझ लिया जाता है कि युद्ध का उपाय हिंसा नहीं है; दूसरों की मार-काट करके हमें शान्ति नहीं मिल सकती, तथा शान्ति अविभाज्य है। आधुनिक संसार में प्रत्येक देश का दूसरों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कुछ

भागों में अशान्ति रहने पर शेष को शान्ति का सुख नहीं मिल सकता। अस्तु, विश्व शान्ति की तैयारी होनी चाहिए और उसका आधार अहिंसा ही हो सकती है। अहिंसा का अर्थ है, आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक विकेन्द्रीकरण, राजनैतिक क्षेत्र में विकेन्द्रित शासन, सामाजिक क्षेत्र में समानता अर्थात् ऊँच-नीच के भेद-भाव का निवारण, और शिक्षा के क्षेत्र में शारीरिक और बौद्धिक समतोल। इन बातों का स्पष्टीकरण यथा-स्थान किया जा चुका है। अस्तु, सभी क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग करने पर स्थायी शान्ति की स्थापना में सफलता मिल सकती है।

अहिन्सक समाज की रचना के लिए सत्याग्रह और असहयोग अनिवार्य हैं। आक्रमणकारियों के विरुद्ध किसी प्रकार का दुर्भाव न रखते हुए, और उन्हें कोई कष्ट न पहुँचाते हुए उनके आक्रमण का डट कर विरोध होना चाहिए और किसी भी भय या प्रलोभन के कारण उनसे सहयोग नही करना चाहिए। गांधी जी के अनुसार इस विषय के कुछ नियम ये हैं—

'जिन पर हमला किया जाय, उन्हें हमला करने वाले को किसी भी तरह की मदद नहीं करना है। उनका फर्ज है कि उससे पूरी तरह असहयोग करें।

'हमला करने वाले के आगे न तो हम घुटने टेकेंगे और न उसके किसी हुक्म की पाबन्दी करेंगे।

'हम उससे किसी रियायत या इनाम की उम्मीद नहीं करेंगे और न उससे किसी तरह की कोई रिश्वत लेंगे। लेकिन हम उसके लिए दिल में कोई बुरा ख्याल नहीं लायेंगे और न उसकी बुराई चाहेंगे।

'अगर वह हमारे खेतों पर कब्जा करना चाहता है तो हम उन्हें छोड़ने से इनकार करेंगे, चाहे उसका मुकाबला करने में हमें जान ही क्यों न देनी पड़े।

'अगर उसे कोई बीमारी हो या वह प्यास से परेशान हो और हमारी मदद चाहता हो तो भी हम इनकार नहीं करेंगे।'

हम देखते हैं कि युद्ध में घातक अस्त्रों से लड़ने वाले सहस्त्रों व्यक्तियों की आहुति देने वाली सेना को भी अपनी विजय का भरोसा नहीं होता; और

यदि वह अन्त में जीतती भी है, तो वह जीत उसके लिए काफी महंगी पड़ती है; विपक्षी के लिए अथवा मानव समाज के लिए तो वह अनिष्टकारी होती ही है। इसके विरुद्ध, यदि अहिन्सा की भावना से सत्याग्रह और असहयोग द्वारा आक्रमणकारी का विरोध हो तो इसमें चाहे कुछ व्यक्तियों को प्राण भी गंवाने पड़ें, दोनों पक्ष का कल्याण है; हानि किसी की भी नहीं। इसलिए देश-रक्षा के अमोघ या अचूक उपाय ये हैं—अहिन्सा, सत्याग्रह, और असहयोग। मानव समाज के नवनिर्माण के लिए इन्हें साहस और धैर्यपूर्वक अपनाया जाना चाहिए।

शान्ति-सेना की तैयारी—शान्ति-सेना का उल्लेख ऊपर हुआ है। इस की स्थापना स्वयं या एकदम नहीं हो जाती, इसके लिये उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इस प्रसंग में आचार्य काका कालेलकर ने कहा है—'अगर देश में शान्ति की रक्षा करनी है, खास करके लोगों में अभय उत्पन्न करना है, तो शान्ति सेना की तैयारी करनी होगी। अगर देश की प्रजा भय से मुक्त है तो फौज रखने की जरूरत नहीं है। लेकिन लोगों को अभय की दीक्षा देनी होगी। यह केवल उपदेश से नहीं होगा, उनको शिक्षा देनी होगी। बुनियादी शिक्षा के द्वारा लोगों को हम शान्ति सेना के लिए तैयार करेंगे, अभय बनायेंगे।

'शांति सेना का काम बुनियादी शिक्षा की संस्थाओं में तो होगा ही लेकिन सारे देश में भी होनी चाहिए। अगर शस्त्र-युद्ध सीखने की बड़ी-बड़ी एकेडेमी खोली जाती हैं तो शाँति सेना के लिए भी हमें अच्छी एकेडेमी खोलनी चाहिए। डिफेंस एकेडेमी के पीछे जैसा खर्च होता है वैसे इसके पीछे नहीं होगा। पैसे का खर्च करना नहीं पड़े, लेकिन विचार खर्च करना चाहिए, और तपस्या बढ़नी चाहिए। परिश्रम करना चाहिए; तब शांति सेना की स्थापना होगी और यह काम भारत में सम्भव है इसमें कोई शक नहीं।' *

विशेष वक्तव्य—आदमी आदमी से डरे, और शस्त्रास्त्रों की तैयारी हो; घूंसे और मुक्के की जगह तीर और तलवार, फिर दूक और तोपें, और अब हवाई

* 'प्रताप, १६ जुलाई, १९५६

जहाजों से बम वर्षा तथा समुद्र में विध्वंसक नौकाएं; यही नहीं, अणु (एटम) बम और हाईड्रोजन-बम आदि के द्वारा की जाने वाली प्रलयकारी विनाश-लीला! ये बातें हमारी मानवता और सभ्यता के लिए चुनौती हैं। वर्तमान राजनैतिक मस्तिष्क दिन रात अधिकाधिक घातक कार्य की तैयारियों में परेशान रहता है। जनता के पास भोजन-वस्त्र जैसी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन यथेष्ट न होते हुए भी अथाह धन राशि विध्वंस-कार्यों में स्वाहा की जाती है। कुछ चतुर राजनीतिज्ञ तो असन्तुष्ट जनता के मन से उसके कष्टों तथा अभाव-अभियोगों की बात निकालने का रामबाण नुस्खा यही समझते हैं कि उसका ध्यान कल्पित युद्ध-संकट की ओर आकर्षित कर दिया जाय, जिससे वह भावी लड़ाई की तैयारी में जुट कर अपने सब वर्तमान दुखों को इस तरह भूल जाए, जिस तरह शराब पीकर आदमी अपनी तत्कालीन अवस्था का ज्ञान खो बैठता है, और, थोड़ी सी देर के लिए ही सही, अपनी निर्धनता और हीनता को भूल जाता है।

यह नुस्खा कुछ कारगर नहीं है, और अन्त में बहुत महंगा या हानिकर पड़ता है; आर्थिक दृष्टि से ही नहीं—वह तो फिर भी नगण्य है—मानवता की दृष्टि से भी। इस लिए मानव समाज के नव-निर्माण तथा विश्व-कल्याण के विचार से इसे छोड़ दिया जाना आवश्यक है। इसकी जगह अहिंसा, सत्याग्रह और असहयोग के मानवोचित उपायों का उपयोग किया जाना चाहिए।

चालीसवां अध्याय

राज्य और अर्थनीति

सच्चा अर्थशास्त्र सरकार के आय-व्यय में नहीं समाया रहता, बल्कि इस बात की जाँच करने में रहता है कि इस आय और व्यय से देश की प्रजा का कैसा और कितना हित होता है।

—मगनभाई देसाई

पंचायतों का प्रभुत्व—पहले बताया जा चुका है कि सर्वोदय व्यवस्था में शासन की निचली इकाइयों का कार्य अधिक से अधिक होगा। इस प्रकार ग्राम-पंचायतों का काम अपने-अपने क्षेत्र में शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, खेती, ग्रामोद्योग और न्याय ही नहीं, रक्षा आदि भी होगा। ये जनता की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था करेंगी। ये गांव की सड़क, कुंए, तालाब, वाचनालय, पुस्तकालय, विद्यालय, चिकित्सालय, संग्रहालय, वस्तु-भण्डार आदि का आयोजन करेंगी। इन्हें जनता के सांस्कृतिक और नैतिक उत्थान की ओर भी ध्यान देना होगा,' जिससे गांव वाले एक दूसरे के साथ समुचित सहयोग की भावना रखते हुए ग्रामोन्नति में भाग ले सकें। इसी प्रकार नगर-पंचायतें अपने पास-पड़ोस की ग्राम्य या नागरिक जनता के हित को कोई बाधा न पहुँचाते हुए, तथा उनका पूरक होते हुए अपने-अपने क्षेत्र के आदमियों की अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न करेंगी।

पंचायतों के इस विशाल कार्य-क्षेत्र को लक्ष्य में रखकर ही सरकारी आय-व्यय का प्रबन्ध करना होगा। सर्वोदय-योजना-समिति का मत है कि 'शासन की प्रारम्भिक इकाइयों का स्वशासन वास्तविक और प्रभावशाली बनाने के लिए ऐसी व्यवस्था करनी पड़ेगी कि प्रादेशिक इकाइयों में सार्वजनिक आय का अधिकतर संग्रह और व्यय वे ही करें। हमारा लक्ष्य ऐसी अर्थव्यवस्था को विकसित करना होना चाहिए, जिसमें सार्वजनिक आय ५० प्रतिशत संग्रह

और व्यय ग्राम-पंचायतें ही करें। शेष पचास प्रतिशत उनसे ऊपर के संगठनों के लिए छोड़ देना चाहिए।' *

प्रादेशिक सरकारों की आय, मालगुजारी—प्रादेशिक सरकारें अपने-अपने क्षेत्र की ग्राम और नगर पंचायतों का आपसी सम्पर्क और सहयोग बढ़ाती हुई उन्हें भूमि तथा विकेन्द्रित उद्योगों सम्बन्धी आवश्यक सहायता देंगी। ये ऐसी शिक्षा तथा अनुसंधान आदि की व्यवस्था करेंगी, जिससे गांवों और नगरों के निवासियों की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति तथा आत्मोन्नति की सुविधा होगी। ये यातायात के लिए सड़कों का, और सिंचाई के लिए—जहां आवश्यक और उपयोगी हों—नहरों, नल-कूपों और बांधों का; निर्माण करेंगी।

प्रादेशिक सरकारों की आय का मुख्य साधन मालगुजारी होगी, जो पंचायतों द्वारा वसूल की जायेगी। इसमें वर्तमान काल के दोष न रहेंगे, आवश्यक सुधार कर दिये जायेंगे। यह तो पहले ही कह दिया गया है कि सर्वोदय व्यवस्था में किसानों से लगान† न लिया जायगा, और कहीं बे-मुनाफे की खेती न होगी; बीच के समय में यदि कहीं बे-मुनाफे की खेती हो, तो उसकी मालगुजारी न ली जानी चाहिए। जिस खेती से किसान की और उसके परिवार के लोगों की मजदूरी आदि लागत-खर्च निकल आने पर मुनाफा रहे, उस पर ही मालगुजारी ली जाय। मालगुजारी की दर निर्धारित करने में देश-काल या लोकहित का, और उसे वसूल करने में किसानों की सुविधाओं का यथेष्ट ध्यान रखा जाय। जो वस्तु मानव जीवन के लिए जितनी अधिक आवश्यक हो, उतनी ही उसकी पैदावार पर मालगुजारी की दर कम होगी।

मालगुजारी जिन्स के रूप में होनी चाहिए—वर्तमान अवस्था में सरकारी मालगुजारी प्रायः नकदी में निर्धारित रहती है। इससे किसानों को अपनी फसल की पैदावार बेचने की जल्दी करनी पड़ती है, और इस जल्दी से उसे बहुधा बहुत घाटा सहना होता है। कुछ दशाओं में तो किसान को अपनी पैदावार का इतना हिस्सा बेच देना होता है कि उसके पास अगली

---

* 'सर्वोदय योजना' से।

† लगान और मालगुजारी का भेद पहले बताया जा चुका है।

फसल तैयार होने तक गुजारा करने के लिए भी काफी नहीं बचता, और उसे स्वयं अपने वास्ते बाजार से खरीद करनी पड़ती है। इस पर फिर उसे घाटा रहता है। अनेक बार तो अन्न आदि दूर-दूर की मंडियों में ले जा कर बेचा जाता है; पीछे जब गांव वालों को इसकी जरूरत होती है तो वे उन मंडियों से खरीद कर गांव में लाते हैं। इसमें यातायात का खर्च और परेशानी कितनी होती है, यह स्पष्ट ही है। इन दोषों को दूर करने के लिए मालगुजारी नकदी के बजाय, जिन्स में ही ली जानी उचित है। इसका आशय यह नहीं है कि सरकार खेती की प्रत्येक पैदावार का हिस्सा ले। असल में प्रत्येक प्रादेशिक सरकार पंचायतों के परामर्श से हरेक क्षेत्र की कुछ खास-खास पैदावारों की सूची बनाले, इन पैदावारों में से ही वह, अपनी तथा किसानों की सुविधा का ध्यान रखते हुए, मालगुजारी वसूल करे। मालगुजारी को जिन्स के रूप में लेने की कठिनाई विविध सहकारी संस्थाओं तथा प्रत्येक गांव में एक अनाज-बैंक संगठित होने से सहज ही हल हो जायेगी।

श्रम के रूप में चुकाने की व्यवस्था—मालगुजारी श्रम के रूप में भी चुकाये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। जो किसान किसी कारण से मालगुजारी अन्न आदि में न चुकाना चाहें, वे उसके बजाय आवश्यक श्रम करके चुका सकें—इस दृष्टि से ग्राम-पंचायतें आवश्यक व्यवस्था करें। श्रम की आवश्यकता सभी कामों में होती है। इसलिए उसका उपयोग अनेक प्रकार से हो सकता है, और उसके द्वारा ग्रामीण जनता के हित के विविध कार्य किये जाकर उसकी भोजन, वस्त्र, मकान, शिक्षा, चिकित्सा और यातायात आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। मालगुजारी को श्रम के रूप में चुकाने से यह लाभ है कि इससे प्रत्येक नागरिक सरकारी अर्थ-वृद्धि में अपना कर्तव्य पालन सहज ही कर सकता है।

केन्द्रीय सरकार का सीमित अधिकार—सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था का मूल तत्व विकेन्द्रीकरण तथा लोकहित है; इससे यह स्वयं सिद्ध है कि केन्द्रीय सरकार का अन्य विषयों की भांति सार्वजनिक आय-व्यय पर सीमित ही अधिकार होगा। रेल, बिजली, डाक, तार, हवाई यातायात, मुद्रा और बैंक आदि सार्वजनिक उपयोग के कार्यों में मुनाफे की दृष्टि नहीं होगी। घुड़दौड़, मादक

पदार्थ, लाटरी आदि बन्द होने से इनसे आय न होगी। अर्थव्यवस्था विकेन्द्रित और सेवा-भावी होने के कारण लोगों को बड़ी-बड़ी आमदनी न होने से और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत ही कम होने से आय कर आयात-निर्यात कर, सम्पत्ति कर, बिक्री कर से होने वाली सरकारी आय मामूली ही होगी। उसकी आय का एक मुख्य साधन सार्वजनिक स्वामित्व वाले केन्द्रित उद्योग होंगे। हाँ, आवश्यकतानुसार उसे प्रादेशिक सरकारों से सहायता मिलती रहेगी।

सरकारी अर्थनीति का लक्ष्य, आय-व्यय की वृद्धि नहीं, जनता का कल्याण—वास्तव में सरकारी अर्थनीति का लक्ष्य केवल अधिक से अधिक आय प्राप्त करना और अधिक से अधिक खर्च करना नहीं होना चाहिए। देखना यह होगा कि आय जिन साधनों से प्राप्त होती है, वे लोकहित की दृष्टि से कहाँ तक उचित है, और सरकारी व्यय जिन कामों में होता है, उनसे जनता का कहां तक कल्याण होता है। इस कसौटी पर यदि आय और व्यय दोनों ही ठीक नहीं उतरते तब तो सरकारी अर्थनीति दूषित होने में सन्देह ही नहीं है; पर यदि व्यय हितकर भी है तो भी इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि आय किस प्रकार हुई है। उदाहरण के तौर पर यदि सरकार शिक्षा के कार्य में भी पैसा लगाना चाहे तो इसके लिए उसका शराबखोरी को जारी रखकर आय प्राप्त करना उचित नहीं ठहराया जा सकता। मद्य-निषेध या शराब-बन्दी की नीति को स्थगित करना या उसमें ढील देने का समर्थन इसलिए नहीं किया जाना चाहिए कि सरकार को शिक्षा-प्रचार के लिए पैसा चाहिए। इसी प्रकार सरकार का केन्द्रित यंत्रोद्योग को केवल इस आधार पर प्रोत्साहन देना अनुचित है कि उनसे सरकार को सहज ही बड़े परिमाण में आय प्राप्त हो जाती है, और उसके विविध लोकहितकारी विभागों का खर्च चल सकता है। पहले बताया जा चुका है कि केन्द्रित यंत्रोद्योगों में जनता में बेकारी फैलाने, और आर्थिक असमानता बढ़ाने आदि के अनेक दोष हैं, और कुछ खास अपवादों को छोड़ कर इनकी वृद्धि अनिष्टकारी ही है। इस लिए सरकार को इन्हें यथा-सम्भव नियंत्रित और सीमित ही रखना चाहिए।

सरकार को बराबर यह देखते रहना है कि श्रम करने के अभिलाषी प्रत्येक

व्यक्ति को काम मिले और सर्वसाधारण को जीवन-निर्वाह के यथेष्ट साधन सुलभ हों। यदि किसी व्यक्ति या संस्था को इससे अधिक आय होती है तो यह कुछ विशेष सुविधाजनक परिस्थिति के कारण है, जिसका अधिकांश लाभ सरकार द्वारा जनता को मिलना चाहिए। वास्तव में परिस्थितिवश जो आय-वृद्धि होती है, उसका श्रेय समाज को है और उसका अधिकांश लाभ भी किसी व्यक्ति या संस्था को न मिल कर सर्वसाधारण को ही मिलना चाहिए। अस्तु, सर्वोदय अर्थव्यवस्था में सरकार इस बात का यथेष्ट ध्यान रखेगी; कारण, उसकी अर्थ-नीति का मुख्य उद्देश्य यह नहीं होगा कि अपनी आय बढ़ाये या आय बढ़ाने के लिए ऐसी पद्धति को प्रोत्साहन दे, जिससे कुछ थोड़े से व्यक्तियों को ही लाभ हो; उसका लक्ष्य तो सर्वसाधारण जनता का कल्याण होगा।

आय का रूप : नकदी, माल और मजदूरी—अन्यत्र कहा गया है कि मालगुजारी जिन्स तथा मजदूरी के रूप में ली जानी चाहिए। इसी प्रकार अन्य सरकारी करों के सम्बन्ध में लोगों को यह अधिकार रहना चाहिए कि वे चाहें तो अपने करों को इसी रूप में दे सकें; किसी पर यह प्रतिबन्ध न हो कि वह अपना कर नकदी में ही चुकाये। इससे जनता को पैसे की अर्थव्यवस्था से मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त होगा, जिसकी आवश्यकता और उपयोगिता पहले बतायी जा चुकी है। जब लोगों को सरकारी कर जिन्स या श्रम के रूप में चुकाने की आजादी रहेगी तो स्वभावतः उन्हें लोकोपयोगी वस्तुएं बनाने तथा अपने श्रम को हितकारी कार्यों में लगाने की प्रेरणा होगी और राज्य में जनता की स्थिति अधिक सुखमय होगी।

सर्वोदय व्यवस्था में खर्च बहुत कम होगा—आजकल सरकारें अधिकाधिक खर्च करती जाती हैं, और ऐसा करने में गर्व मानती हैं। साधारण तौर पर सरकार द्वारा खर्च अधिक होने का अर्थ यह लिया जाता है कि सरकार जनता की सुख-सुविधा और उन्नति की व्यवस्था अधिक करती है। परन्तु जानने वाले अच्छी तरह जानते हैं कि सरकार द्वारा किये जाने वाले विविध कार्यों का विशेष लाभ फी सैकड़ा कुछ थोड़े से ही व्यक्तियों को मिलता है। यदि सरकार उच्च शिक्षा की व्यवस्था करती है तो उसमें सरकार का बहुत सा रुपया खर्च होने पर भी साधारण हैसियत के नागरिकों की ऐसी सामर्थ्य नहीं होती कि वे

उसकी फीस आदि का भार उठा सकें। राजधानियों में बड़े-बड़े ऊँचे दर्जे के अस्पताल होते हैं, पर मामूली नागरिकों की उनमें पहुँच नहीं हो पाती। यहाँ तक कि हमारी सड़कों की मद में इतना रुपया खर्च होने पर भी देश में जो सीमेन्ट या तारकोल की सड़कें बनती हैं, वे थोड़े से नागरिकों के काम आती हैं; हमारी जनसंख्या का अधिकांश भाग तो गांवों में रहता है, और गांववालों के लिए मामूली कच्ची सड़कों की भी बहुत कमी रहती है। निदान, इस समय सरकारी खर्च का परिमाण खूब अधिक होता है; उसमें सब नागरिकों को भाग लेना होता है, पर उससे लाभ थोड़े से ही व्यक्तियों को मिलता है।

सर्वोदय अर्थव्यवस्था में सबके हित का ध्यान रखा जायगा। सरकार को स्कूल, अस्पताल और सड़कें आदि बनवाने में तथा इनके संचालन में खर्च बहुत कम पड़ने की बात पहले कही गयी है। इसके अतिरिक्त शासन बहुत सरल हो जाने से भी खर्च बहुत घट जायगा। इस समय पैसे की प्रतिष्ठा होने से सरकारी पदाधिकारी अधिक से अधिक वेतन और भत्ते आदि पाना चाहते हैं, और अनेक बार ऊँचे वेतन वाले भी भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी आदि के शिकार करते पाये जाते हैं। धन के बजाय श्रम की प्रतिष्ठा होने से, लोगों में सेवा-भाव की वृद्धि होगी; साधारण वेतन से ही काम करने के लिए अच्छे योग्य व्यक्ति यथेष्ट संख्या में मिलेंगे। राज्य की नीति अहिन्सा रहने पर, पुलिस और सेना का रूप बदलने के साथ इसका खर्च भी घट जायगा। शान्ति-काल में इनके द्वारा रचनात्मक काम होने से राज्य को इस मद से जो लाभ होगा, वह रहा अलग। निदान, इनके खर्च का भार बहुत कम रहेगा।

विशेष वक्तव्य—इस तरह सर्वोदय व्यवस्था में, इस समय की अपेक्षा, खर्च बहुत कम होगा। विशेष बात यह होगी, कि सरकार का खर्च करने का ढंग ऐसा होगा कि उससे थोड़े से लोगों की आरामतलबी या विलासिता, और शेष अधिकांश जनता की मूल-भूत आवश्यकताओं के भी पदार्थों की कमी न होकर सब के हित का यथेष्ट ध्यान रखा जायगा। ऊंचे कहे जाने वाले लोगों को विलासिता रोग से मुक्त रखने की व्यवस्था होगी, और सब की प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त उनके सांस्कृतिक विकास का भी प्रबन्ध रहेगा।

कुदरत अपने काम में पूरा समय लेती है। जल्दबाजी करने वाला आदमी न तो तरक्की कर सकता है, और न वैज्ञानिक बन सकता है। हमें जिन्दगी में धीरज और समतोल रखने की जरूरत है। सायन्स के सही इस्तेमाल और सच्ची तरक्की का रास्ता यही है कि हम गांव के छोटे-छोटे उद्योग धन्धों के जरिये ही हर रोज की जरूरत पूरी करें।

* * *

क्या इन्सान में इतनी अकल आयेगी कि दूरन्देशी के साथ सही रास्ते को देख ले? गांधीजी ने जो रास्ता बताया, वह ऐसा नहीं है, जिस पर सिर्फ कुछ बड़े-बड़े आदमी ही चल सकें। यह इतना सीधा-सादा है कि हम में से छोटे से छोटा इस पर अमल कर सकता है। इस रास्ते की मुराद यही है कि हम अपना निजी जीवन उस प्रकार के मुताबिक बितायें जो हमारे अन्दर की अपनी सब से ऊँची पुकार है। यह जरूरत है कि इसके लिए आजकल की मौज-मस्ती के बजाय खुद पर काबू रख कर और आत्म-संयम से चलना होगा। हमें काम का ऐसा ढर्रा और चीजों का एक ऐसा तर्ज बना लेना है, जिसका आधार सामाजिक, नैतिक और रूहानी बातों पर हो। बस, यही वह रास्ता है, जिसके जरिये सब के लिए राम राज्य कायम हो सकेगा, यही वह रास्ता है, जिसके जरिये हर इन्सान को सच्ची खुशहाली और शान्ति नसीब हो सकती है।

—जो० का० कुमारप्पा

सातवाँ खंड

उपसंहार

४१—सर्वोदय अर्थशास्त्र की विशेषताएँ
४२—हमारा कर्तव्य

इकतालीसवां अध्याय

सर्वोदय अर्थशास्त्र की विशेषताएँ

आर्थिक लोकतंत्र के अभाव में राजनैतिक लोकतंत्र होना न होना समान है। आर्थिक लोकतंत्र का अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार मिलना चाहिए।

—विश्वप्रकाश

जिस समाज में शोषण चल रहा है और शोषण-प्रधान व्यवस्था चल रही है—ऐसे समाज में हमें शोषण रहित व्यवस्था लानी है। इसलिए हमें पुरानी समाज रचना को तोड़ना होगा। आज हमें तोड़ना और जोड़ना साथ-साथ करना होगा।

—धीरेन्द्र मजूमदार

पिछले अध्यायों में सर्वोदय अर्थशास्त्र का विवेचन करके अब हम पाठकों का ध्यान उसकी खास-खास बातों की ओर दिलाना चाहते हैं।

इस अर्थशास्त्र से सब का हित—वर्तमान अर्थशास्त्र का लक्ष्य राष्ट्र की आर्थिक उन्नति करना माना जाता है। इसे मानने वाले समझते हैं कि हमें सब व्यक्तियों के हित की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं। बहुसंख्यक दल या वर्ग विशेष का विचार करना काफी है। इसी प्रकार यदि कोई आदमी या संस्था ऐसी खेती या उद्योग-धन्धा करती है, जिससे उत्पादन की मात्रा बढ़ती है तो हम उसे प्रोत्साहन देते हैं। पर इसमें यह नहीं विचार किया जाता कि इस उत्पादन का जन साधारण के स्वास्थ्य आदि पर क्या प्रभाव पड़ा। फिर किसी राष्ट्र का, दूसरे देशों की जनता के हित की उपेक्षा करके, अथवा उसमें बाधक होकर केवल अपने उत्कर्ष में लगा रहना भी अनिष्टकारी है। प्रत्येक राष्ट्र का कई-कई राष्ट्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वर्तमान काल में यह घनिष्ठता बढती ही जा रही है। भौतिक दृष्टि से दुनिया एक हो रही है, और यातायात

के विचार से बहुत छोटी भी। एक राष्ट्र के कार्यों का प्रभाव दूर-दूर के देशों पर पड़ता है। इसलिए यदि उदारता से व्यवहार न किया जाय तो हमारे कार्य दूसरों के लिए बहुत हानिकर हो सकते हैं और यह बात अन्ततः हमारे राष्ट्र के लिए भी अच्छी सिद्ध नहीं होती। अस्तु, वर्तमान अर्थशास्त्र कुछ व्यक्तियों, वर्गों या प्रदेशों को अपने सुख के साधन जुटाने और दूसरों का शोषण करने की अनुमति देता है। यह मानव समाज के टुकड़े-टुकड़े करता है और एक हिस्से को दूसरे का प्रतिद्वन्दी बनाता है।

इसके विपरीत, सर्वोदय अर्थशास्त्र समस्त संसार का हित सोचता है। उसमें रंग भेद, जाति भेद या राष्ट्र-भेद नहीं होता। उसका लक्ष्य विश्वबन्धुत्व होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मनुष्य को दूर-दूर की बातों में फंसा कर उसे अपने स्थानीय कर्तव्य से विमुख करता है। उसका तो आदेश है कि हमें अपने नजदीक के आदमी के साथ अधिक से अधिक सहयोग बढ़ाना है, उसकी आवश्यकता का विचार करके उत्पादन करना है; और हमें अपने उपयोग की वस्तुओं के लिए दूर-दूर न भटक कर उन्हें अपने गांव या नगर से ही लेना है, जिससे हमारे स्थानीय उत्पादकों और कारीगरों को आजीविका और विकास के साधन मिलें। हां, हमें अपने व्यवहार में कृत्रिम सामाजिक भेद-भाव न रख कर सब के हित का प्रयत्न करना है और उसी में अपना हित मानना है। यह सर्वोदय अर्थशास्त्र की प्रमुख विशेषता है और इसके नाम के 'सर्वोदय' शब्द को सार्थक करती है।

भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मनुष्य का महत्व अधिक—वर्तमान अर्थशास्त्र भौतिक उन्नति के साधन जुटाने में लगा है, यह भुला दिया जाता है कि वे साधन अन्ततः मनुष्यों के लिए हैं, मनुष्य उनके लिए नहीं। अस्तु, श्रमजीवियों से अधिक उत्पादन कराने के हेतु ऐसे उपाय काम में लाया जाना अनुचित है जिनसे उनकी शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक उन्नति में बाधा हो, अथवा उन्हें थोड़े-बहुत समय में बेकार होकर दूसरे के आश्रित होने या राज्य पर भार बनने की नौबत आये। हमारा लक्ष्य अच्छे नीतिमान मनुष्य तैयार करना है, उनके वास्ते जहां तक भौतिक साधनों की आवश्यकता हो, उसकी व्यवस्था होना ठीक ही है, पर ऐसा न होना चाहिए कि मनुष्यों की

बलि देकर भौतिक उन्नति का आयोजन हो। जब मनुष्य अच्छे नीतिमान और सदाचारी तथा सेवाभावी होंगे तो वे भौतिक साधनों का उपयोग एक-दूसरे के हित के लिए करेंगे, अन्यथा वे उन साधनों से समाज का अहित करने की ठानेंगे, जैसा कि आज के युग में अणु-बम और हिंसक शस्त्रास्त्रों के सन्बन्ध में हो रहा है। इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र भौतिक पदार्थों की अपेक्षा अच्छे मनुष्यों के तैयार किये जाने पर जोर देता है।

उत्पादन को नहीं, उपयोग को प्राथमिकता— वर्तमान अर्थशास्त्र में उत्पादन को केन्द्र-विन्दु माना जाता है। लोगों को सर्व-प्रथम किन वस्तुओं की आवश्यकता है, इस पर ध्यान नहीं दिया जाता। अनेक प्रदेशों में जूट, कपास और गन्ने आदि की व्यापारिक फसलें पैदा की जाती हैं, और फैशन या श्रृंगार की विविध वस्तुएं बनायी जाती हैं। देश में ऐसे उत्पादन का परिमाण बढ़ाकर उसके लिए बाजार ढूंढ़ना तथा झूठे-सच्चे विज्ञापन देकर लोगों को आकर्षित करना वर्तमान अर्थनीति में बड़ी कुशलता समझी जाती है। इसी का परिणाम यह है कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत कहे जाने वाले देशों के स्वार्थ एक-दूसरे से टकराते हैं और युद्धों तथा महायुद्धों को निमंत्रित करते हैं। संसार पर हर घड़ी संकट छाया रहता है। शाँति की जगह युद्ध ही इस समय का सत्य बना हुआ है। इसलिए सर्वोदय अर्थशास्त्र में उपयोग को प्राथमिकता देकर उसकी दृष्टि से उत्पादन करने का विचार किया जाता है। अनावश्यक या अहितकर उत्पादन को रोक कर उसमें लगने वाले समय और शक्ति को जनता का सांस्कृतिक विकास करने वाले उत्पादन में लगाने का सत्परामर्श दिया जाता है।

उपयोग हो, उपभोग नहीं—ऊपर उपयोग की बात कही गयी है। साधारण प्रचलित अर्थशास्त्र में उपभोग का विचार होता है। पर सर्वोदय अर्थ-शास्त्र में उसके बजाय उपयोग की बात होती है। यहाँ अन्तर नामका नहीं है, जीवन-दृष्टि का है। प्रचलित अर्थशास्त्र के अनुसार यह समझा जाता है कि जीवन में आवश्यकताएँ जितनी बढ़ें; मौज-शौक या भोग-विलास की सामग्री का सेवन जितना अधिक हो, उतना ही आदमी अधिक उन्नत, सभ्य या ऊंचे दर्जे का है। इसके विरुद्ध सर्वोदय अर्थशास्त्र की मान्यता है कि आदमी यथा-

सम्भव अपनी भौतिक तथा कृत्रिम आवश्यकताओं को नियंत्रित करे, भोग-विलास से बचे, संयम से रहे और लोकसेवा में लगे; तभी उसका जीवन ऊंचे दर्जे का कहा जायगा। इसका अर्थ यह नहीं कि आदमी भूखा-नंगा रहे। इसका आशय यही है कि भोजन-वस्त्र हमारे शरीर के लिए हो; उनका सेवन उसी सीमा तक किया जाय, जहां तक कि वे शरीर के लिए उपयोगी हों, जीवन-निर्वाह और विकास में सहायक हो। गांधी जी के शब्दों में 'उपयोगी वह है जिससे मानव जाति का भरण पोषण हो। भरण-पोषण वह है, जिससे मनुष्य को यथेष्ट भोजन-वस्त्र मिल सके या जिससे वह नीति के मार्ग पर स्थित रह कर आजीवन श्रम करता रहे।'

औद्योगिक विकेन्द्रीकरण तथा स्वावलम्बन—वर्तमान अर्थव्यवस्था में बड़े-बड़े यंत्र या मशीनों से कुछ खास-खास केन्द्रों में उत्पादन-कार्य होता है। वे सत्ता या शक्ति को मुट्ठी भर व्यक्तियों में केन्द्रित करके हजारों और लाखों आदमियों को उनके अधीन शोषित और पीड़ित रहने को बाध्य करती हैं जिससे हिंसा और बल-प्रयोग द्वारा समाज की सब व्यवस्था दूषित होती है और लोकतंत्र और मानवता का भयंकर ह्रास होता है। सर्वोदय अर्थशास्त्र औद्योगिक केन्द्रीकरण के इन दोषों को जानता है, अतः वह विकेन्द्रीकरण का मार्ग दर्शाता है, और जनता को छोटे-छोटे क्षेत्रों में स्वावलम्बी जीवन बिताने का आदेश करता है।

पैसा साध्य नहीं, साधन मात्र—आधुनिक अर्थव्यवस्था में पैसा आदमी के जीवन में साध्य बन बैठा है। आदमी दिन-रात इसके संग्रह की चिन्ता में है। अपने पड़ोसियों को आर्थिक संकट में पड़ा देख कर भी हम उनके लिए विशेष क्रियात्मक सहानुभूति नहीं दिखाते। हमें यह फिक्र रहती है कि हमारी बैंक की उस जमा में कुछ कमी न आ जाय, जिसे उत्तरोत्तर बढ़ाते रहना हमने अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ रखा है। साधारण श्रेणी के आदमी भी पैसे के चक्र में बुरी तरह फंसे हैं। गवालिया अपना दूध, और माली अपने यहां के फल, अपने बाल-बच्चों को न देकर उन्हें बेचकर उनके दाम उठाते हैं। किसान अपने लिए घटिया अन्न रख कर बढ़िया अन्न मंडी में ले जाकर बेच देता है। सर्वोदय अर्थशास्त्र ऐसे व्यवहार को दूषित ठहराता है। यह

केवल अतिरिक्त पैदावार को बेचने की अनुमति देता है। वह पैसे को साधन के रूप में देखता है, उसे जीवन का साध्य नहीं बनने देता। वह पैसे को मानवता की सेवा में उपस्थित रहने का, और स्वामी नहीं, दास बने रहने का आदेश करता है। इस प्रकार वर्तमान काल में जो बहुत से आदमी केवल विनिमय या खरीद-बेच में लगे हुए हैं, उन्हें उससे मुक्त कर उत्पादन कार्य में लगाते हुए सर्वसाधारण के वास्ते उपयोग की सामग्री सुलभ करने का यह अर्थशास्त्र सुखदायी विधान है।

प्रतिष्ठा पैसे की नहीं, श्रम की—आधुनिक अर्थव्यवस्था में 'सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते' की कहावत चरितार्थ होती है। पैसे वालों को समाज में, सभा-सोसयटी में, राज्य में, हर जगह खूब आदर-मान मिलता है, भले ही उन्होंने बड़े-बड़े कारखाने खोल कर हजारों-लाखों आदमियों को बेकार और भूखा-नंगा रहने पर वाध्य किया हो, या फैशन और विलासिता का सामान बनाकर, और उसके विज्ञापन से लोगों को फुसला कर, देश में जनता की मूल-भूत आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित की हो। सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार प्रतिष्ठा पैसे की नहीं, श्रम की होनी चाहिए। अपनी मेहनत से अपना भरण-पोषण करने, और देश को आवश्यक पदार्थ देने वाले किसान और मजदूर को उस पैसे वाले से अधिक इज्जत-आबरू मिलनी चाहिए, जो अपनी, चतुराई और चालाकी से दूसरों का शोषण करता है, या खाली बैठे अपने बापदादा की कमाई पर मौज उड़ाता है। इस अर्थशास्त्र में मुफ्तखोरों आलसियों, अनुत्पादकों को बहुत हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसके विपरीत श्रमियों, उत्पादकों, अपने पसीने की कमाई खाने वालों के लिए यह सब प्रकार आदर प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

बुद्धि का उपयोग लोक-सेवा के लिए—आजकल बुद्धिजीवियों ने अपनी बुद्धि का कैसा दुरुपयोग कर रखा है! ये श्रमजीवियों की अपेक्षा कितनी आरामतलबी का जीवन बिताते हैं! अनेक न्यायाधीश, प्रोफेसर, विधान-सभाओं के सदस्य, और राजकर्मचारी आदि प्रायः साल में छः महीने, और दिन में दो-चार घन्टे ही काम करते हैं। इस समय भी उन्हें गर्मी में बिजली के पंखे और खस की टट्टियों की जरूरत होती है। सर्दी में उनके कमरे को

गर्म करने की व्यवस्था रहनी चाहिए। तिस पर भी उनका वेतन साधारण श्रमी की अपेक्षा १५-२० गुना, और कुछ दशाओं में इससे भी अधिक होता है। इसके विपरीत, श्रमियों के सप्ताह में छः या साढ़े पांच दिन और दिन में छः घन्टे काम करने का नियम बनाना भी बड़ा अनुग्रह समझा जाता है। सर्वोदय अर्थशास्त्र को यह असमानता मान्य नहीं। उसकी सूचना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने भरण-पोषण के लिए शरीर-श्रम करे; बुद्धि का उपयोग दूसरों का शोषण करने या उनके श्रम से अनुचित लाभ उठाने में न किया जाकर लोकसेवा या ज्ञान-प्रचार के लिए ही किया जाय, पारिश्रमिक या मुआवजे के लिए नहीं।

विनिमय की मर्यादा—वर्तमान अर्थव्यवस्था में उत्पादन का केन्द्रीकरण होने से खास-खास स्थानों में बहुत सा सामान तैयार होता है, वहां से क्रमशः छोटे केन्द्रों में होता हुआ, कई-कई व्यापारियों या दलालों के द्वारा गाँवों और नगरों के उपभोक्ताओं के पास पहुँचता है। इसके लिए माल-गाड़ियों, मोटर-ट्रकों आदि वाहनों की कितनी व्यवस्था करनी होती है, जगह-जगह माल उतारने-चढ़ाने की कितनी झंझट होती है, माल कितना खराब होता है, व्यापारियों और दलालों के खर्च और मुनाफे का उपयोक्ताओं पर कितना भार पड़ता है—यह सहज ही अनुमान हो सकता है। सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार माल का उत्पादन विकेन्द्रित रूप से स्थान-स्थान पर उपयोक्ताओं के पास ही होगा; विनिमय का यह विकराल रूप न रहने पायेगा, इसके अस्सी-नब्बे प्रतिशत की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। मुनाफाखोरी का प्रसंग स्वतः बहुत कम रह जायगा, और उपयोक्ता को विनिमय के दुश्चक्र से बहुत राहत मिल जायगी। अस्तु, सर्वोदय अर्थशास्त्र लोगों को ऐसे पदार्थों को उपयोग करने के लिए कहता है, जो उनके गांव या नगर में बनते हैं या बनाये जाते हैं, और जिनका अदल-बदल वहां का वहाँ ही आसानी से हो सकता है, जिसके लिए दूर-दूर के स्थानों में विनिमय नहीं करना पड़ता, विदेशों से तो प्रायः बिल्कुल ही नहीं।

वितरण की समस्या का अन्त—वर्तमान अर्थशास्त्र से वितरण की समस्या ने बहुत जटिलता ग्रहण कर रखी है। उत्पादन के साधनों के मालिकों में से जमीन वाले को लगान किस हिसाब से दिया जाये, पूंजी वाला कितना

सूद पाने का अधिकारी है, श्रमियों को वेतन देने में क्या आदर्श रहे, और व्यवस्थापक या साहसी को मुनाफा कहां तक मिले—ये प्रश्न बहुत विवाद-ग्रस्त है। सर्वोदय अर्थशास्त्र के अनुसार समस्या बिल्कुल सरल हो गयी है। जमीन उसी को और उतनी ही मिले, जो जितनी स्वयं जोते-बोये। इस जमीन को वह समाज की सम्पत्ति के रूप में काम में लाये; और जब वह इसे काम में न ला सके तो वह इसका अधिकारी न रहे। इस जमीन पर किसी प्रकार का लगान न रहेगा और मालगुजारी उचित ही ली जायगी, उसमें किसानों को जीवन-वेतन मिलने का ध्यान रखा जायेगा। पूँजी वाले को सूद लेने का अधिकार न होगा। पूंजी इस प्रकार विभाजित होगी कि प्रायः न किसी को दूसरे से लेने की जरूरत रहेगी, और न किसी के पास वह फालतू पड़ी होगी। यदि किसी के पास कुछ अतिरिक्त पूंजी होगी भी तो वह समाज की मानी जायगी और उसका उपयोग उसी दृष्टिसे किया जायगा। व्यवस्थापक या साहसी को अपने श्रम का पारिश्रमिक मात्र लेने का अधिकार होगा। मुनाफा निजी लाभ की चीज न होगी; वह समाज-हित के लिए काम में लाया जायेगा। अब रहा, श्रमी। उत्पादन विकेन्द्रित रूप में होने तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए शरीर-श्रम करना आवश्यक होने से प्रायः प्रत्येक परिवार स्वावलम्बी होगा। जिन व्यक्तियों को दूसरों का अथवा सरकारी काम करने की आवश्यकता होगी, उन्हें उनके परिवार के भरण-पोषण आदि के लिए न्यूनतम वेतन अवश्य ही दिया जायगा। इस प्रकार किसी व्यक्ति को अपनी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित होने का अवसर नहीं आयेगा; सब आनन्द-पूर्वक अपना विकास करते हुए दूसरों की उन्नति में सहायक होंगे। मुनाफेखोरी या शोषण का प्रसंग न रहेगा।

विकेन्द्रित और लोकतंत्री राजसत्ता—ऐसे आर्थिक संगठन में सम्पत्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के पास जमा न हो कर विकेन्द्रित होगी, सब लोग अच्छी तरह गुजर-बसर करने वाले होंगे, कोई बड़े-बड़े मालदार, जागीरदार, पूंजीपति आदि न होंगे, जिनके महलों और राजभवनों की चौकसी के लिए, जिनके धन की चोरों और डाकुओं से रक्षा करने के लिए, हथियारबन्द सिपाही या पुलिस आदि की आवश्यकता होती है। जनता अपने अधिकांश कार्य-व्यवहार में स्वावलम्बी होगी; उत्पादन, वितरण, शिक्षा, स्वास्थ्य, न्याय, रक्षा आदि

सब कार्य स्थानीय पंचायतों के द्वारा सम्पन्न होने से केन्द्रीय सरकार का कार्य-क्षेत्र स्वभावतः सीमित होगा। इस प्रकार राजसत्ता विकेन्द्रित होगी शासन-क्षेत्र की हर इकाई के प्रबन्ध आदि में प्रायः वहां के ही आदमी सहयोग देंगे। उनका अपने यहां की जनता से घनिष्ठ सम्पर्क रहेगा, वे वास्तव में जनता के ही आदमी होंगे, और हुकूमत करने या धौंस जमाने की भावना न रखकर लोक-सेवा के भाव से काम करेंगे। उनमें रिश्वतखोरी या दमन की प्रवृत्ति न होगी, वरन् आवश्यकतानुसार जनता की प्रत्येक बात में सहायता करना अपना कर्तव्य समझेंगे। इस प्रकार आदमी हर जगह वास्तविक लोकतंत्र अनुभव करेंगे।

राज्यों में व्यापारिक संघर्ष का अभाव—सर्वोदय अर्थव्यवस्था में प्रत्येक राज्य अपनी प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति में स्वावलम्बी होगा, किसी देश को अपनी निर्यात का माल दूसरों पर लादने की उत्सुकता न होगी, और, क्योंकि वह अपनी प्रमुख आवश्यकताओं के सम्बन्ध में स्वावलम्बी होगा, दूसरे देशों को वहां अपना माल भेजने और खपाने की गुंजाइश न होगी। इस प्रकार न तो हमें दूसरे बाजारों को हथियाने के लिए किसी से संघर्ष लेना होगा, और न दूसरों को हमारे यहां आकर व्यापारिक दाँव-पेंच करने और प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष का परिचय देने का अवसर रहेगा।

विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त—हम स्वाधीनता की कद्र करने वाले होंगे और किसी पर आक्रमण करने की हमारे मन में भावना ही न होगी। इसलिए बड़ी-बड़ी सेनाएँ और हिंसक सामग्री की भी हमें जरूरत न होगी। हमारे प्रेम और भाईचारे की नीति के कारण संसार के सब देशों की सहानुभूति हमारे साथ होगी, तथापि किसी राज्य के आकस्मिक आक्रमण के लिए हम दूसरों पर निर्भर न रह कर अपनी तैयारी रखेंगे। हां, वह तैयारी दूसरों को मारने की न होकर स्वयं मर-मिटने की होगी। हमारे अहिंसक सैनिक सत्याग्रह और असहयोग के बल पर, अपने विपक्षियों के हृदयों पर विजय प्राप्त करेंगे और उनको अपना मित्र बना लेंगे। अस्तु, आक्रमण हो, या आत्म-रक्षा—किसी भी दृष्टि से हमें हिंसक बल की आवश्यकता न होगी। स्वयं अहिंसक नीति के लिए अपनी तैयारी दिखाकर हम दूसरों के लिए इस विषय

का अच्छा उदाहरण उपस्थित कर सकेंगे। इस तरह विश्व-शान्ति और निरस्त्रीकरण का मार्ग प्रशस्त होगा। मनुष्य जाति युद्ध और विनाश की चिन्ता से मुक्त रहती हुई अपनी शक्ति और समय का उपयोग अपने विकास और उत्थान के लिए कर सकेगी।

ऊपर सर्वोदय अर्थशास्त्र की कुछ प्रमुख विशेषताओं का ही उल्लेख किया गया है, विचारशील पाठक अन्य विशेषताओं का विचार स्वयं कर लें। इन बातों को अमल में लाने के लिए हमें क्या करना चाहिए, इसका विचार अगले अध्याय में किया जायेगा।

बियालीसवां अध्याय

हमारा कर्तव्य

अगर कोई आदमी अपने स्वप्नों की दिशा में विश्वास के साथ आगे बढ़ता रहे और ऐसा जीवन व्यतीत करने की कोशिश करता रहे, जैसा कि उसने सोच रखा है, तो उसे वह सफलता मिलेगी, जिसकी मामूली समय में आशा नहीं की जा सकती।

—थोरो

आपने जन-स्वास्थ्य, यातायात (सड़क), सहकारिता आदि पर ध्यान दिया है। एक छोटे से गाँव में काम करते हुए आप सम्पूर्ण देश की ही नहीं, बल्कि समस्त मानवता की सेवा कर रहे हैं। इस तरह आपका काम सिर्फ एक गाँव तक सीमित नहीं रहेगा, वरन् इन्हीं प्रयत्नों से सम्पूर्ण विश्व में शान्ति लायी जा सकती है।

—जो. का. कुमारप्पा

सर्वोदय अर्थव्यवस्था के लिए हमें क्या करना चाहिए, इसका विचार करने से पहले हम यह जान लें कि हमें क्या नहीं करना चाहिए।

सरकार के भरोसे न रहें—इस प्रसंग में एक मुख्य बात यह है कि हमें यह न सोचना चाहिए कि सरकार इसे चलायेगी, या इसके सम्बन्ध में कानून बनायेगी; तभी यह व्यवस्था चलेगी। सरकारों से, खासकर जनतंत्री सरकारों से, किसी विशेष क्रान्तिकारी कदम की आशा नहीं की जानी चाहिए। वे तो जनता का रुख देख कर चलती हैं; जब कोई बात अधिकांश जनसमाज व्यवहार में लाने का इच्छुक होता है, या किसी बात को जनता के बड़े भाग का समर्थन मिलने की आशा होती है, तभी वे कोई बात हाथ में लेती हैं। कानून से उस बात को बल मिलता है और वह जनता में अधिक सुविधा-पूर्वक तथा तेजी से चल निकलने योग्य हो जाती है। पर इसमें पहले प्रायः समाज

को आगे बढ़ना होता है, तभी सरकारी सहायता कुछ काम आ सकती है। जनता की तैयारी बिना, सरकारी व्यवस्था की प्रायः दुर्दशा ही होती है। निदान, इस दिशा में पहले सरकार द्वारा कदम उठाये जाने की प्रतीक्षा करना बेकार है।

दूसरे आदमियों की प्रतीक्षा में भी न रहना चाहिए—इस प्रकार यह सोचना भी ठीक नहीं कि जब हमारे देश के अथवा दूसरे देशों के आदमी इस प्रकार का व्यवहार करने लगेंगे तो हम भी ऐसा करना आरम्भ कर देंगे। अगर संसार में सब आदमी यही सोचा करें तो समाज में किसी प्रकार की प्रगति होने का अवसर ही न आये। जो भी सामाजिक व्यवस्था बनी है, और जो भी सुधार हुआ है, वह पहले किसी एक ही व्यक्ति के ध्यान में आया था, पीछे जाकर धीरे-धीरे उसका प्रचार हुआ। अनेक दशाओं में ऐसा भी हुआ कि जिस महानुभाव ने पहले पहल किसी नयी बात का विचार और प्रचार किया, उसे पागल और शेखचिल्ली तक कहा गया, पर पीछे जाकर आदमी उस महापुरुष की महत्ता मानने लगे। अस्तु, किसी व्यक्ति को किसी शुभ विचार को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए दूसरों के सहयोग की प्रतीक्षा में न बैठ रहना चाहिए।

व्यक्ति आगे बढ़े, श्रद्धा; धैर्य और दृढ़ता की आवश्यकता — इस प्रकार जिन व्यक्तियों को सर्वोदय अर्थव्यवस्था हितकर प्रतीत हो, वे किसी साथी की राह न देख कर, इस ओर चल पड़ें। उन्हें अकेले ही रास्ता तय करना पड़े तो भी श्रद्धापूर्वक बढ़े चलें। वे विघ्न-बाधाओं से, अथवा निन्दा या उपहास आदि के कारण विचलित न हों; आशावादी रहते हुए, अपनी धुन में लगे रहें, यह निश्चय है कि उनकी बात क्रमशः अनेक आदमियों का ध्यान आकर्षित करेगी और उनके द्वारा अपनायी जायेगी। समय पाकर वह मानव समाज के अधिकाधिक भाग की अपनी चीज हो जायगी। यह बात कब होगी, इसमें कितने वर्ष या दशाब्दियां लगेंगी, इसकी चिन्ता करने की जरूरत नहीं। हमें तो अपने समय में अपना कर्तव्य पालन करना है; आज के दिन हम आज का कर्तव्य पूरा करें।

विचारवानों के लिए सर्वोदय व्यवस्था अब निरी कल्पना की वस्तु नहीं रही। रस्किन और टालस्टाय से प्रेरणा पाकर गांधीजी ने इस विषय का खूब

मनन किया। वह अपने जीवन भर इसे कार्यरूप में परिणत करते रहे। इस समय आचार्य विनोबा तथा अन्य सज्जन अपने-अपने क्षेत्र में इसका प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रकार के कुछ प्रयोगों का उल्लेख हमने पहले किया है, और जिज्ञासु पाठक देश में होने वाले अन्य प्रयोगों की जानकारी स्वयं प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार सर्वोदय भावना को अमल में लाने वालों को ऐसे मार्ग पर यात्रा करनी है, जिस पर कुछ महानुभाव चल चुके हैं, और कुछ इस समय चल रहे हैं। इनके पथ-प्रदर्शन से हम सहज ही लाभ उठा सकते हैं।

कुछ व्यावहारिक बातें—पिछले अध्यायों में उपयोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण और राजस्व सम्बन्धी विविध बातें बतायी गयी हैं। सम्भव है कि किसी पाठक का उन सभी बातों से सीधा सम्बन्ध न आये, तो भी ध्यान-पूर्वक विचार करने से प्रत्येक व्यक्ति को काफी बातें ऐसी मिलेंगी, जिनके सम्बन्ध में उसे अपना कर्तव्य निश्चित करना और पालन करना है। उदाहरण के लिए हरेक आदमी को अपने भरण-पोषण आदि के लिए विविध वस्तुओं का उपयोग करना होता है। हमें सोचना चाहिए कि सर्वोदय की दृष्टि से हमारा यह व्यवहार कहां तक ठीक है, और किन-किन बातों में क्या-क्या सुधार किया जाना आवश्यक है, हमारी आवश्यकताओं में कौन-कौनसी ऐसी है, जिसकी पूर्ति होना, वैयक्तिक तथा सामाजिक दृष्टि से उचित है; और कौनसी आवश्यकताएँ ऐसी हैं, जो हमने दूसरों की देखा-देखी, फैशन या शौकीनी के कारण, अथवा अज्ञान-वश बढ़ा रखी हैं। जो आवश्यकताएँ अहितकर तथा अनावश्यक है, उन पर कड़ा नियंत्रण होना चाहिए। फिर, विविध वस्तुओं का हम जो उपयोग करते हैं, उसकी विधि कहां तक उचित है, अर्थात् किन-किन दशाओं में हम सदुपयोग न कर, दुरुपयोग करते हैं, इसका निश्चय कर लेने पर भविष्य में हमारे द्वारा दुरुपयोग न हो ऐसा अभ्यास डालना चाहिए। आज दिन लोगों में प्रायः रहनसहन 'ऊँचा' करने की बड़ी सनक है, जो वास्तव में उसे जटिल बनाना है; हमें उसके बजाय अपना जीवन-स्तर ऊँचा करने की ओर ध्यान देना चाहिए। उपयोग सम्बन्धी इन तथा ऐसी अन्य बातों पर ब्योरेवार पहले लिखा जा चुका है। गम्भीरता-पूर्वक पढ़ने वाले को उसमें काफी विचार-सामग्री मिलेगी, जिससे वह अपना कर्तव्य निर्धारित करने में अच्छी सहायता ले सकेगा।

यह तो उपयोग सम्बन्धी बात हुई, इसी तरह उत्पादन, विनिमय, वितरण, तथा अर्थव्यवस्था और राज्य इन खंडों में स्थान-स्थान पर साधकों को सहायक सामग्री मिल समती है; यहाँ उदाहरणों की संख्या बढ़ाना जरूरी नहीं।

विचार-धारा के प्रचार की आवश्यकता—रचनात्मक कार्य का प्रभाव उपदेश या व्याख्यान आदि की अपेक्षा हमेशा ही अधिक पड़ता है, और वह अधिक स्थायी भी होता है, तथापि उसकी अपनी सीमाएं हैं। एक जगह होने वाली रचनात्मक कार्य को बहुधा पास के भी अनेक आदमी नहीं जान पाते; फिर, दूर रहने वालों की तो बात ही और है। इसलिए किसी भी अच्छी विचार-धारा के प्रचार की बहुत आवश्यकता हुआ करती है। यदि प्रचारक ऐसे व्यक्ति हों, जिन्होंने रचनात्मक कार्य किया है और वे प्रचार-कार्य में कुशल भी हों तो उनका असर अच्छा पड़ना स्वाभाविक ही है; यदि रचनात्मक कार्य नहीं किया है तो उस विचार-धारा से यथेष्ट विश्वास और श्रद्धा तो होनी ही चाहिए, और इस बात का परिचय उनके जीवन-व्यवहार से मिलना चाहिए। ये प्रचारक जगह-जगह घूम-फिर कर सर्वोदय का संदेश पहुँचायें और ऐसी निष्ठा, त्याग और लगन से प्रचार करें, जैसे किसी धर्म के प्रचारक किया करते हैं। उन्हें यात्रा करने में तथा अपरिचित स्थानों में ठहरने आदि में चाहे जिन बाधाओं का सामना करना पड़े, और जो भी कष्ट सहने हों, वे अपने कर्तव्य-कार्य से जरा भी विमुख न हों। अशिक्षित जनता में प्रचार इन्हीं के द्वारा हो सकता है, और होना चाहिए। प्रिय पाठक! क्या आप इस दिशा में अपना कर्तव्य पालन करेंगे? आप अध्यापक हों, या विद्यार्थी, लेखक, सम्पादक, कृषक, व्यापारी, वैद्य या डाक्टर—अपने-अपने क्षेत्र में आपको यथेष्ट कार्य करना है, यह निश्चय कीजिए।

विशेष वक्तव्य—सम्भव है कि कुछ पाठक यह सोचने लगें कि 'सर्वोदय अर्थात् सब की भलाई का काम तो बहुत बड़ा है। इसका सम्बन्ध तो समस्त मानव समाज से, संसार भर के सब देशों की जनता से है, हम तो अपने गांव या नगर में रहते हैं, वहाँ के भी सब आदमियों से हमें काम नहीं पड़ता; अपने जिले, प्रान्त और देश के तो उत्तरोत्तर कम व्यक्तियों से हमारा सम्बन्ध है, और

देश से बाहर के आदमियों से हमारा सम्पर्क प्रायः नहीं के बराबर है। हम संसार भर के हित के कार्य कैसे कर सकते हैं, जब हमारा सम्बन्ध ही अपेक्षाकृत बहुत थोड़े लोगों से है!'

यह शंका इतनी गूढ़ नहीं है; जितनी प्रतीत होती है। हमारी शक्ति या साधन कम है, इसकी चिन्ता में हम न पड़ें। यह कोई निराशा की बात न हो। हमारा दीपक भले ही छोटा सा हो, उसमें इतनी क्षमता तो है ही कि हम उससे अपने पड़ोसी का दीया जला सकें। यह क्रम चलने पर समाज में प्रकाश बढ़ता जायगा। विश्व का अन्धकार दूर करने में न-मालूम कितने दीयों को भाग लेना है। उनके विशाल समूह में एक दीया हमारा भी हो; प्रकाश के महान यज्ञ में एक विनम्र आहुति हमारी भी हो—इतना ही हमारे संतोष के लिए काफी है। अपनी शक्ति भर कर्तव्य पालन करना ही हमारी आकांक्षा हो।

सहायक साहित्य

सर्वोदय	गांधी जी
अहिंसक समाज की ओर	"
सर्वोदय यात्रा	विनोबा
जड़ मूल से क्रान्ति	किशोरलाल घ. मश्रूवाला
गांधी और साम्यवाद	" " "
सम्पत्ति दान यज्ञ	श्रीकृष्णदास जाजू
गांधी अर्थ विचार	जो. का. कुमारप्पा
मानव अर्थशास्त्र (गुजराती)	नरहरि परीख
नव भारत	रामकृष्ण शर्मा
विनोबा एंड हिज मिशन (अंग्रेजी)	सुरेश रामभाई
गांधी मार्ग	जी. भ. कृपलानी
सर्वोदय अर्थव्यवस्था	जवाहरलाल जैन
विजय पथ	रस्किन
सर्वोदय तत्व दर्शन	गोपीनाथ धावन
गांधीवाद की रूप-रेखा	रामनाथ सुमन
सर्वोदय का सिद्धान्त	नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद
जीवन दान	जयप्रकाश नारायण
ब्याज वट्टयाचा निषेध (मराठी)	अप्पा पटवर्द्धन
गांव का गोकुल	"
समाज रचना, सर्वोदय दृष्टि से	भगवानदास केला
राजव्यवस्था; सर्वोदय दृष्टि से	"
भूदान, श्रमदान, जीवनदान	"
भारतीय अर्थशास्त्र (सर्वोदय विचार सहित)	"

भूदान यज्ञ (काशी), ग्रामराज (जयपुर), साम्ययोग (नरसिंगापुर), जीवन साहित्य (नयी दिल्ली), नया हिन्द (प्रयाग); लोकवाणी (जयपुर), आदि पत्र-पत्रिकाएँ ।

सर्वोदय ग्रन्थमाला

१—सर्वोदय अर्थशास्त्र—इसके ४२ अध्यायों में से कुछ ये हैं—(१) सर्वोदय अर्थशास्त्र क्या है? (२) अर्थ किसे कहें (३) उपयोग का लक्ष्य, (४) ग्रामोद्योग, (५) विनिमय की उपयोगिता की सीमा, (६) वितरण की समस्या, (७) आर्थिक समानता, (८) हमारा कर्तव्य। श्री श्रीकृष्णदास जाजू ने इसकी भूमिका में लिखा है—'विद्यार्थियों के लिए यह किताब विशेष उपयोगी साबित होगी। अध्यापकों को सर्वोदय अर्थशास्त्र की विचारधारा से परिचित होना जरूरी है। आशा है वे भी इस पुस्तक से यथेष्ट लाभ उठायेंगे।' दूसरा संस्करण। मूल्य, चार रुपये

२—सर्वोदय अर्थव्यवस्था—ले०—श्री जवाहरलाल जैन। भूमिका-लेखक—श्री किशोरलाल मश्रूवाला। पूंजीवाद और साम्यवाद से सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था की श्रेष्ठताओं का सुन्दर विवेचन। कुछ अध्याय-(१) पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और उसके दोष, (२) साम्यवादी अर्थव्यवस्था की कमियाँ, (३) मानव का लक्ष्य और मार्ग : सत्य और अहिंसा, (४) जीवन की समग्र दृष्टि, (५) यंत्र केवल मानव के लिए, (६) व्यापार : एक समाज-सेवा। दूसरा संस्करण। मूल्य, डेढ़ रुपया।

३—हमारा अर्थशास्त्र कैसा हो?—कुछ विषय:—(१) वर्तमान अर्थ-शास्त्र कसौटी पर, (२) नैतिक अर्थशास्त्र की आवश्यकता (३) सर्वोदय अर्थशास्त्र ही क्यों? पृष्ठ संख्या ४२। मूल्य, चार आने।

४—सर्वोदय राज, क्यों और कैसे?—कुछ विषय—(१) राज-नैतिक बुजुर्गों और साथियों से, (२) स्वदेशी राज हुआ, स्वराज्य नहीं, (२) नयी दृष्टि की आवश्यकता, (४) रामराज्य का आदर्श, (५) मार्गदर्शन। तीसरा संस्करण। पृष्ठ संख्या ७१। मूल्य, दस आने

५—मानव संस्कृति—भूमिका-लेखक—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी। कुछ विषय :—(१) संस्कृति और भाषा, (२) मानव संस्कृति की एकता, (३)

मानव संस्कृति का विकास, (४) मानव संस्कृति और अलग-अलग संस्कृतियाँ।
पृष्ठ संख्या २७२+२२। मूल्य, ढाई रुपया।

६—समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय—दूसरा संस्करण। 'लेखक ने पुस्तक में समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदय का तुलनात्मक विवेचन उपस्थित किया है। साम्यवाद और समाजवाद में क्या मौलिक अन्तर है एवं वे दोनों गांधीजी के सर्वोदयवाद से किस प्रकार भिन्न हैं, यह भी इस पुस्तक में स्पष्टतः दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था एवं अफलातून के सामाजिक विचारों पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार व्यक्त किये हैं। श्री केलाजी की पुस्तक मार्ग-दर्शक का कार्य कर सकेगी।'
पृष्ठ संख्या १०३। मूल्य, बारह आने

७—मेरा जीवन, सर्वोदय की ओर—दूसरा संस्करण। 'पुस्तक में श्री केलाजी ने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वह सर्वोदय के प्रति किस प्रकार आकर्षित हुए तथा उन्होंने निरन्तर विकास कर किस प्रकार स्वजीवन को सर्वोदय की सेवा में अर्पित कर दिया। पुस्तक छोटी किन्तु सर्वोदय के साधकों के लिए विशेष उपयोगी प्रतीत होती है।' मूल्य, पाँच आने

८—सर्वोदय, दैनिक जीवन में—कुछ विषय—(१) सर्वोदय की बात, (२) खानपान और सर्वोदय, (३) पहनावा और सर्वोदय (४) खेती और सर्वोदय, (५) उद्योग धन्धे और सर्वोदय, (६) व्यापार और सर्वोदय।
पृष्ठ संख्या ४२ मूल्य, छह आने

९—राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से—'श्री केलाजी ने गांधी जी, विनोबा तथा अन्य सर्वोदयवादियों के विचार को संग्रह कर उन्हें राजनीतिशास्त्र का एक मूर्त रूप दिया है। इस प्रकार यह पुस्तक विचारों को जाग्रत करती है,

'इस पुस्तक में राजनीति के स्थान पर लोकनीति, बहुजनहिताय के स्थान पर सर्वजन हिताय नीति, दण्ड-व्यवस्था युक्त शासन प्रणाली के स्थान पर दण्ड तथा शासन निरपेक्ष समाज, और दलगत राजनीति के बजाय पक्षातीत तथा सेवा-परायण लोकनीति की व्याख्या की गयी है। इस प्रकार, संक्षेप में इस पुस्तक में केलाजी ने भारत की परम्परागत आध्यात्मिक परम्परा एवं विचारधारा

के आधार पर नये युग के अनुसार 'शोषणहीन समरस समाज' की स्थापना का विवेचन किया है।"

पृष्ठ संख्या १६०+१६ मूल्य, डेढ़ रुपया

१०—आर्थिक क्रान्ति के आवश्यक कदम—'श्री जवाहिरलाल जैन सर्वोदय अर्थव्यवस्था पर कई पुस्तकें लिख चुके हैं। इस पुस्तक में उन्होंने सर्वोदयी आन्दोलन द्वारा निश्चित उन मुख्य मुख्य कार्यक्रमों पर प्रकाश डाला है जिनके बिना आर्थिक क्रांति सम्भव नहीं है। सर्वोदयी विचारधारा का सार इस प्रकार इस छोटी सी साफ सुथरी पुस्तिका में आ गया है।'

पृष्ठ संख्या ५६। मूल्य, सात आने

११—प्राकृतिक चिकित्सा ही क्यों ?—'केलाजी ने इस पुस्तक में प्राकृतिक चिकित्सा के कुछ अनुभव तथा सिद्धान्त लिखे हैं; जिनसे अन्य व्यक्तियों में भी प्राकृतिक चिकित्सा का प्रचार हो। पुस्तक में मुख्यतः गांधीनगर प्राकृतिक चिकित्सालय के अध्यक्ष डा० किशनलाल की कहानी है जो कि महान रोगी से महान चिकित्सक बन गये। पुस्तक मनोरंजक व उपयोगी है।'

पृष्ठ संख्या ८६ मूल्य, पाँच आने

१२—मेरी सर्वोदय यात्रा—'प्रस्तुत पुस्तक में केला जी ने सर्वोदय विचारधारा के प्रचार-प्रसार के लिए किये गये अपने देशव्यापी प्रवास के अनुभव को लिपिबद्ध किया है। सर्वोदय की कसौटी पर यत्र-तत्र हमारे नागरिक जीवन, अर्थशास्त्र, शिक्षा तथा साहित्य आदि अनेक विषयों की आलोचना मिलती है। उदाहरणार्थ भारत की राजधानी दिल्ली की तड़क-भड़क को देखकर लिखा है—"यह राजधानी दिल्ली मुझे ग़रीब भारत की राजधानी नहीं जान पड़ती। हजारों गाँवों को नष्ट करके बनाई गई यह महानगरी आत्माहीन है, वास्तविकता का नाम नहीं। यहाँ मानवता का लोप हो रहा है। क्या यहाँ उन लोगों के प्रतिनिधि हैं जो झोपड़ों में रहते हैं। आदि।"

पृष्ठ संख्या ८४। मूल्य, सात आने

१३—समाज-रचना, सर्वोदय दृष्टि से—इनमें चार खंड हैं—

(१) सर्वोदय दृष्टि (२) समाज-रचना की पद्धति (३) व्यक्ति का विकास, और (४) परिवार, गाँव और संसार। गांधी, विनोबा आदि महापुरुषों और विद्वानों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए लेखक एक कवि के शब्दों में कहता है—

'गीत तुम्हारे, राग तुम्हारा, लिखने का बरदान मुझे है।

पुण्य बनी अनजान साधना,
ज्योतिर्मय हो गयी कामना,

दीप तुम्हारे, स्नेह तुम्हारा, जलने का बरदान मुझे है।'

पृष्ठ संख्या १६२ मूल्य, डेढ़ रुपया

१४—भूदान, श्रमदान, जीवनदान—कुछ विषय (१) ग्रहण लगा है, दान दो (२) भूदान यज्ञ, (३) सम्पत्ति दान यज्ञ, (४) श्रमदान यज्ञ, (५) बुद्धि-दान यज्ञ, (६) जीवन-दान, (७) सेवक की प्रार्थना! पृष्ठ संख्या १०४।

मूल्य, एक रुपया

१५—सर्वोदय अर्थशास्त्र की मूल बातें—(१) अर्थशास्त्र और सर्वोदय, (२) सर्वोदय अर्थशास्त्र और धन, (३) जनता, (४) उपयोग, (५) उत्पत्ति, (६) विनिमय, और (७) वितरण। मूल्य, एक रुपया चार आने

१६—अर्थनीति, सर्वोदय दृष्टि से—कुछ विषय—(१) सच्चा धन अच्छा आदमी ही है, (२) उपयोग हो, उपभोग नहीं, (३) सादा जीवन उच्च विचार, (४) उत्पादन उपयोग के लिए, पैसे के लिए नहीं, (५) भूमि किसकी? जो जोते उसकी, (६) भार जनसंख्या का नहीं, दुर्गुणों का, (७) बुद्धि लोकसेवा के लिए, (८) सम्पत्ति, समाज की, (९) व्यापार: एक सेवा-कार्य, (१०) मजदूरी में सामाजिक न्याय, (११) मुनाफा नहीं मेहनताना।

मूल्य, एक रुपया

भगवानदास केला, ९० हिवेट रोड, इलाहाबाद।

सर्वोदय ग्रन्थमाला—संख्या १

सर्वोदय अर्थशास्त्र

[सर्वोदय दृष्टि से अर्थशास्त्र की रूपरेखा]

लेखक
'समाज रचना, सर्वोदय दृष्टि से', 'मानव संस्कृति'
'राजव्यवस्था, सर्वोदय दृष्टि से' आदि के रचयिता
भगवानदास केला

भूमिका-लेखक
श्री श्रीकृष्णदास जाजू

भारतीय ग्रन्थमाला
६० हीवेट रोड, इलाहाबाद

दूसरा संस्करण] सन् १९५६ ई० [मूल्य, चार रुपये